VISIONIAS

www.visionias.in

भारतीय संविधान एवं शासन

भाग-2

क्रम संख्या	अध्याय	पृष्ठ संख्या

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

विषय सूची

"नीति निदेशक तत्व भारतीय संविधान की विशिष्ट विशेषताएँ हैं, इनमें एक कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य निहित है।" ***डॉ. बी. आर. अम्बेडकर***

"नीति निदेशक तत्व राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत स्तर का निर्माण करते हैं।" ***एम. वी. पायली***

"नीति निदेशक तत्व संविधान सभा के उद्देश्यों और आकांक्षाओं के घोषणा-पत्र हैं।" ***के. सी. व्हेयर***

1. राज्य की नीति के निदेशक तत्व (DPSP): एक परिचय

- संविधान के **भाग IV (अनुच्छेद 36-51)** में राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों को प्रतिष्ठापित किया गया है। इन निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य देश में सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना है। यद्यपि निदेशक तत्त्वों की प्रकृति **गैर-न्यायोचित** है, तथापि ये देश की शासन व्यवस्था के मौलिक सिद्धांत हैं। ये सिद्धांत देश के प्रशासकों के लिए एक आचार संहिता का कार्य करते हैं। निदेशक तत्त्वों, राज्य की नीति-निर्माण में सहायता हेतु संघीय एवं राज्य, दोनों सरकारों के लिए दिशा-निर्देशक एवं मार्गदर्शक सिद्धांत हैं। यह सरकार का उत्तरदायित्व है कि वह विधि निर्माण के समय इन सिद्धांतों को दृष्टिगत रखे।
- राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व, भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना का सर्वप्रमुख आधार हैं। एक **कल्याणकारी राज्य** की स्थापना का उद्देश्य रखने वाली नीतियों द्वारा सामाजिक-आर्थिक आधारों को सुदृढ किये बिना राजनीतिक लोकतंत्र की प्राप्ति असंभव है।
- कल्याणकारी राज्य, शासन की वह संकल्पना है जिसमें राज्य नागरिकों, विशेषत: कमजोर, वंचित एवं अतिसंवेदनशील वर्गों के कल्याण का उत्तरदायित्व प्राथमिक रूप से ग्रहण करता है।
- राज्य के द्वारा सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को कम करने तथा सतत एवं समावेशी विकास सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक कल्याण सुनिश्चित किये जाने के पश्चात् ही व्यक्तिगत अधिकारों का अर्थपूर्ण ढंग से उपभोग किया जा सकता है। संविधान की प्रस्तावना में जिन आदर्शों की प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है, ये उन आदर्शों की प्राप्ति हेतु मार्ग-प्रशस्त करते हैं।
- अनेक महत्वपूर्ण अधिकारों जैसे - आजीविका का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा आदि को मूल अधिकारों के रूप में सम्मिलित नहीं किया गया है। इन अधिकारों को निदेशक तत्त्वों के रूप में स्थान दिया गया है जिससे समतापूर्ण समाज की स्थापना की जा सके।

2. नीति-निदेशक तत्त्वों का ऐतिहासिक विकास

- वर्ष 1944 में सर्वदलीय सम्मलेन के उपरांत गठित **सप्रू समिति** ने वर्ष 1945 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। संविधान सभा ने भारतीय संविधान में मूल अधिकारों एवं अन्य अधिकारों की व्यवस्था करने हेतु इस समिति द्वारा की गयी अनुशंसाओं को स्वीकार किया।
- इस समिति ने **न्यायोचित** एवं **गैर-न्यायोचित** अधिकारों के दो वर्गों का सुझाव दिया। भारतीय संविधान में मूल अधिकार एवं अन्य अधिकार, न्यायोचित अधिकार के रूप में सम्मिलित किये गए हैं। जबकि संविधान के भाग IV में राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के रूप में गैर-न्यायोचित अधिकारों का उल्लेख किया गया है।
- ये निदेशक तत्त्व मुख्य रूप से सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए उचित नीति-निर्माण हेतु सरकार के लिए **'अनुदेश प्रपत्र'** की प्रकृति के होते हैं।

3. नीति-निदेशक सिद्धान्तों के प्रेरक तत्व

भारतीय संविधान में वर्णित नीति-निदेशक तत्त्व, विभिन्न कारकों द्वारा प्रभावित हैं, जिनमें निम्नलिखित शामिल हैं:

- निदेशक तत्त्वों की संकल्पना (Idea) आयरलैंड के संविधान से ग्रहण की गई थी।
- भारत शासन अधिनियम, 1935 में **'अनुदेशों का दस्तावेज़'** (Instrument of Instructions) सम्मिलित था। निदेशक तत्त्व, भारत शासन अधिनियम, 1935 में उल्लेखित उन्हीं अनुदेशों के समान हैं।
- भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को प्रभावित करने वाले पश्चिमी उदार लोकतांत्रिक विचारों को भारतीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित कर सम्मिलित किया गया। इन्हें कल्याणकारी राज्य की लोक नीतियों के लिए नैतिक दिशा-निर्देशों के रूप में भारतीय संविधान में अंगीकृत किया गया है।
- समकालीन समाजवादी विचारों ने भी संविधान निर्माताओं को प्रभावित किया। उदाहरणार्थ, कुछ निदेशक तत्त्व श्रमिक कल्याण से संबंधित हैं।
- संविधान सभा, महात्मा गांधी के दार्शनिक विचारों से भी प्रभावित थी। उदाहरणार्थ: पंचायत, ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन प्रदान करने आदि से संबंधित निदेशक तत्त्वों को भाग IV में समावेश किया गया।

4. नीति निदेशक तत्त्वों की विशेषताएं

- **नीति-निर्माण हेतु निर्देश:** ये संघीय एवं राज्य स्तरीय सरकारों के लिए सार्वजनिक नीति-निर्माण में इन तत्त्वों को यथासंभव लागू करने हेतु निर्देश हैं।
- **राजनीतिक बहुमत को नियंत्रित एवं संतुलित करना:** डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार, निदेशक तत्त्व सत्ता में आने वाले किसी भी दल के लिए सीमा निर्धारित करते हैं। ये राजनीतिक बहुमत द्वारा भविष्य के भारतीय राज्य से संबंधित संविधान सभा की परिकल्पना एवं मूल्यों का उल्लंघन करने हेतु किए गए प्रयासों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं।
- **गैर-प्रवर्तनीय (Non-enforceable) प्रकृति:** अनुच्छेद 37 के अनुसार नीति निदेशक तत्त्व, न्यायालय में स्वत: प्रवर्तनीय नहीं होते हैं। ये तब ही लागू होते हैं, जब कोई कानून कुछ निदेशक तत्त्वों को प्रभावी बनाने हेतु निर्मित किया जाता है, जैसे- आजीविका के अधिकार हेतु मनरेगा को प्रस्तावित किया जाना। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, इन्हें मात्र **नैतिक आदेश** नहीं माना जा सकता है। यद्यपि इनके क्रियान्वित हेतु कानूनी शक्ति विद्यमान नहीं है, परन्तु इनकी पृष्ठभूमि में राजनीतिक शक्ति अर्थात् जनमत निहित है। अत: कोई भी सरकार इनकी अवेलहना नहीं कर सकती है।
- **उद्देशिका का विस्तार:** नीति निदेशक तत्त्व, उद्देशिका में निहित मूल्यों का विस्तार हैं। उदाहरणार्थ:
  - ये प्रस्तावना में निहित "समाजवादी लोकतंत्र" की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा जोड़े गए "समाजवादी" शब्द को अनुच्छेद 38 एवं 39 द्वारा अर्थपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।
  - अनुच्छेद 40 में वर्णित स्थानीय स्वशासन के सन्दर्भ में 73वें एवं 74वें संविधान संशोधनों द्वारा "लोकतंत्र" शब्द को अधिक सार्थक एवं समावेशी रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया है।

5. मूल अधिकारों एवं नीति-निदेशक तत्त्वों के मध्य संबंध: प्रमुख वाद

मूल अधिकारों का उद्देश्य व्यक्तियों को उनके विकास हेतु आवश्यक एवं अनुचित नियंत्रण से मुक्त होने के लिए उचित अवसर प्रदान करना है। एक कल्याणकारी समाज के लिए नीति-निदेशक तत्त्व आवश्यक हैं।

- मूल अधिकारों एवं नीति-निदेशक तत्त्वों के मध्य टकराव, संविधान के आरम्भ से ही स्पष्टत: विद्यमान है। प्रारंभ में, मूल अधिकार एवं नीति-निदेशक तत्त्वों की तुलनात्मक स्थिति स्पष्ट नहीं थी। यह माना जाता था कि इनकी प्रकृति विरोधाभासी हैं। सर्वप्रथम 1952 में चम्पाकम

दोराइराजन वाद में इस विषय पर चर्चा हुई। संविधान के प्रारंभ के बाद से, न्यायिक घोषणाओं एवं संवैधानिक संशोधनों की एक श्रृंखला ने दोनों के मध्य संतुलन को परिवर्तित किया।

- **मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराइराजन वाद (1951)** में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्य के निदेशक सिद्धांतों को स्पष्टत: अनुच्छेद 37 के अनुसार न्यायोचित नहीं बनाया गया है। साथ ही, उच्चतम न्यायालय ने आदेश दिया कि संविधान में मूल अधिकार से संबंधित अध्याय **अनुल्लंघनीय** (Sacrosanct) है तथा इसे कार्यपालिका अथवा विधायिका के किसी कृत्य या आदेश द्वारा भाग III में निर्धारित किसी सीमाओं के अतिरिक्त सीमित नहीं किया जा सकता। राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को इसके अनुरूप ही होना चाहिए। निदेशक तत्वों को मूल अधिकार के अध्याय के अनुरूप और उनके सहायक के रूप में कार्य करना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि मूल अधिकारों एवं निदेशक तत्वों के मध्य किसी भी तरह के टकराव की स्थिति में मूल अधिकार **प्रभावी** होंगे।

- **गोलकनाथ वाद (1967)** में उच्चतम न्यायालय ने मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों की तुलना में वरीयता देते हुए कहा कि संसद को मूल अधिकारों को संशोधित करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए मूल अधिकारों में संशोधन नहीं किया जा सकता। गोलकनाथ वाद में भावी प्रत्यादेश (Prospective Overruling) के सिद्धांत को लागू किया गया, जिसके तहत उच्चतम न्यायालय अपने स्वयं के निर्णय में सुधार कर सकता है।
- गोलकनाथ वाद में दिए गए निर्णय को निष्प्रभावी बनाने के लिए 1971 में **25वां संशोधन अधिनियम** पारित किया गया था। इसके द्वारा मूल अधिकारों के अंतर्गत अनुच्छेद 31(c) जोड़ा गया जिसके अनुसार अनुच्छेद 39(b) एवं 39(c) को लागू कराने वाली विधि को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है कि वह अनुच्छेद 14 और 19 में निर्दिष्ट मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है।
- **केशवानंद भारती वाद (1973)** में उच्चतम न्यायालय ने **'मूल ढांचे'** का सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसके तहत संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। किन्तु, संसद द्वारा मूल अधिकारों में ऐसा कोई संशोधन विधिमान्य नहीं होगा जो संविधान के 'मूल ढांचे' को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है।
- **42वां संशोधन अधिनियम,1976** द्वारा नीति निदेशक तत्वों की सर्वोच्चता एवं प्राथमिकता को मूल अधिकारों पर प्रभावी बनाया गया। इसके तहत अनुच्छेद 31(c) का और अधिक विस्तार करते हुए इसके दायरे में अनुच्छेद 39(b) एवं 39(c) के स्थान पर भाग IV में वर्णित सभी निदेशक तत्वों को सम्मिलित कर लिया गया।
- **मिनर्वा मिल्स वाद (1980)** में उच्चतम न्यायालय के द्वारा संविधान में संशोधन करने की संसद की शक्तियों को मूल ढांचे के सिद्धांत द्वारा सीमित कर दी गयी हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय भी दिया कि संविधान का अस्तित्व, भाग III एवं भाग IV के मध्य संतुलन में निहित है। इन्हें एक दूसरे पर थोपने से संविधान की मूल भावना प्रभावित होती है।
- **उन्नीकृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश वाद (1993)** में भी उच्चतम न्यायालय द्वारा यह स्पष्ट किया गया की भाग III और भाग IV परस्पर पूरक है। साथ ही, मूल अधिकार भाग IV में निहित नीति निदेशक तत्वों के लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन है।
- इस प्रकार, मूल अधिकारों एवं नीति निदेशक तत्वों की एक-दूसरे के सन्दर्भ में अंतिम स्थिति निम्नलिखित है:
  - मूल अधिकार और निदेशक तत्त्व एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं।
  - दोनों एक साथ मिलकर भारत में समावेशी लोकतंत्र हेतु आधार प्रदान करते हैं।
  - यद्यपि तुलनात्मक रूप से मूल अधिकारों की कानूनी स्थिति अधिक बेहतर है, परन्तु यह नीति निदेशक तत्त्वों के महत्व को कमजोर नहीं करता है।

- निश्चित समयावधि के दौरान 'उदार व्याख्या' के सिद्धांत के प्रयोग से उच्चतम न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 21 के तहत् कई निदेशक तत्वों को सम्मिलित किया गया।
- निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाने वाले किसी विशेष कानून (जो मूल अधिकारों में कटौती करता है) की वैधता की जांच करने के लिए उच्चतम न्यायालय द्वारा निम्नलिखित सिद्धांत लागू किये जाते हैं:
    - मूल ढांचे का सिद्धांत, और
    - अधिकारों का स्वर्णिम त्रिभुज (The Golden Triangle of rights) - अनुच्छेद 14, 19 एवं 21
- उच्चतम न्यायालय ने **सामंजस्यपूर्ण संरचना (Harmonious Construction)** के सिद्धांत को स्पष्ट किया है। इस सिद्धांत का गहन अर्थ है कि भारत के संविधान में उल्लिखित मूल अधिकार एवं नीति निदेशक तत्त्व वास्तव में एक ही व्यवस्था के अंग हैं तथा इन दोनों का लक्ष्य भी एक ही है: व्यक्तित्व का विकास तथा लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना।
- साथ ही मिनर्वा मिल्स प्रकरण में उच्चतम न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश चंद्र चूड़ ने कहा कि भारतीय संविधान, अपने भाग III और भाग IV के दृढ़ता पूर्वक संतुलन पर आधारित है। इसमें किसी एक को प्रधानता प्रदान करने का अर्थ होगा संविधान की समरसता को बाधित करना। मूल अधिकारों और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के मध्य जो समरसता एवं संतुलन विद्यमान है, वह संविधान की मूल ढांचें का एक परमावश्यक तत्व है।

6. नीति निदेशक तत्त्वों का वर्गीकरण और विवरण

हालांकि, संविधान में इनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। किन्तु, इनमें निहित विषय-वस्तु के आधार पर, पारंपरिक रूप से निदेशक तत्वों को निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

निहित विषय-वस्तु एवं आधार	कुछ उदाहरण
समाजवादी (Socialistic) ये सिद्धांत समाजवादी विचारधारा को प्रतिबिंबित करते हैं। ये लोकतांत्रिक समाजवादी राज्य के ढांचे को स्थापित करते हैं। इनका उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्रदान करने के साथ ही कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करना है।	• राज्य आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा **[अनुच्छेद-38(2)]** • काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध **(अनुच्छेद-42)** • कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी इत्यादि **(अनुच्छेद-43)**
गांधीवादी (Gandhian) ये सिद्धांत गांधीवादी विचारधारा पर आधारित हैं। ये राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गांधी द्वारा प्रदत्त संकल्पनाओं एवं सिद्धांतों का प्रतिनिधित्व करते हैं। गांधीजी के सपनों को साकार करने के लिए, उनके कुछ विचारों को नीति निदेशक तत्वों के रूप में सम्मिलित किया गया है।	• ग्राम पंचायतों का संगठन **(अनुच्छेद-40)** • मादक पेयों एवं स्वास्थ्य के लिए हानिकर औषधियों के उपभोग का प्रतिषेध **(अनुच्छेद-47)** • गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू एवं वाहक पशुओं की नस्लों के परिरक्षण एवं उनके वध का प्रतिषेध **(अनुच्छेद-48)**
उदार-बौद्धिक (Liberal-intellectual) इस श्रेणी में उन सिद्धांतों को सम्मिलित किया गया है जो उदारवाद की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।	• समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता **[अनुच्छेद-39(a)]** • कुछ दशाओं में काम, शिक्षा एवं लोक सहायता पाने का अधिकार **(अनुच्छेद-41)** • उद्योगों के प्रबंध में कामगारों का भाग लेना **[अनुच्छेद-43(a)]**

	• बालकों को नि:शुल्क शिक्षा पाने का अधिकार **(अनुच्छेद-45)** • राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थानों और वस्तुओं का संरक्षण **(अनुच्छेद-49)** • कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण **(अनुच्छेद-50)**

नोट : उपर्युक्त तालिका में संबंधित श्रेणियों के समक्ष उल्लिखित नीति निदेशक तत्त्वों केवल कुछ उदाहरण हैं, इनके अतिरिक्त संबंधित श्रेणियों में अन्य अनुच्छेद भी सम्मिलित किए जा सकते हैं।

6.1. अनुच्छेद 36 : परिभाषा

इस भाग में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, "राज्य" का वही अर्थ है जो भाग III में है।

6.2. अनुच्छेद 37 : इस भाग में अंतर्विष्ट तत्त्वों का लागू होना

इस भाग में अंतर्विष्ट उपबंध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे, किन्तु फिर भी इनमें अधिकथित तत्त्वों देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना, राज्य का कर्तव्य होगा।

विवरण

अनुच्छेद 37 के अनुसार निदेशक तत्त्व, गैर-न्यायोचित प्रकृति के होंगे। हालांकि, लोक नीति की प्रकृति और दिशा के संबंध में राज्य को निर्देश देने में निदेशक तत्त्व अत्यधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन, निदेशक तत्त्वों के उल्लंघन को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है।

6.3. अनुच्छेद 38 (समाजवादी) : राज्य, लोक कल्याण की अभिवृद्धि हेतु सामाजिक व्यवस्था बनाएगा

(1) राज्य, ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक,आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करे, भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा।

(2) राज्य, विशिष्टतया, आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा, तथा न केवल व्यष्टियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले या विभिन्न व्यवसायों में संलग्न लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता को समाप्त करने का प्रयास करेगा।

विवरण

अनुच्छेद 38, समाजवादी विचारधारा से संबंधित सिद्धांत है। यह देश में लोगों के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों के मध्य विद्यमान असमानता को कम करने का प्रयास करता है। यह राज्य के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक न्याय जैसे लक्ष्यों को भी दर्शाता है। यह अनुच्छेद जाति व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में पारंपरिक रूप से विद्यमान प्रस्थिति के अंतर को समाप्त करने का प्रयास करता है। साथ ही, यह राज्य को अनिवार्य रूप से शिक्षा के अवसर में समानता के साथ ही रोजगार सुनिश्चत करने हेतु प्रयास करने के लिए भी दिशा निर्देशित करता है।

6.4. अनुच्छेद 39 (समाजवादी) : राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ निदेशक तत्त्व

राज्य, अपनी नीति का, विशिष्टतया , इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से:

(a) *पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो;*

(b) *समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार विभाजित हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो;*

(c) *आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार संचालित हो जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संकेन्द्रण न हो;*

(d) *पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो;*

(e) *पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में संलग्न न होना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो;*

(f) *बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएं प्रदान की जाएं और बालकों एवं अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक एवं आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।*

विवरण एवं क्रियान्वयन

अनुच्छेद 39 भी समाजवादी विचारधारा से संबंधित निदेशक तत्त्व शामिल हैं। यह राज्य को उसकी नीतियों के निर्माण हेतु विशिष्ट दिशा-निर्देश प्रदान करता है। इसके द्वारा अनुच्छेद 31(C) को व्यापक अर्थ प्रदान किया गया है। इसके अंतर्गत निम्न प्रावधान किए गए हैं:

- राज्य द्वारा समान कार्य के लिए पुरुषों और स्त्रियों के बीच उनके वेतन के विषय में समानता सुनिश्चित करना आवश्यक है।
- बच्चों को सभी प्रकार के शोषण से मुक्त रखते हुए उनके सर्वांगीण विकास हेतु उपबंध एवं प्रबंध करने हेतु राज्य को निर्देशित किया गया है।
- संसाधनों का उपयोग लोक हित में होना चाहिए और अनावश्यक रूप से किसी निजी नागरिक के लाभ हेतु नहीं होना चाहिए।
- प्रथम संविधान संशोधन, भूमि सुधारों को लागू करने हेतु किया गया था। इस हेतु बाद में चौथा, 17वां, 25वां, 42वां और 44वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किये गए।
- महिला सशक्तीकरण एवं उनके रोजगार संबंधी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने हाल ही में 'महिलाओं के लिए प्रशिक्षण एवं रोजगार कार्यक्रम हेतु सहायता (STEP)' को प्रारंभ किया है।
- निर्धन महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक उत्थान एवं उन्हें 'सूक्ष्म वित्तीय सेवाएँ' (Micro Finance Services) प्रदान करने के लिए 'राष्ट्रीय महिला कोष' प्रारंभ किया गया है।
- कुछ लोगों तक ही धन का संकेंद्रण न हो एवं इसका लाभ समाज के सभी वर्गो तक पहुंचे इसके लिए सरकार ने 'कॉरपोरेट सोशल रिस्पॉंसिबिलिटी (CSR)' को लागू किया हैं।

6.5. अनुच्छेद 39(a) (समाजवादी) : समान न्याय और नि:शुल्क विधिक सहायता

राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार कार्य करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो तथा वह, विशिष्ट्या, यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या योजना द्वारा या किसी अन्य रीति से नि:शुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- अनुच्छेद 39(a) भी समाजवादी विचारधारा से संबंधित सिद्धांत है। यह अनुच्छेद राज्य को यह सुनिश्चित करने का निर्देश देता है कि देश की न्यायिक प्रणाली सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध हो। राज्य को इस हेतु 'नि:शुल्क विधिक सहायता' प्रदान करनी चाहिए। उल्लेखनीय है कि केन्द्र सरकार द्वारा उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 पारित किया गया।
- यह अनुच्छेद संविधान में 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया।

इस अनुच्छेद के तहत परिकल्पित नीति-निदेशक तत्त्वों की प्राप्ति हेतु अप्रैल, 2017 में सरकार ने तीन विधि सेवा संबंधी पहलों की शुरुआत की:

- **प्रो-बोनो लीगल सर्विसेज (Pro bono legal Service)** यह एक वेब आधारित प्लेटफॉर्म है जो वकीलों को स्वैच्छिक रूप से इस माध्यम के साथ जोड़कर वंचित वर्गों को निःशुल्क विधिक सहायता प्रदान करने का उपबंध करता है।
- **टेली लॉ सर्विसेज (Tele law Services)** सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में निवास करने वाले निर्धन और कमजोर लोगों को सुगम एवं निःशुल्क कानूनी सहायता प्रदान कराने के लिए 'टेली लॉ सर्विसेज' की शुरुआत की गई। इस योजना में सामान्य सेवा केंद्र (CSC) से वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से जरूरतमंदों को वकीलों द्वारा निःशुल्क कानूनी सहायता प्रदान की जाएगी।
- **न्यायमित्र:** इसका उद्देश्य लंबित वादों का शीघ्रता से निपटान करना है।

6.6. अनुच्छेद 40 (गांधीवादी): ग्राम पंचायतों का संगठन

राज्य, ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियां एवं प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- यह एक गांधीवादी निदेशक तत्त्व है। यह राज्य को स्वशासन की संस्थाओं के रूप में स्थानीय निकायों की स्थापना करने का निर्देश देता है। साथ ही, राज्य को यह निर्देश भी देता है कि इन स्थानीय निकायों को स्वावलंबी बनाने के लिए पर्याप्त शक्तियां प्रदान की जानी चाहिए।
- उल्लेखनीय है कि भारत सरकार द्वारा 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन अधिनियम पारित किये गए, जो सरकार के तृतीय स्तर के रूप में स्थानीय निकायों की स्थापना की व्यवस्था करते हैं।
- सरकार द्वारा स्वशासी संस्थाओं के सुदृढ़ीकरण और प्रशासनिक व्यवस्था में इनकी पर्याप्त भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये गये है :
    - **राष्ट्रीय ग्राम स्वराज योजना;** इसके माध्यम से ग्राम-सभाओं को सशक्त करके एवं स्थानीय निकायों को और अधिक शक्तियों का हस्तानांतरण करके इन्हे सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया है।
    - **म्युनिसिपल बॉण्ड:** इसके द्वारा शासन की इन इकाइयों को स्वायत्ता और वित्तीय रूप से स्वतंत्रता प्रदान करने में सहायता मिलेगी।

6.7. अनुच्छेद 41 (समाजवादी) : कुछ दशाओं में कार्य, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार

राज्य, अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर, कार्य पाने, शिक्षा पाने और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और निःशक्तता तथा अन्य अनर्ह (Undeserved) अभावों की दशाओं में लोक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का प्रभावी उपबंध करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- यह एक समाजवादी निदेशक तत्त्व है। राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्यता एवं उपलब्ध संसाधनों के अंतर्गत विभिन्न कल्याणकारी कार्यक्रमों को आरम्भ करेगा, विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो स्वयं के लिए प्रबंध करने में असमर्थ होते हैं जैसे: वृद्ध एवं निःशक्तजन आदि। राज्य द्वारा ऐसे व्यक्तियों के लिए राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। इसके तहत उन्हें मासिक पेंशन प्रदान की जा रही है।
- **कार्य करने के अधिकार** को मनरेगा के तहत एक **विधिक अधिकार** के रूप में स्थापित कर दिया गया है तथा यह आंशिक रूप से इस निदेशक तत्त्व को कार्यान्वित करता है।

- इस अनुच्छेद में निदेशित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार ने अटल पेंशन योजना, वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना आदि के माध्यम से वृद्धों की आय की सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयास किया है।
- राष्ट्रीय वयोश्री योजना के माध्यम से वृद्ध व्यक्तियों से संबंधी आवश्यक सहायक उपकरणों को उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है।
- इस अनुच्छेद में निःशक्त एवं दिव्यांगजनों से संबंधी लक्ष्यों की प्राप्ति, उनके सशक्तिकरण, उनके लिए अनुकूल स्थानों के निर्माण एवं उनके आवागमन को आसान बनाने हेतु **'सुगम्य भारत'** कार्यक्रम प्रारंभ किया गया है।

6.8. अनुच्छेद 42 (समाजवादी) : कार्य की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध

राज्य, कार्य की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने और प्रसूति सहायता के लिए उपबंध करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- इसमें राज्य को निर्देश दिया गया हैं की वह कार्य की न्याय-संगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करेगा। साथ ही, प्रसूति सहायता की व्यवस्था करेगा।
- न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (1948), बाल श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम (1986) आदि को श्रमिक वर्गों के हितों के संरक्षण के लिए लागू किया गया हैं।
- सरकार द्वारा प्रसूति सहायता संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हाल ही में मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम, 2017 लागू किया गया है। इसके अंतर्गत महिलाओं को सवेतन अवकाश, क्रेच सुविधा आदि अनेक लाभों से संबंधित प्रावधानों को सम्मलित किया गया है।
- वहीं दूसरी ओर, प्रधानमंत्री सुरक्षित मातृत्व अभियान, जननी सुरक्षा योजना, किलकारी योजना आदि के माध्यम से संस्थागत प्रसव एवं चिकित्सीय सुविधाओं को सार्वभौमिक बनाने का प्रयास किया जा रहा है।
- श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने हेतु दीनदयाल उपाध्याय श्रमेव जयते कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है।

6.9. अनुच्छेद 43 (समाजवादी और गांधीवादी) : कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि

राज्य, उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन द्वारा या किसी अन्य रीति से कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सभी कर्मकारों को काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर और अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली कार्य की दशाएं तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशिष्टतया ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक या सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- यह अनुच्छेद गाँधी जी के ग्रामोदय के सिद्धांत से भी संबंधित है। गावों में लघु और कुटीर उद्योगों का विकास, राज्य सूची का विषय है। राज्य द्वारा ग्राम विकास एवं जीवन स्तर में सुधार करने के लिए अनेक बोर्ड , निगम और आयोगों की स्थापना की गई है।
- राज्य द्वारा गांवों में लघु एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक कदम उठाये जा रहे है। ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों के विकास हेतु हैंडलूम बोर्ड, हस्तशिल्प बोर्ड, जूट बोर्ड, सिल्क बोर्ड आदि की स्थापना की गयी है।
- इस अनुच्छेद के निहित उद्देश्यों की प्राप्ति और वित्त, तकनीक, कौशल आदि सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु मुद्रा योजना, "शून्य दोष, शून्य प्रभाव" (ZED) योजना आदि प्रारम्भ की गयी है।

6.10. अनुच्छेद 43(A) (समाजवादी) : उद्योगों के प्रबंध में कर्मकारों का भाग लेना

राज्य, किसी उद्योग में लगे हुए उपक्रमों, स्थापनों या अन्य संगठनों के प्रबंध में कर्मकारों का भाग लेना सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त विधान द्वारा या किसी अन्य रीति से कदम उठाएगा।

विवरण

- अनुच्छेद 43(A) संविधान में 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया था। यह समाजवादी संकल्पना पर आधारित तत्व है।
- श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार, उनकी गरिमा एवं प्रतिष्ठा की सुरक्षा और औद्योगिक इकाई के प्रशासन में उनकी पर्याप्त भागीदारी सुनिश्चित कराने के लिए यह प्रावधान उपबंधित किया गया।

6.11. अनुच्छेद 43(B) (समाजवादी एवं गांधीवादी): सहकारी समितियों का उन्नयन

राज्य सहकारी समितियों के स्वैच्छिक निर्माण, स्वायत्त कार्यकरण, लोकतान्त्रिक नियंत्रण और व्यावसायिक प्रबंध के उन्नयन का प्रयास करेगा।

97वां संविधान संशोधन अधिनियम, 2011 द्वारा भाग IV में, अनुच्छेद 43(b) जोड़ा गया है जो प्रावधान करता है कि राज्य सहकारी समितियों के स्वैच्छिक संगठन, स्वायत्त कार्यकरण, लोकतांत्रिक नियंत्रण तथा पेशेवर प्रबंधन को बढ़ाने का प्रयास करेगा।

97वां संविधान संशोधन अधिनियम, 2011

इस संविधान संशोधन के परिणामस्वरूप संविधान में दो अन्य महत्वपूर्ण खंड जोड़ें गए, जो निम्नलिखित हैं:-

- अधिनियम द्वारा भारतीय संविधान के भाग III का संशोधन किया गया है जिससे अनुच्छेद 19(1)(c) में, 'संघ' शब्द के बाद 'या सहकारी समितियां' शब्द जोड़ा गया है। अधिनियम ने सहकारी समितियों के गठन के अधिकार को मूल अधिकार बना दिया है। यह अधिनियम सहकारी समितियों के प्रबंधन की जिम्मेदारी सुनिश्चित करता है एवं कानून के उल्लंघन के लिए निरोध प्रदान करता है।
- संविधान के भाग 9 (a) के बाद एक नया भाग जिसे भाग 9 (b) (अनुच्छेद 243 ZH - 243 ZT) जोड़ा गया है जो सहकारी समितियों संबंधी परिभाषाएं; सहकारी समितियों का समावेशन; बोर्ड के सदस्यों एवं इसके पदाधिकारियों की संख्या एवं पदावधि; बोर्ड के सदस्यों का चुनाव; बोर्ड एवं अंतरिम प्रबंधन का निलंबन; सहकारी समितियों के लेखाओं का अंकेक्षण; साधारण निकाय की बैठक का आयोजन; सूचना प्राप्त करने का अधिकार, रिटर्न फाइल करने; अपराध एवं दंड; बहु-राज्य सहकारी समितियों पर अनुप्रयोग; संघ शासित प्रदेशों पर अनुप्रयोग एवं वर्तमान विधि की निरंतरता का प्रावधान करता है।

6.12. अनुच्छेद 44 (उदार बौद्धिक) : नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता:

राज्य, भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- वैयक्तिक कानून (Personal law), विवाह, तलाक, भरण-पोषण, उत्तराधिकार एवं गोद लेने से संबंधित होते हैं। भारत में विभिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न निजी कानून है। समान सिविल संहिता के तहत एक ही निजी कानून होगा, जिसका देश के सभी नागरिकों द्वारा अनुसरण किया जाएगा।
- उच्चतम न्यायालय ने केंद्र को समान सिविल संहिता लागू करने का लिए निर्देश देने हेतु की गयी याचिकाओं को बार-बार निरस्त किया और कहा कि यह नीति-निर्माण का विषय है तथा न्यायालय यह कार्य करने में सक्षम नहीं है।

6.13. अनुच्छेद 45 (उदार बौद्धिक): प्रारंभिक शैशवावस्था की देखरेख तथा छह वर्ष से कम आयु के बालकों के लिए शिक्षा का प्रावधान

राज्य, प्रारंभिक शैशवावस्था की देखरेख और सभी बालकों को उस समय तक जब तक कि वे छह वर्ष की आयु पूर्ण न कर लें, शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रयास करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- अनुच्छेद 45 (प्राथमिक शिक्षा) के तहत वर्णित इस नीति निदेशक तत्त्व को 86वें संशोधन, 2002 द्वारा अनुच्छेद 21(a) के अंतर्गत मूल अधिकार के रूप में सम्मिलित कर लिया गया है।
- साथ ही, प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के दायित्व के निर्वहन हेतु सरकार ने सर्वशिक्षा अभियान आरंभ कर नीति निदेशक संबंधी उल्लिखित उद्देश्यों को पूरा करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

6.14. अनुच्छेद 46 (समाजवादी और उदार बौद्धिक):अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की अभिवृद्धि

राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के, विशिष्टतया, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से उनकी संरक्षा करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- सरकार ने हमारे समाज के सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति को आरक्षण प्रदान कर इस निदेशक तत्त्व को लागू करने का प्रयास किया है।
- अनुसूचित जाति एंव जनजाति के शैक्षणिक विकास के लिए सरकार ने उनके लिए छात्रवृत्ति, निःशुल्क पुस्तकों, छात्रावास आदि की व्यवस्था की है।
- वहीं, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के आथिक हितों के संवर्द्धन हेत एवं उनमें उद्यमिता के विकास के लिए 'स्टैंड-अप-इंडिया' एवं 'SC/ST हब' जैसी फलों की शुरुआत की गई है।

6.15. अनुच्छेद 47 (उदार बौद्धिक और गांधीवादी): पोषहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करने का राज्य का कर्तव्य

राज्य, अपने लोगों के पोषहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में मानेगा और राज्य, विशिष्टतया, मादक पेयों एवं स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औषधियों के, औषधीय प्रयोजनों से भिन्न, उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- यह एक गांधीवादी सिद्धांत है। इस निदेशक तत्त्व के क्रियान्वयन हेतु मिड डे मील योजना को आरम्भ किया गया ताकि पोषाहार में सुधार किया जा सके।
- 2013 में पारित खाद्य सुरक्षा अधिनियम, इस निदेशक तत्त्व को कार्यान्वित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम हो सकता है।
- एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1978), जवाहर रोजगार योजना (1989), स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना (1999), संपूर्ण ग्राम रोजगार योजना (2001), महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम (2006) आदि योजनाओं को लोगों के जीवन स्तर में सुधार करने के लिए लागू किया गया।
- इस अनुच्छेद में निहित गांधीवादी उद्देश्यों को पूरा करने हेतु बिहार में मद्यनिषेध (पूर्ण शराब बंदी) लागू कर दिया गया।

6.16. अनुच्छेद 48 (उदार बौद्धिक एवं गांधीवादी): कृषि और पशुपालन का संगठन

राज्य, कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा तथा विशिष्टतया, गायों एवं बछड़ों और अन्य दुधारू एवं वाहक पशुओं की नस्लों के परिरक्षण और सुधार के लिए और उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए कदम उठाएगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- हरित क्रांति एवं जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनुसंधान कृषि और पशुपालन के आधुनिकीकरण के लक्ष्य हैं।
- कृषि में वैज्ञानिक तकनीकों को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने 'मृदा स्वास्थ्य कार्ड' एवं कृषि विज्ञान केंद्र' जैसी पहलों को प्रारंभ किया है। कृषि क्षेत्र को सुदृढ़ करने के लिए सरकार ने प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना एवं प्रधानमंत्री सिंचाई योजना को प्रांरभ किया है।
- वहीं, इस अनुच्छेद में उल्लिखित नीतिगत उद्देश्य की प्राप्ति एवं पशुपालन में आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों एवं दुधारू पशुओं के नस्ल सुधार हेतु राष्ट्रीय गोकुल मिशन प्रारंभ किया गया है।
- साथ ही, उनके वध/हत्या पर रोक लगाने के लिए विभिन्न राज्यों ने भी कानून निर्मित किए हैं।

6.17. अनुच्छेद 48(a) (उदार बौद्धिक): पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्धन और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा

राज्य, देश के पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्धन का और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

विवरण

- अनुच्छेद 48A संविधान में 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया है।
- जीवन के बेहतर मानदंड एवं प्रदूषण रहित वातावरण के निर्माण हेतु संविधान में इस प्रावधान को शामिल किया गया।
- राष्ट्रीय वन नीति (1988) का लक्ष्य वनों का विकास, संरक्षण और सुरक्षा करना है। पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986; वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972; भी अनुच्छेद 48(A) के तहत निर्देशों को पूरा करने की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम हैं।

6.18. अनुच्छेद 49 (उदार बौद्धिक): राष्ट्रीय महत्व के संस्मारकों, स्थानों और वस्तुओं का संरक्षण

संसद द्वारा निर्मित विधि द्वारा या उसके अधीन राष्ट्रीय महत्व वाले घोषित किये गए कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरूचि वाले प्रत्येक संस्मारक या स्थान या वस्तु का, यथास्थिति, लुंठन, विरूपण, विनाश, अपसारण, व्ययन या निर्यात आदि से संरक्षण करना राज्य की बाध्यता होगी।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- यह राज्य से राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों के संरक्षण की अपेक्षा रखने वाला एक उदार-बौद्धिक निदेशक तत्त्व है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण को इसके क्रियान्वयन का प्रभार सौंपा गया है।
- विश्व धरोहर स्थलों, प्राचीन स्मारकों और पुरातात्विक स्थलों का संरक्षण राष्ट्रीय महत्व का है। पर्यटन गतिविधियों के सन्दर्भ में इन स्थलों का आर्थिक महत्व भी हैं।

6.19. अनुच्छेद 50 (उदार बौद्धिक): कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण

राज्य की लोक सेवाओं में, न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए राज्य कदम उठाएगा।

विवरण एवं क्रियान्वयन

- नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था के लिए शक्तियों का पृथक्करण आवश्यक है। यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित करता है।

- यह एक उदार-बौद्धिक निदेशक तत्त्व भी है। इसे 1973 में दंड प्रक्रिया संहिता (CrPC) में संशोधन द्वारा कार्यान्वित किया गया।

6.20. अनुच्छेद 51 (उदार बौद्धिक): अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि

राज्य

- *अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का,*
- *राष्ट्रों के मध्य न्यायसंगत और सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने का;*
- *संगठित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अंतरराष्ट्रीय विधि और संधि-बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का; तथा*
- *अंतरराष्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का, प्रयास करेगा।*

विवरण एवं क्रियान्वयन

- भारत सरकार ने इस अनुच्छेद के तहत उल्लिखित उद्देश्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्शाते हुए अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता, पंचशील, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रति निष्ठा एवं शांति मिशनों में भागीदारी एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण जैसे प्रमुख सिद्धांतों को शामिल किया है। हाल ही में, सार्क उपग्रह द्वारा निःशुल्क सेवा का पड़ोसियों तक विस्तार इसी शांति एवं मैत्री के दिशा में बढ़ते कदमों को दर्शाता है।

7. संविधान के अन्य भागों में वर्णित निदेशक तत्त्व

संविधान में भाग IV के अतिरिक्त भी कुछ निदेशक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:

- **अनुच्छेद 335:** इसके तहत संघ या किसी राज्य के कार्यकलाप से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तिओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों का, प्रशासन की दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान में रखा जाएगा।
- **अनुच्छेद 350 (A):** प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा और राष्ट्रपति किसी राज्य को ऐसे निदेश दे सकेगा जो वह ऐसी सुविधाओं का उपबंध सुनिश्चित कराने के लिए आवश्यक या उचित समझता है।
- **अनुच्छेद 351** के अनुसार संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन दे एवं इसका विकास करे जिससे वह भारत की संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का साधन बन सके।

8. निदेशक तत्त्वों एवं मूल अधिकारों में अंतर

मूल अधिकार	नीति निदेशक तत्त्व
• ये उदारवादी दर्शन पर आधारित हैं, जो व्यक्ति एवं उनके अधिकारों को संरक्षण प्रदान करते हैं।	• ये भिन्न-भिन्न विचारधाराओं जैसे कल्याणकारी राज्य, फैबियन समाजवाद, गाँधीवाद, पर्यावरणवाद, अंतर्राष्ट्रीयता आदि को प्रतिबिंबित करते हैं।
• ये सामान्य रूप से राज्य तथा कुछ मामलों में निजी व्यक्तियों पर भी **निषेधाज्ञा** होते हैं।	• संघ, राज्य सरकारों के साथ ही अन्य अधिकारियों से नीति-निर्माण में निदेशक तत्त्वों का मूल दिशा-निर्देशों के रूप में **अनुसरण** किए जाने की अपेक्षा की जाती हैं।
• इनकी प्रकृति **नकारात्मक** है क्योंकि ये	• निदेशक तत्त्वों की प्रकृति सकारात्मक होती है।

राज्य को कुछ नीतियों के निर्माण से प्रतिबंधित करते हैं।	ये, राज्य पर **सकारात्मक दायित्वों का निर्धारण करते** हैं।
• मूल अधिकार न्यायालय में **प्रवर्तनीय** हैं। संवैधानिक उपचार (अनुच्छेद-32) का अधिकार स्वयं एक मूल अधिकार है। न्यायपालिका को, मूल अधिकारों में कटौती करने वाली किसी विधि को अमान्य घोषित करने की शक्ति प्रदान की गयी है।	• अनुच्छेद 37 के अनुसार, नीति निदेशक तत्त्व न्यायालय में **प्रवर्तनीय नहीं** हैं। अत: निदेशक तत्त्वों हेतु संवैधानिक उपचार की व्यवस्था उपलब्ध नहीं हैं।
• संविधान के भाग III में उल्लिखित मूल अधिकार (FR) राजनीतिक लोकतंत्र का आधार हैं।	• निदेशक तत्त्व, देश में सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करते हैं।
• मूल अधिकार व्यक्ति केंद्रित होते हैं, जबकि निदेशक तत्त्व समूह केंद्रित होते हैं।	• निदेशक तत्त्व, भारत को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में स्थापित करते हैं।

- उच्चतम न्यायालय ने मूल अधिकार और निदेशक तत्त्वों के मध्य संबंध स्थापित करने के लिए **सामंजस्यपूर्ण संरचना का सिद्धांत** प्रस्तुत किया है।
- संविधान सभा के विधिक सलाहकार, बी.एन. राव के अनुसार, मूल अधिकार और निदेशक तत्त्व योजना के संदर्भ में एकीकृत होते हैं। वे संविधान सभा में एक ही योजना के रूप में प्रस्तुत किए गए थे। यहाँ तक कि नेहरू रिपोर्ट में वे एक ही इकाई के भाग थे। संसाधनों की कमी के कारण निदेशक तत्त्वों को लागू किये जाने की असमर्थता से संवैधानिक संकट उत्पन्न हो सकता है, इस संकट से बचने के लिए मूल अधिकारों एवं निदेशक तत्त्वों की पृथक व्यवस्था की गयी है।

9. संविधान निर्माण के पश्चात् सम्मिलित किए गए नीति निदेशक तत्त्व

भारतीय संविधान के आरम्भ के पश्चात् संविधान के भाग IV में समय-समय पर कुछ संशोधन किये गए तथा अनेक अनुच्छेद जोड़े गए। ये निम्नानुसार हैं:

प्रभावित अनुच्छेद	परिवर्तन	स्रोत
38 (2)	जोड़ा गया	42वां संविधान संशोधन अधिनियम,1976
39 (a)	जोड़ा गया	42वां संविधान संशोधन अधिनियम,1976
39 (f)	जोड़ा गया	42वां संविधान संशोधन अधिनियम,1976
43 (a)	जोड़ा गया	42वां संविधान संशोधन अधिनियम,1976
43 (b)	जोड़ा गया	97वां संविधान संशोधन अधिनियम, 2011
45	संशोधित मूलपाठ	86वां संविधान संशोधन अधिनियम, 2002
48 (a)	जोड़ा गया	42वां संविधान संशोधन अधिनियम,1976

9.1. निदेशक तत्त्वों को गैर-न्यायोचित एवं कानूनी तौर पर गैर-प्रवर्तनीय बनाए जाने के प्रमुख कारण

संविधान निर्माताओं ने निदेशक तत्त्वों को गैर-न्यायोचित और कानूनी तौर पर गैर-प्रवर्तनीय बनाया गया, क्योंकि:

- उन्हें लागू करने के लिए देश में पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध नहीं थे।
- देश की विविधता और पिछड़ापन इनके क्रियान्वयन में बाधक होंगे।
- निदेशक तत्त्वों को न्यायोचित बनाने से हाल ही में ब्रिटिश अधीनता से मुक्त राज्य पर इनके क्रियान्वयन संबंधी दबाव में वृद्धि होने की आशंका थी। अत: यह आशा की गयी कि देश अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर कार्य करें तथा राज्य को निदेशक तत्त्वों को क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की गयी।

अतः संविधान निर्माताओं द्वारा एक व्यावहारिक निर्णय लिया गया तथा इन निदेशक तत्त्वों को न्यायिक एवं बाध्यकारी शक्तियां प्रदान करने से परहेज किया गया। वे इन सिद्धांतों की पूर्ति के लिए अंतिम स्वीकृति के रूप में न्यायालय की प्रक्रियाओं के बजाय जागरूक जनता की राय पर अधिक विश्वास करते थे।

10. नीति-निदेशक तत्त्वों की आलोचनाएं

- आलोचक, निदेशक तत्त्वों में निरंतरता एवं तारतम्यता की कमी की ओर संकेत करते हैं। स्पष्ट है कि अत्यधिक महत्वपूर्ण निदेशक तत्त्वों एवं कम महत्वपूर्ण निदेशक तत्त्वों को मिश्रित कर दिया गया है। साथ ही, संबंधित दर्शन पर आधारित इनकी पद्धति से तार्किक व्यवस्थाकी स्थापना नहीं की गयी है।
- एन श्रीनिवासन के अनुसार, "निदेशक तत्त्वों को न तो उचित तरीके से वर्गीकृत किया गया है और न ही तर्कसंगत तरीके से व्यवस्थित किया गया है। इसमें अत्यल्प महत्व वाले नीति निदेशक तत्त्वों को सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए अत्यावश्यक अति महत्वपूर्ण तत्वों के साथ मिश्रित कर दिया गया है। इस व्यवस्था के लिए वैज्ञानिक आधार सुझाया जाता है, जबकि ये भावनाओं एवं अपर्याप्त जानकारी पर आधारित हैं।"
- इसके अतिरिक्त, इनकी गैर-प्रवर्तनीय प्रकृति इनके क्रियान्वयन को तत्कालीन सरकार के विवेक पर छोड़ देती है।
- प्रो. के. टी. शाह द्वारा इनकी ऐसे **चैक, जिसका भुकतान बैंक की इच्छा पर निर्भर है,** के रूप में और बी. एन. राव द्वारा इनकी **नैतिक उपदेश** के रूप में वर्णित करते हुए आलोचना की गई है।
- यह तर्क दिया गया है कि चूंकि संविधान देश का बुनियादी कानून है, अत: इसमें गैर-न्यायोचित प्रावधानों को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।
- इसके अतिरिक्त, उनकी इस आधार पर आलोचना की गई है कि वे संघीय ढांचे के समक्ष बाधा उत्पन्न करते हैं क्योंकि निदेशक तत्त्व संघ एवं राज्य दोनों सरकारों हेतु निर्देश होते हैं। अधिकांश निदेशक तत्त्व राज्य सूची के विषयों से संबंधित हैं। के. संथानम द्वारा विशेष रूप से उल्लेखित किया गया कि निदेशक तत्त्व-
  - केंद्र और राज्यों के मध्य
  - राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के मध्य, तथा
  - राज्यपाल और मुख्यमंत्री के मध्य संवैधानिक टकराव की स्थिति उत्पन्न करते हैं।
- उनके अनुसार, केंद्र सरकार इन सिद्धांतों के कार्यान्वयन के संबंध में राज्यों को निर्देश दे सकती हैं तथा गैर-अनुपालन की स्थिति में राज्य सरकार को बर्ख़ास्त कर सकती हैं। निदेशक सिद्धांतों का उल्लंघन करने वाले किसी विधेयक को राष्ट्रपति इस आधार पर अस्वीकार कर सकता है कि ये सिद्धांत, देश के शासन के मूल सिद्धांत हैं तथा इस प्रकार, सरकार के पास इन सिद्धांतों की अवहेलना करने का कोई अधिकार नहीं है। ज्ञातव्य है कि इसी प्रकार का संवैधानिक टकराव, राज्य स्तर पर राज्यपाल और मुख्यमंत्री के मध्य हो सकता है।

11. निदेशक तत्त्वों की उपयोगिता

- निदेशक तत्त्वों का लक्ष्य भारत में राजनीतिक लोकतंत्र के आदर्शों के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र भी स्थापित करना है। वे सत्तारुढ़ सरकार को, उसकी राजनीतिक प्रकृति को दृष्टिगत रखे बिना एक व्यापक दिशा प्रदान करते हैं तथा इस प्रकार ये सरकारों के परिवर्तन होने के बावजूद नीतियों में कुछ हद तक स्थिरता बनाए रखने में सहायता करते हैं। निदेशक तत्त्व, न्यायपालिका के लिए प्रकाशस्तंभ के रूप में भी कार्य करते है। इन सबसे ऊपर, इनका शिक्षाप्रद मूल्य (educative value) है।

- भारत के पूर्व महान्यायवादी एम. सी. सीतलवाड़ के अनुसार, हालांकि निदेशक तत्त्व, कोई विधिक अधिकार प्रदान नहीं करते हैं और न ही विधिक उपचारों का सृजन करते हैं, फिर भी ये निम्नलिखित तरीके से महत्वपूर्ण और उपयोगी होते हैं:
    - ये 'अनुदेशों' के समान हैं या ये भारतीय संघ के प्राधिकरणों के लिए सामान्य अनुशंसाएं हैं। ये संविधान के लक्ष्यों की प्राप्ति से संबंधी मूल सामाजिक एवं आर्थिक सिद्धांतों को परिलक्षित करते हैं।
    - ये न्यायालयों के लिए उपयोगी मार्गदर्शक सिद्धांत हैं। ये न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग में सहायता करते हैं, जो कि विधि की संवैधानिक वैधता का निर्धारण करता है।
    - ये सभी अनुदेश विधायिका एवं कार्यपालिका को नीति-निर्माण के लिए प्रेरित करते हैं साथ ही न्यायालयों को कुछ मामलों में दिशा-निर्देशित भी करते हैं।
    - ये उद्देशिका को विस्तृत रूप प्रदान करते हैं, जिनसे भारतीय नागरिकों के न्याय, स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व आदि मूल्यों को बल मिलता है।
    - ये राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों की घरेलू और विदेश नीतियों में स्थायित्व और निरंतरता बनाए रखते हैं, भले ही सत्ता परिवर्तित हो जाए।
    - ये नागरिकों के मूल अधिकारों के पूरक होते हैं। इनके द्वारा सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था करते हुए इस रिक्तता को पूरा करने का प्रयास किया गया है। भाग III एवं भाग IV राजनीतिक लोकतंत्र के साथ-साथ आर्थिक लोकतंत्र को भी संभव बनाते हैं।
    - ये विपक्ष द्वारा सरकार पर नियंत्रण स्थापित करने को संभव बनाते हैं। विपक्ष, सत्तारुढ़ दल पर निदेशक तत्त्वों का विरोध एवं इसके कार्यकलापों के आधार पर आरोप लगा सकता है तथा इन्हें लागू करने के लिए दबाव बना सकता है।
    - ये सरकार के कार्यों के प्रदर्शन का गहन परीक्षण करते हैं। लोग सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का परीक्षण इन संवैधानिक घोषणाओं के आलोक में कर सकते हैं।
    - ये आम राजनीतिक घोषणा पत्र के समान होते हैं। एक सत्तारुढ़ दल अपनी राजनीतिक विचारधारा के बावजूद विधायिका एवं कार्यपालिकीय कृत्यों में इस तथ्य को स्वीकार करता है कि ये तत्व इसके प्रदर्शक, दार्शनिक और मित्र हैं।

12. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **मूल अधिकारों के संबंध में नीति-निदेशक तत्त्वों को किस प्रकार से पूरक एवं अनुपूरक दोनों के रूप में देखा जा सकता है?**

दृष्टिकोण:

- सर्वप्रथम मूल अधिकार एवं नीति-निदेशक तत्त्व दोनों की प्रकृति पर चर्चा कीजिए।
- इसके बाद विश्लेषण कीजिए कि क्या वास्तव में मूल अधिकार एवं नीति-निदेशक तत्त्वों एक दूसरे के लिए पूरक और अनुपूरक हैं अथवा नहीं हैं।
- उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः

मूल अधिकारों और नीति-निदेशक तत्त्वों के शीर्षकों के अंतर्गत संविधान की पूरी योजना में एक समतावादी समाज के निर्माण तथा सामाजिक-आर्थिक न्याय की अवधरणा पर बल दिया गया है। हालांकि, मूल अधिकारों एवं नीति-निदेशक तत्त्वों में कुछ मूलभूत अंतर विद्यमान हैं।

- संविधान के भाग III में निहित मूल अधिकार न्याय के अपने आयामों जैसे व्यक्तिगत, राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों से संबंधित है, जबकि भाग IV में निहित नीति-निदेशक तत्त्व सामाजिक स्तर पर न्याय तथा सामाजिक और आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करते हैं।
- मूल अधिकार 'राज्य' की शक्तियों पर प्रतिबंध के एक स्रोत के रूप में कार्य करते हैं इस प्रकार से 'राज्य' की शक्तियाँ मूल अधिकारों के अधीन है। दूसरी ओर निदेशक तत्त्वों को कानून एवं प्रशासन के मामलों में 'राज्य' के मार्गदर्शन सिद्धांतों के संदर्भ में सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार, मूल अधिकार एवं निदेशक तत्त्व राज्य के दायित्वों का नकारात्मक एवं सकारात्मक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों के मध्य अन्य अंतर यह है कि, संविधान में प्रावधान किया गया है कि मूल अधिकार न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय हैं जबकि नीति- निदेशक तत्त्व न्यायालय द्वारा गैर-प्रवर्तनीय हैं। संक्षेप में मूल अधिकारों और निदेशक तत्त्वों की प्रकृति एवं स्वरूप में अंतर है।

इन सभी अन्तरों के बावजूद मूल अधिकारों एवं नीति निदेशक तत्त्वों के मध्य कुछ समानताएं भी विद्यमान हैं, जो इन्हें एक सूत्र में बांधते हैं। इनकी उत्पत्ति का मूल स्रोत एक ही है; अर्थात संविधान तथा इनके समान उद्देश्य हैं; अर्थात संविधान की उद्देशिका में परिकल्पित समाज के कल्याण को सुनिश्चित करना और यह पूर्ण रूप से सत्य है कि दोनों का लक्ष्य न्याय की स्थापन करना है। नीति-निदेशक तत्त्व, न्याय की अवधरणा को विस्तृत रूप में ग्रहण करते हैं जबकि, मूल अधिकार न्याय की अवधरणा को सूक्ष्म स्तर पर निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त, नीति-निदेशक तत्त्व न्याय के वितराणात्मक सिद्धांत कर कार्य करते हैं जबकि, मूल अधिकार सुधारात्मक पहलू पर आधारित है।

इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के पूरक है।

अधिकांशतः, निदेशक तत्त्वों को कुछ मूल अधिकारों को व्यापक एवं गहन बनाने के लिए प्रयोग किया गया है। मूल अधिकारों के अन्तर्गत अधिकारों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया। इसके अतिरिक्त, नीति-निदेशक तत्त्व लोगों को कुछ अन्य अधिकार प्रदान करने का संकेत देते है। उदाहरण के लिए नीति-निदेशक तत्त्वों का अनुच्छेद 21 के साथ पठन करते हुए, सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 21 की सीमा का विस्तार किया और इसके अन्तर्गत नागरिकों के विभिन्न अधिकारों की व्याख्या की है।

उनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

- जीवन के अधिकार में प्रदूषणरहित जल, वायु और पर्यावरण का उपयोग करने का अधिकार भी सम्मिलित है। न्यायालय ने इस अधिकार की व्याख्या अनुच्छेद 21 की अनुच्छेद 48 के साथ की है।
- अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत शिक्षा के अधिकारों को अनुच्छेद 41 और 45 में निहित निदेशक सिद्धांत के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

इस प्रकार मूल अधिकार और नीति-निदेशक तत्त्व दोनों कल्याणकारी राज्य में सामाजिक क्रान्ति लाने के समान उद्देश्य पर आधारित हैं तथा इस उद्देश्य की पूर्ति में दोनों एक दूसरे के पूरक एवं अनुपूरक है।

2. राज्य के नीति निदेशक तत्त्व अपने निर्देश एवं विषयवस्तु में समाजवादी हैं। परीक्षण कीजिए।

दृष्टिकोण:

विचार कीजिए कि कैसे नीति निदेशक तत्त्व सार्वजनिक नीति-निर्माण में समाजवादी सिद्धांतों को प्रदर्शित करते है। उत्तर में समाजवाद या उसके लक्षण अथवा निदेशक तत्वों की व्याख्या नहीं की जानी चाहिए।

उत्तरः

चूंकि समाजवाद शब्द बहुत ही अस्पष्ट है, अतः उच्चतम न्यायालय द्वारा इसकी व्याख्या में कहा गया है कि इसका उद्देश्य लोगों में आय की असमानता को समाप्त करना तथा उन्हें बेहतर जीवन स्तर प्रदान करना है।

नीति निदेशक तत्त्व, राज्य को 'कल्याणकारी राज्य' का स्वरूप प्रदान करते हैं। अधिकांश निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र स्थापित करना है। जिसका उल्लेख उद्देशिका में किया गया है।

अनुच्छेद 38(1) के अनुसार राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करेगा कि जिसमें सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्र की सभी संस्थाओं में अनुप्राणित हो, और इस व्यवस्था की प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा। अनुच्छेद 38(2) यह प्रावधान करता है कि राज्य विशिष्टतया आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यक्तियों के मध्य बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले और विभिन्न व्यवसायों में संलग्न लोगों के समूहों के मध्य भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की समानता को प्रोत्साहित करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 39(A) राज्य द्वारा निर्धनों को समान न्याय तथा निःशुल्क विधिक सहायता प्रदान करने का प्रयास करेगा। अन्य अनुच्छेद उद्योगों के प्रबंधन में कर्मकारों की भागीदारी को सुनिश्चित करते हैं। नीति निर्देशक तत्वों में और भी कई प्रावधान है जैसे कि आजीविका के पर्याप्त साधनों का अधिकार, आर्थिक शोषण के विरूद्ध अधिकार, और कार्य करने की मानवीय दशाओं का अधिकार जो कि स्पष्ट रूप से राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों में समाजवादी प्रभाव स्थापित करते हैं।

यद्यपि इन राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों को न्यायपालिका द्वारा लागू नहीं किया जा सकता हैं, परन्तु इन्हें देश के शासन के मूलाधार के रूप में घोषित किया गया है और यह प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य होगा कि विधि निर्माण के समय वह इन निदेशक तत्त्वों को दृष्टिगत रखे।

3. "राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के पीछे संस्वीकृति वास्तव में राजनीतिक है।" व्याख्या कीजिए। किस प्रकार समय बीतने के साथ संविधान के भाग III और IV के प्रावधानों के बीच संघर्ष की स्थिति में प्राथमिकता का मुद्दा विकसित हुआ है?

दृष्टिकोण:

- परिचय के अंतर्गत संवैधानिक योजना में DPSP की स्थिति को रेखांकित कीजिए।
- इनकी गैर-वादयोग्य व्यवहार्यता के आलोक में राजनीतिक संस्वीकृति और सरकारी नीतियों के मार्गदर्शन में इनकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।
- उत्तर के अंतिम भाग में विभिन्न न्यायिक घोषणाओं के आधार पर प्राथमिकता के प्रश्न को स्पष्ट कीजिए।
- DPSP के महत्व पर बल देते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर:

मूल अधिकारों के विपरीत भारतीय संविधान के भाग IV में अनुच्छेद 36 से 51 के अंतर्गत निहित निदेशक तत्त्व कानूनी रूप से प्रवर्तनीय नहीं है। फिर भी, उन्हें "देश के शासन हेतु मूलभूत" समझा गया है। अनुच्छेद 37 में उल्लेखित है कि विधि-निर्माण के दौरान इन सिद्धांतों को लागू करना राज्य का कर्तव्य है। इस प्रकार, यह तर्क दिया गया है कि कि इन

तत्त्वों के पीछे संस्वीकृति न्यायिक की बजाय राजनीतिक है, जैसा कि डॉ अम्बेडकर द्वारा तर्क दिया गया है "यदि कोई सरकार इनकी अवहेलना करेगी, तो उसे निश्चित रूप से चुनावों के समय निर्वाचकों के समक्ष जवाब देना होगा।"

यह उल्लेख किया गया है कि संविधान के भाग IV में की गई घोषणाएँ संविधान के भाग III अर्थात मूल अधिकारों में की गई घोषणाओं की तुलना में कई मामलों के संदर्भ में व्यापक हैं। इस संदर्भ में प्रावधानों के इन दो वर्गों के मध्य टकराव की स्थिति में प्राथमिकता का प्रश्न प्रासंगिक है। वर्तमान स्थिति यह है कि केवल अनुच्छेद 39(B) और अनुच्छेद 39(C) को ही अनुच्छेद 14, 19 पर वरीयता दी जा सकती है न कि सभी निदेशक तत्त्वों को।

- इस संदर्भ में, मद्रास बनाम चम्पकम दोराईराजन (1951) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि "निदेशक तत्त्वों को मूल अधिकारों के अनुरूप और सहायक के रूप में कार्य करना चाहिए।"
- केशवानंद भारती वाद (1973) में न्यायालय ने कहा कि: "न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने के लिए कभी-कभी यह अनिवार्य हो जाता है कि मूल अधिकारों को निदेशक तत्त्वों का अधीनस्थ बनाया जाना चाहिए।"
- केरल राज्य बनाम एन. एम. थॉमस वाद (1976) में न्यायालय ने कहा कि मूल अधिकार और DPSP एक-दुसरे के पूरक हैं, "कोई भी भाग दूसरे से श्रेष्ठतर नहीं है"।
- मिनर्वा मिल्स वाद (1980) में न्यायालय ने कहा कि "मूल अधिकार अपने आप में साध्य नहीं हैं बल्कि ... साध्य की प्राप्ति के साधन हैं"। इन साध्यों की निदेशक तत्त्वों द्वारा पहचान की जाती है।

DPSP को संविधान की व्याख्या करने के लिए सहायक साधन के रूप में और विशेष रूप से मूल अधिकारों को आधार, दायरा और सीमा प्रदान करने वाला माना जाता है। इस अर्थ में दोनों को एक-दूसरे का पूरक और अनुपूरक माना गया है।

4. राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों ने भारत में नीति निर्माण की प्रक्रिया को किस प्रकार आकार प्रदान किया है? चर्चा कीजिए। क्या आपको लगता है कि यह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल रहा है। विश्लेषण कीजिए।

दृष्टिकोण:

- भूमिका के अंतर्गत संक्षेप में राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों को परिभाषित कीजिए। इसके मुख्य उद्देश्यों और वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।
- राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के कार्यान्वयन के फलस्वरूप व्युत्पन्न होने वाली विभिन्न नीतियों का उल्लेख कीजिए।
- इन नीतियों के क्रमिक विकास को समझाईये।
- उत्तर के दूसरे भाग में, राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों में समाहित आदर्शों को प्राप्त करने में राज्य की सफलता और असफलताओं पर चर्चा कीजिए। चूंकि, आदर्श स्थिति को प्राप्त करना कठिन है, इसलिए इस प्रक्रिया के संबंध में अत्यधिक आलोचना न करें। इसके स्थान पर, विकास और अंतत: कमी को दूर करने के सुझावों पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।
- संपूर्ण स्थिति के संदर्भ में निष्कर्ष प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर:

राज्य के नीति निदेशक तत्व उन सिद्धांतों को स्थापित करते हैं जो देश के शासन हेतु मूलभूत सिद्धांत माने जाते हैं और एक न्यायप्रिय समाज स्थापित करने हेतु कानून के निर्माण में इन सिद्धांतों के उपयोग को राज्य का उत्तरदायित्व बना देते हैं। राज्य के नीति निदेशक तत्त्व, अपनी शक्ति गांधी जी के सिद्धांतों सहित अनेक स्रोतों से (आइरिश संविधान) प्राप्त करते हैं

और संविधान निर्माताओं ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए अनेक सिद्धांतों को स्थापित किया जिससे समाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्यायप्राप्त किया जा सके।

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का कार्यान्वयन:

सामाजिक-आर्थिक सिद्धांत

- भूमि सुधार और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन।
- महिलाओं के कल्याण के लिए राष्ट्रीय आयोग का गठन।
- किसी व्यक्ति द्वारा धारण की जाने वाली भूमि और संपत्ति की सीमा को निर्धारित करने हेतु ऊपरी सीमा नियत की गई है।
- ये नियम समान कार्य हेतु पुरूष और महिला दोनों को समान वेतन दिया जाना अनिवार्य करते हैं।
- मनरेगा (रोजगार का अधिकार), सबला, आई.सी.डी.एस., राष्ट्रीय सामाजिक सहायता, मध्याह्न भोजन इत्यादि योजनाएं अनुच्छेद 39 तथा अनुच्छेद 41 में सन्निहित सिद्धांतों का अनुपालन करने हेतु राज्य के प्रयासों के उदाहरण हैं।

गांधीवादी सिद्धांत

- संविधान में 73वें और 74वें संशोधन (क्रमश: 1991 और 1992) द्वारा पंचायती राज तथा शहरी स्थानीय शासन को अधिक शक्तियों के साथ संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। (अनुच्छेद 40)
- अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए गंभीर प्रयास किए गए हैं।

अंतरराष्ट्रीय सिद्धांत

- भारत अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देने के लिए भी संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सक्रिय रूप से सहयोग करता रहा है। (अनुच्छेद 51)

केन्द्र और राज्य सरकार की ओर से उठाए गए उपर्युक्त कदम यह इंगित करते हैं कि राज्य द्वारा अनेक नीति निदेशक तत्वों को लागू किया गया है, हालांकि, फिर भी उनमें से सभी को पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए लम्बा मार्ग तय करना होगा। जैसे कि:-

- संपत्ति के संकेन्द्रण में वृद्धि हुई है। (भारत के शीर्ष 1% लोग देश की संपत्ति का लगभग आधा भाग धारण करते हैं, सुइस वैश्विक संपत्ति डाटाबुक)।
- यद्यपि विद्यालयों में नामांकन सार्वभौमिक स्तर पर पहुँच गया है, लेकिन बीच में ही विद्यालय छोड़ने की दर (60 लाख छात्र विद्यालय छोड़ चुके हैं जिनमें ग्रामीण क्षेत्र की भागीदारी 77 प्रतिशत है।) और शिक्षा की गुणवत्ता एक चिंता का विषय बनी हुई है।
- पी.आर.आई. निधि, कार्य और पदाधिकारियों के अभावों से ग्रस्त हैं।
- महिला श्रम शक्ति भागीदारी दर लगभग 27 प्रतिशत है। (आई.एल.ओ. की ग्लोबल एम्प्लॉयमेंट ट्रेड रिपोर्ट)।

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का कार्यान्वयन नहीं हो पाने में अनेक व्यवधान हैं। इसके मुख्य कारण हैं:

- सीमित संसाधन।
- राजनैतिक इच्छा शक्ति का अभाव, और
- जनता की ओर से जागरूकता और संगठित कार्रवाई की कमी।

यद्यपि बहुत कुछ प्राप्त कर लिया गया है किन्तु कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य को पूरा करने के लिए अभी लम्बा रास्ता तय करना शेष है। राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों ने भारत में नीति निर्माण को लम्बे समय से आकार प्रदान करने का कार्य किया है और आगे भी करते रहेंगे क्योंकि इसमें निहित तत्त्व सार्वभौमिक प्रकृति के हैं। शिक्षा का अधिकार, सबके लिए आवास योजना, मिशन इन्द्रधनुष इत्यादि का अधिनियम राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के प्रति राज्य के प्रतिबद्ध रहने की जागरूकताओं को प्रदर्शित करते हैं।

13. विगत वर्षों में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा पूछे गए प्रश्न (Past Year UPSC Questions)

1. राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों पर 150 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. सामाजिक और आर्थिक न्याय से संबंधित किन्हीं भी तीन निदेशक तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।
3. संविधान लागू होने के बाद से राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों में क्या परिवर्तन किए गए हैं?
4. संक्षेप में उल्लेख कीजिए कि क्यों और किस प्रकार भारतीय संविधान में निदेशक तत्त्वों के अध्याय ने मूल अधिकारों के अध्याय पर अधिमानता प्राप्त की है।
5. भाग IV में अंतर्विष्ट निर्देशों के अतिरिक्त संविधान के अन्य भागों में कुछ और निर्देश हैं जो राज्यों के नाम हैं, वे क्या हैं?
6. भारतीय नागरिकों के लिए उपलब्ध विभिन्न रिट कौन-सी हैं?
7. हाल ही के एक निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने एक समान सिविल संहिता के विषय में क्या विचार व्यक्त किए थे?
8. मौलिक अधिकारों के साथ नीति निदेशक तत्त्वों की वर्तमान स्थिति जिन अवस्थाओं से उभरी है उसे संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
9. राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का क्या महत्व है? बताएं कि राज्य की नीति के किन निदेशक तत्त्वों को मूल अधिकारों की अपेक्षा प्रमुखता प्राप्त है?
10. राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों की संवैधानिक स्थिति क्या है? 1975-77 के आपात काल के पश्चात् न्यायपालिका ने किस प्रकार इसका अर्थ निर्णय किया है?
11. राज्यों के लिए बाध्यकारी गैर-वादयोग्य निदेशात्मक तत्वों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की विवेचना कीजिए।
12. चर्चा कीजिए कि वे कौन-से संभवित कारक है जो भारत को राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों में प्रदत के अनुसार अपने नागरिकों के लिए समान सिविल संहिता को अधिनियमित करने से रोकते हैं।

संघ कार्यपालिका

विषय सूची

संघ कार्यपालिका

भारत, संसदीय प्रणाली पर आधारित एक गणतांत्रिक देश है। यहाँ ब्रिटेन की तर्ज़ पर लोकतंत्र की वेस्टमिंस्टर प्रणाली को अपनाया गया है जिसमें संसद विधि-निर्माण की सर्वोच्च इकाई है। हालाँकि, देश के दैनिक प्रशासन हेतु एकमात्र प्राधिकारी एवं जवाबदेह, कार्यपालिका ही है। यह सरकार की वह शाखा है जो संसद द्वारा निर्मित कानूनों का क्रियान्वयन सुनिश्चित करती है।

संघीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद, महान्यायवादी आदि सम्मिलित होते हैं। इसी तरह का ढांचा राज्य स्तर पर भी कार्य करता है जहाँ राज्य कार्यपालिका में राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद, महाधिवक्ता आदि सम्मिलित होते हैं।

1. राष्ट्रपति

- भारत में **'राष्ट्रप्रमुख'** के रूप में राष्ट्रपति के पद की व्यवस्था को अपनाया गया है। ब्रिटिश क्राउन और अमेरिकी राष्ट्रपति से भिन्न, संविधान निर्माताओं ने भारतीय व्यवस्था के अनुरूप इस पद के एक संतुलित स्वरूप को अपनाया। गणतांत्रिक प्रणाली होने के कारण संविधान में 'निर्वाचित राष्ट्रपति' के प्रावधान को शामिल किया गया।

1.1. कार्यपालिका प्रमुख

- मंत्रिमंडलीय कार्यपालिका में सामान्यतः दो प्रमुख होते हैं: एक 'वास्तविक प्रमुख' एवं दूसरा 'नाममात्र या औपचारिक प्रमुख'। भारत में राष्ट्रपति नाममात्र प्रमुख है तथा राष्ट्रपति पद की प्रकृति वस्तुतः औपचारिक है।

शासन व्यवस्था में औपचारिक प्रमुख की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से होती है :

- **राष्ट्र प्रमुख के रूप में:** राष्ट्रपति देश की एकता, अखंडता एवं एकजुटता का प्रतीक है। अतः व्यवहारिक रूप से राजप्रमुख न होते हुए भी भारतीय राष्ट्रपति को राष्ट्र-प्रमुख की भूमिका प्रदान की गयी है।
- **दलगत राजनीति से मुक्त रखने हेतु:** राष्ट्रपति पद को दलगत राजनीति से ऊपर माना जा सकता है।
- **प्रशासन की निरंतरता हेतु:** मंत्रिपरिषद का कार्यकाल अनिश्चित होता है और यह लोकसभा में बहुमत पर निर्भर करता है। ऐसे में प्रशासन में निरंतरता सुनिश्चित करने के लिए एक निश्चित कार्यकाल वाले पद का होना आवश्यक है।
- **संघवादी स्वरूप को बनाए रखने हेतु:** भारत के संदर्भ में एक अतिरिक्त कारण, संघवाद भी है। राज्य विधानसभाओं के सदस्य भी राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। इसलिए, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति संघ के अतिरिक्त राज्यों का भी प्रतिनिधित्व करता है।

संविधान के भाग 5 के अनुच्छेद 52 से 78 तक में संघ की कार्यपालिका का वर्णन है।

- **अनुच्छेद 52 के अनुसार,** भारत का एक राष्ट्रपति होगा। यहाँ "होगा" शब्द के लिए "shall" का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है कि भारत का राष्ट्रपति अपने पद पर **सदैव विद्यमान रहेगा**। यह पद न तो कभी रिक्त रखा जा सकता है और न ही इसे कभी समाप्त किया जा सकता है। राष्ट्रपति का चुनाव, इसके कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व ही संपन्न करवाए जाने का प्रावधान किया गया है। अस्वस्थता के कारण राष्ट्रपति के अनुपस्थिति होने आदि के मामले में उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति का पद धारण करेगा जब तक कि राष्ट्रपति अपना पदभार पुनर्ग्रहण न करें।

1.2. स्थायी कार्यपालिका एवं अस्थायी कार्यपालिका

अनुच्छेद 53 (1) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।

विवरण

- राष्ट्रपति, अपनी इस कार्यपालिकीय शक्ति का प्रयोग मुख्यतः दो प्रकार के अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है:
    - स्थायी कार्यपालिका या नौकरशाही
    - अस्थायी या राजनीतिक कार्यपालिका

स्थायी कार्यपालिका या नौकरशाही

- स्थायी कार्यपालिका के अंतर्गत अखिल भारतीय सेवाएँ (IAS, IPS, IFoS), प्रांतीय सेवाएँ, स्थानीय सरकारों के कर्मचारी और लोक उपक्रमों के तकनीकी एवं प्रबंधकीय अधिकारी सम्मिलित होते हैं।

नौकरशाही अथवा स्थायी कार्यपालिका की आवश्यकता क्यों?

- संविधान निर्माता ब्रिटिश शासन के दौरान अपने अनुभव से गैर-राजनीतिक एवं व्यावसायिक रूप से दक्ष प्रशासनिक मशीनरी के महत्व को समझते थे।
- नौकरशाही, वह माध्यम है जिसके द्वारा सरकार की लोकहितकारी नीतियाँ जनता तक पहुँचती हैं।
- सरकार के स्थायी कर्मचारी के रूप में कार्य करने वाले ये प्रशिक्षित एवं प्रवीण अधिकारी, नीतियों के निर्माण व उसे लागू करने में मंत्रियों का सहयोग करते हैं।
- वर्तमान वैश्विक परिस्थितियों में नीति-निर्माण एक अत्यंत ही जटिल कार्य बन गया है जिसके लिए विशेषज्ञता एवं गहन ज्ञान की आवश्यकता होती है। अत: इसके लिए एक दक्ष एवं स्थायी कार्यपालिका की आवश्यकता है।
- राजनीतिक या अस्थायी कार्यपालिका का ध्यान सामान्यत: नीति-निर्माण एवं क्रियान्वयन में अल्पकालीन राजनीतिक लाभ पर केंद्रित होता है। जबकि, स्थायी कार्यपालिका दीर्घकालीन सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ही नीति-निर्माण एवं क्रियान्वयन में मंत्रियों को परामर्श प्रदान करती है।
- सरकारों के परिवर्तित होने के बावजूद भी स्थायी कार्यपालिका, नीतियों में निरंतरता एवं लोक प्रशासन में एकरूपता बनाए रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है।

स्थायी कार्यपालिका एवं राजनीतिक कार्यपालिका के मध्य संबंध

- संसदीय शासन प्रणाली में, राजनीतिक कार्यपालिका (मंत्रीपरिषद, प्रधानमंत्री सहित) सरकार की प्रभारी होती है एवं स्थायी कार्यपालिका या प्रशासन इनके नियंत्रण एवं देखरेख में होता है।
- यह मंत्री की जिम्मेदारी है कि वह प्रशासन पर राजनीतिक नियंत्रण रखे।
- राजनीतिक कार्यपालिका, जहाँ सामूहिक रूप से लोकसभा या विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है, वहीं स्थायी कार्यपालिका या नौकरशाही अपने संबंधित विभागों के मंत्रियों के प्रति उत्तरदायी होती है।
- नौकरशाही से यह अपेक्षा की जाती है कि यह राजनीतिक रूप से तटस्थ हो, अर्थात् नौकरशाही, नीतियों पर विचार करते समय किसी राजनीतिक दृष्टिकोण या विचारधारा का समर्थन नहीं करेगी।
- लोकतंत्र में सरकारों के बदलने पर नौकरशाही की जिम्मेदारी है कि वह नई सरकार को अपनी नीति बनाने एवं लागू करने में सहायता करे।

शासन की राष्ट्रपतीय प्रणाली

हमारा संविधान राष्ट्रपति के पद का सृजन करता है किंतु शासन की राष्ट्रपतीय प्रणाली की नहीं। शासन की राष्ट्रपतीय और संसदीय प्रणाली को समझना एवं उनके भेद जानना आवश्यक है।

राष्ट्रपतीय प्रणाली के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं:

- राष्ट्रपति राज्य का अध्यक्ष होता है और साथ ही शासनाध्यक्ष भी। वह राज्य व्यवस्था में शीर्षस्थ होता है। वह वास्तविक कार्यपालक होता है, न की नाममात्र का। उसमें जो शक्तियाँ निहित हैं उनका वह व्यवहार में और वास्तव में उपयोग करता है।
- सभी कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होती हैं। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मंत्रिमंडल उसे केवल सलाह प्रदान करता है, लेकिन वह सलाह मानने हेतु बाध्य नहीं है। वह सलाह प्राप्त कर स्वविवेक से कार्य कर सकता है।
- राष्ट्रपति जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है। राष्ट्रपति के पदावधि विधायिका की इच्छा पर निर्भर नहीं है। विधायिका न तो राष्ट्रपति का निर्वाचन करता है और न ही उसे उसके पद से हटा सकता है।
- राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल के सदस्य, विधायिका के सदस्य नहीं होते हैं। राष्ट्रपति विधायिका को उसकी अवधि पूर्ण होने से पूर्व उसका विघटन नहीं कर सकता। विधायिका राष्ट्रपति की पदावधि को महाभियोग द्वारा ही समाप्त कर सकती है अन्यथा नहीं। इस प्रकार राष्ट्रपति और विधायिका निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होते हैं और एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। एक का दूसरे में हस्तक्षेप नहीं होता।

1.3. राष्ट्रपति पद के लिए अर्हताएँ

अनुच्छेद 58 के अनुसार राष्ट्रपति पद के चुनाव के लिए किसी व्यक्ति को निम्नलिखित अर्हताओं को पूर्ण करना आवश्यक है:

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
- वह लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने के योग्य हो।
- वह संघ सरकार अथवा किसी राज्य सरकार अथवा किसी स्थानीय प्राधिकरण अथवा किसी सार्वजनिक प्राधिकरण में लाभ के पद पर न हो।

1.4. राष्ट्रपति की पदावधि (Term of Office)

- **अनुच्छेद 56 के अनुसार**, राष्ट्रपति की पदावधि, उसके पद धारण करने की तिथि से पांच वर्ष तक होती है। हालाँकि, वह निम्नलिखित रीतियों से अपने कार्यकाल के दौरान ही पदमुक्त हो सकता है:
- भारत के उपराष्ट्रपति को लिखित त्यागपत्र सौंपकर।
- संविधान का अतिक्रमण करने पर अनुच्छेद 61 में वर्णित महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा उसे पदमुक्त किया जा सकता है। अनुच्छेद 61(1) के तहत, महाभियोग हेतु एकमात्र आधार 'संविधान का अतिक्रमण' उल्लिखित है।
- यदि राष्ट्रपति का पद उसकी मृत्यु, त्यागपत्र, निष्कासन अथवा किन्हीं अन्य कारणों से रिक्त हो तो उपराष्ट्रपति, नये राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। यदि उपराष्ट्रपति का पद रिक्त हो, तो भारत का मुख्य न्यायाधीश (और यदि यह भी पद रिक्त हो तो उच्चतम न्यायालय का वरिष्ठतम न्यायाधीश) कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा।
- पद रिक्त होने की तिथि से छह माह के भीतर नए राष्ट्रपति का चुनाव करवाया जाना आवश्यक है। वर्तमान या भूतपूर्व राष्ट्रपति, संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए इस पद के लिए पुनर्निर्वाचन का पात्र होगा।

1.5. निर्वाचन प्रणाली

- भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन (अनुच्छेद 55) के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुरूप एकल संक्रमणीय मत को अपनाया गया है। इस पद्धति के तहत निर्वाचन, गुप्त मतदान के माध्यम से एक निर्वाचक मंडल द्वारा किया जाता है।
- भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप से अप्रत्यक्ष चुनाव प्रक्रिया को अपनाया गया है। (अमेरिकी राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रक्रिया सैद्धांतिक रूप से अप्रत्यक्ष जबकि व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष है।)

1.5.1. निर्वाचक मंडल (Electoral College)

निर्वाचक मंडल में सम्मिलित होते हैं:

- संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य।
- राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य।
- दिल्ली और पुदुचेरी संघ शासित प्रदेशों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य (70वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा शामिल)।

इसका अर्थ है कि निम्नलिखित सदस्यों को राष्ट्रपति चुनाव में मतदान करने की अनुमति **नहीं** है:

- लोकसभा के मनोनीत सदस्यों को
- राज्यसभा के मनोनीत सदस्यों को
- राज्य विधानसभा के मनोनीत सदस्यों को
- राज्यों की विधानपरिषदों के निर्वाचित एवं मनोनीत सदस्यों को

- राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव से संबंधित मामलों को विधि द्वारा विनियमित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम के तहत राष्ट्रपति के पद के लिए नामांकन हेतु एक उम्मीदवार के पास कम से कम 50 प्रस्तावक (electors as proposers) एवं 50 अनुमोदक (electors as seconders) {निर्वाचक (electors) से यहाँ तात्पर्य राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल (electoral college) के सदस्यों से है} होने चाहिए।
- जहाँ तक संभव हो, प्रत्येक राज्य की जनसंख्या एवं विधानसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में एकरूपता होनी चाहिए। साथ ही, सभी राज्यों एवं संघ के मध्य भी समानता होनी चाहिए (अनुच्छेद 55)। दूसरी शर्त यह सुनिश्चित करती है कि राष्ट्रपति चुनाव के निर्वाचक मंडल में राज्यों के विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों का समग्र मत मूल्य, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के मत मूल्यों के लगभग बराबर हो। इस प्रकार, राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधि होने के साथ-साथ विभिन्न राज्यों के लोगों का भी प्रतिनिधि होगा।
- विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में एकरूपता सुनिश्चित करने के क्रम में यह प्रावधान किया गया है कि एक राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य उस राज्य की जनसंख्या को, उस राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों एवं 1000 के गुणनफल से प्राप्त संख्या द्वारा भाग देने पर प्राप्त संख्या के समान होता है। सरल शब्दों में निर्वाचक मंडल के प्रत्येक सदस्य, जो किसी राज्य विधानसभा का एक सदस्य है, के मतों के मूल्य की गणना निम्नलिखित सूत्र से की जाती है:

एक विधायक के मत का मूल्य = राज्य की कुल जनसंख्या / राज्य विधानसभा के निर्वाचित कुल सदस्य * 1000

(0.5 से बड़ी भिन्न संख्या को 01 एवं अन्य भिन्नों को शून्य माना जाएगा।)

निम्नलिखित उदाहरण के माध्यम से इस मतगणना विधि को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है:

- मान लीजिए, अविभाजित आंध्रप्रदेश राज्य की जनसंख्या 37,129,852 और विधानसभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या 276 है। राष्ट्रपति के चुनाव में प्रत्येक निर्वाचित सदस्य द्वारा डाले जाने वाले मतों का मूल्य ज्ञात करने के लिए हम पहले 37,129,852 (राज्य की जनसंख्या) को 276 (कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या) से विभाजित करेंगे और इससे प्राप्त भागफल को 1/1000 से गुणन करेंगे। इससे यह 134,528.449/1000 भागफल प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों का मूल्य 134,528.449/1000 अर्थात् **135** (यहाँ दशमलव संख्या 0.528 जो 0.5 से अधिक है, इसलिए 01 मानी जाएगी) होगा।
- संसद के प्रत्येक सदन के निर्वाचित सदस्य (MP) के मतों का मूल्य, सभी राज्यों के विधायकों के मतों के मूल्य को संसद के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग देने पर प्राप्त होता है।

एक संसद सदस्य के मतों का मूल्य = सभी राज्यों के विधायकों के मतों का कुल मूल्य / संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या
(0.5 से बड़ी भिन्न संख्या को 01 एवं अन्य भिन्नों को शून्य माना जाएगा।)

- राष्ट्रपति का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत एवं गुप्त मतदान द्वारा होता है जो सफल उम्मीदवार की पूर्ण बहुमत से जीत सुनिश्चित करता है। किसी उम्मीदवार को, राष्ट्रपति के चुनाव में निर्वाचित होने के लिए, मतों का एक निश्चित कोटा प्राप्त करना आवश्यक है। मतों का यह निश्चित कोटा, कुल वैध मतों की संख्या में, निर्वाचित होने वाले कुल उम्मीदवारों (यहाँ केवल एक ही उम्मीदवार राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होता है) की संख्या में एक जोड़कर प्राप्त संख्या द्वारा, भाग देने पर भागफल में एक जोड़कर प्राप्त होता है। इस सूत्र को निम्नलिखित तरीके से दर्शाया जा सकता है:

निश्चित मतों का कोटा = [कुल वैध मत / 1+1= (2)] + 1

1.5.2. निर्वाचन प्रक्रिया

- निर्वाचक मंडल के प्रत्येक सदस्य को केवल एक मतपत्र दिया जाता है। मतदाता को मतदान करते समय उम्मीदवारों के नाम के आगे अपनी वरीयता 1, 2, 3, 4 आदि अंकित करनी होती है। इस प्रकार मतदाता उम्मीदवारों की उतनी वरीयता दे सकता है, जितने उम्मीदवार होते हैं।
- प्रथम चरण में, प्रथम वरीयता के मतों की गणना होती है। यदि उम्मीदवार निर्धारित मत प्राप्त कर लेता है तो वह निर्वाचित घोषित हो जाता है अन्यथा मतों के स्थानान्तरण (transfer) की प्रक्रिया अपनाई जाती है। प्रथम वरीयता के न्यूनतम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार के मतों को रद्द कर दिया जाता है तथा इसके द्वितीय वरीयता के मत अन्य उम्मीदवारों के प्रथम वरीयता के मतों में स्थानांतरित कर दिए जाते हैं, यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कोई उम्मीदवार निर्धारित मत प्राप्त नहीं कर लेता।

1.5.3. निर्वाचन से संबंधित विवाद

- **अनुच्छेद 71** के अनुसार, राष्ट्रपति चुनाव से संबंधित सभी विवादों की जांच व निर्णय **भारत के उच्चतम न्यायालय** (अन्य न्यायालयों का इस पर कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है) द्वारा किए जायेंगे, जिसका अधिकार क्षेत्र अनन्य और अंतिम होगा। राष्ट्रपति पद के चुनाव से संबंधित किसी चुनाव याचिका को चुनाव परिणाम की घोषणा के प्रकाशन की तिथि से 30 दिनों के भीतर उच्चतम

न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे चुनाव में भाग लेने वाले किसी भी उम्मीदवार द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है या याचिकाकर्ता के रूप में किन्हीं बीस या उससे अधिक मतदाताओं को एक साथ शामिल कर भी याचिका प्रस्तुत की जा सकती है। याचिका केवल दो आधारों पर दी जा सकती है:

- उम्मीदवार का नामांकन गलत तरीके से खारिज किया गया हो, या
- निर्वाचित उम्मीदवार को गलत तरीके से विजयी घोषित किया गया हो।

- चुनाव को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि निर्वाचक मंडल अपूर्ण (निर्वाचक मंडल के किसी सदस्य का पद रिक्त होने पर) है।
- उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्वाचन को अवैध घोषित किए जाने की स्थिति में, उच्चतम न्यायालय के निर्णय से पूर्व राष्ट्रपति द्वारा किए गए कार्य अवैध नहीं माने जायेंगे तथा प्रभावी बने रहेंगे।

1.5.4. समालोचनात्मक विश्लेषण

- इस अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली की कुछ विद्वानों द्वारा आलोचना की गई क्योंकि यह लोकतंत्र के अन्तर्निहित आदर्श सार्वभौमिक मताधिकार का पालन नहीं करती है। लेकिन संविधान निर्माताओं द्वारा, निम्नलिखित आधारों पर अप्रत्यक्ष चुनाव का समर्थन किया गया:
  - भारत जैसे देश में विस्तृत निर्वाचक मंडल द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव से समय, ऊर्जा और धन का अत्यधिक अपव्यय होगा।
  - संविधान द्वारा प्रदत्त उत्तरदायी सरकार की प्रणाली के तहत वास्तविक शक्ति मंत्रिमंडल में निहित होगी। अतः प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति को वास्तविक शक्तियाँ प्रदान न करना, एक अव्यवस्था होगी।
- संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था कि राष्ट्रपति का चुनाव केवल संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होना चाहिए। संविधान निर्माताओं ने इसे प्राथमिकता नहीं दी क्योंकि संसद में एक दल का बहुमत होता है, जो निश्चित तौर पर उसी दल के उम्मीदवार को चुनेगा और ऐसा राष्ट्रपति भारत के सभी राज्यों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। वहीं दूसरी तरफ, वर्तमान व्यवस्था में राष्ट्रपति संघ तथा सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व करता है।
- इसके अतिरिक्त, संविधान सभा में यह कहा गया कि राष्ट्रपति के चुनाव में **'आनुपातिक प्रतिनिधित्व'** शब्द का प्रयोग गलत है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का प्रयोग दो अथवा अधिक व्यक्तियों के निर्वाचन (बहुसदस्यीय निर्वाचन) हेतु होता है। राष्ट्रपति के मामले में, पद केवल एक ही है। बेहतर होता कि इसे प्राथमिक अथवा वैकल्पिक व्यवस्था कहा जाता। इसी प्रकार 'एकल संक्रमणीय मत' के अर्थ की इस आधार पर आलोचना की गई कि किसी भी मतदाता का मत एकल न होकर बहुसंख्यक होता है।

1.6. राष्ट्रपति के पद के लिए अन्य शर्तें

- राष्ट्रपति को संसद के किसी भी सदन अथवा राज्य विधायिका का सदस्य नहीं होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यदि ऐसा कोई सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित होता है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन में अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तिथि से रिक्त कर दिया है।
- राष्ट्रपति कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा।
- राष्ट्रपति, बिना किराये का भुगतान किए अपने शासकीय निवासों के उपयोग का हक़दार होगा।
- राष्ट्रपति की परिलब्धियाँ और भत्ते उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किये जायेंगे।

रिक्तता की स्थिति	राष्ट्रपति के पद पर कौन कार्य करेगा
पाँच वर्षीय कार्यकाल की समाप्ति	कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व चुनाव करवा लेना आवश्यक है। यदि चुनाव में किसी कारण कोई देरी होती है तो वर्तमान राष्ट्रपति अपने पद पर बना रहेगा, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी कार्यभार ग्रहण न कर ले।
उसकी मृत्यु द्वारा	उपराष्ट्रपति, नए राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। चुनाव, पद रिक्त होने की तिथि से छह माह के भीतर हो जाना चाहिए।
उसके त्याग पत्र द्वारा	उपराष्ट्रपति, नए राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। चुनाव, पद रिक्त होने की तिथि से छह माह के भीतर हो जाना चाहिए।
महाभियोग द्वारा उसे पद से हटाने पर	उपराष्ट्रपति, नए राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। चुनाव, पद रिक्त होने की तिथि से छह माह के भीतर हो जाना चाहिए।
अन्यथा, जैसे यदि वह पद धारण करने के लिए अयोग्य हो गया हो	उपराष्ट्रपति, नए राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। चुनाव, पद रिक्त होने की तिथि से छह माह के भीतर हो जाना चाहिए।
अस्वस्थता या भारत में अनुपस्थिति पर	उपराष्ट्रपति उसके पुनः पद ग्रहण करने तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा।

नोट: यदि उपराष्ट्रपति का पद रिक्त हो तो भारत का मुख्य न्यायाधीश (अथवा उसका भी पद रिक्त होने पर उच्चतम न्यायालय का वरिष्ठतम न्यायाधीश) कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा।
उल्लेखनीय है कि राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन की मृत्यु से पद रिक्त होने के कारण राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे उप-राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि ने जब 1969 में उप राष्ट्रपति के पद से त्यागपत्र दे दिया था, तब भारत के मुख्य न्यायाधीश श्री एम. हिदायतुल्ला ने राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया।

1.7. राष्ट्रपति पर महाभियोग (अनुच्छेद 61)

- महाभियोग संसद में संपन्न होने वाली एक **अर्द्ध-न्यायिक प्रक्रिया** है। राष्ट्रपति को **'संविधान का अतिक्रमण'** करने पर उसके पद से महाभियोग प्रक्रिया द्वारा हटाया जा सकता है। हालाँकि संविधान, 'संविधान का अतिक्रमण' वाक्यांश के अर्थ को परिभाषित नहीं करता।
- राष्ट्रपति के विरुद्ध संविधान के अतिक्रमण का आरोप संसद के किसी भी सदन में प्रारंभ किया जा सकता है। एक सदन द्वारा इस प्रकार का आरोप लगाए जाने पर दूसरे सदन द्वारा उस आरोप का अन्वेषण किया जायेगा।

- राष्ट्रपति के विरूद्ध आरोप संसद के किसी भी सदन में प्रारंभ किए जा सकते हैं। आरोप एक प्रस्थापना के रूप में होगा और प्रस्थापना संकल्प के रूप में होगी। संकल्प को प्रस्तावित करने की सूचना पर सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होंगे। इस हेतु 14 दिनों की अग्रिम सूचना देना आवश्यक है। संकल्प उस सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम दो तिहाई बहुमत से पारित किया जाना चाहिए।
- जब एक सदन द्वारा इस प्रकार आरोप लगाया जाता है तो दूसरे सदन द्वारा उसका अन्वेषण किया जायेगा। राष्ट्रपति को ऐसे अन्वेषण में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व करवाने का अधिकार होगा, अर्थात् राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कोई अधिवक्ता या अन्य व्यक्ति उपस्थित हो सकता है। सदन अन्वेषण का कार्य किसी न्यायालय या अधिकरण को प्रत्यायोजित कर सकता है। यदि अन्वेषण के पश्चात् सदन दो तिहाई बहुमत से संकल्प पारित करके यह घोषित कर देता है कि आरोप सिद्ध हो गया है तो ऐसे संकल्प का प्रभाव उसके पारित किए जाने की तिथि से राष्ट्रपति को उसके पद से हटाया जायेगा।

> अमरीका में सीनेट को महाभियोग के विचारण का अधिकार है, कांग्रेस को नहीं। विचारण की अध्यक्षता उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति करता है। हटाए जाने का संकल्प विचारण में उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित होता है।

- चूँकि संविधान राष्ट्रपति को हटाने का आधार और तरीका प्रदान करता है, अतः अनुच्छेद 56 और 61 की शर्तों के अनुरूप महाभियोग के अतिरिक्त उसे और किसी भी तरीके से नहीं हटाया जा सकता है।

स्पष्टीकरण

- 'महाभियोग' इतना असाधारण शब्द है कि इसको गलत समझा जा सकता है। एक सामान्य गलत अवधारणा यह है कि इसे 'पद से जबरन हटाना' समझा जाता है।
- 'महाभियोग' शब्द ब्रिटिश परंपरा से व्युत्पन्नित है, जिसका अर्थ किसी सरकारी अधिकारी को बिना किसी सरकारी अनुबंध के तथा महाभियोग द्वारा दोषसिद्ध हो जाने पर उसके पद से हटाना है। भारत में, यह एक अर्द्ध-न्यायिक प्रक्रिया है और केवल राष्ट्रपति को संविधान के अतिक्रमण के आधार पर महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।
- संसद के दोनों सदनों के नामांकित सदस्य जिन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव में भाग नहीं लिया था, महाभियोग में भाग ले सकते हैं।
- राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य तथा दिल्ली और पुदुचेरी केन्द्र-शासित प्रदेशों की विधानसभाओं के सदस्य महाभियोग प्रस्ताव में भाग नहीं लेते हैं, भले ही उन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लिया था।
- अभी तक भारत में किसी भी राष्ट्रपति पर महाभियोग नहीं चलाया गया है।

1.8. राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कर्तव्य

- संविधान के अनुसार, संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। 'कार्यपालिका शक्ति' मुख्य रूप से विधायिका द्वारा पारित कानूनों के क्रियान्वयन को दर्शाती है। राज्य के कार्यों में अत्यधिक विस्तार होने के कारण, सभी अवशिष्ट कार्यों को व्यावहारिक रूप से कार्यपालिका को सौंप दिया गया है। कार्यपालिका शक्ति को संक्षिप्त रूप में, उन मामलों को छोड़कर जिसके लिए संविधान ने किसी और को अधिकृत किया है, शेष सभी के लिए, 'सरकार के कार्यों का पालन करने की शक्ति' या 'राज्य के मामलों का प्रशासन' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस प्रकार, कार्यपालिका शक्तियों में प्रमुख रूप से नीति-निर्माण, नीति का क्रियान्वयन, व्यवस्था को बनाए

रखना, सामाजिक और आर्थिक कल्याण को बढ़ावा देना, विदेश नीति की रूप रेखा तैयार करना, राज्य के सामान्य प्रशासन की देखरेख करना आदि शामिल हैं।

राष्ट्रपति की शक्तियों पर संवैधानिक सीमाएँ

- अनुच्छेद 74(1) के अनुसार, भारत का राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह पर करेगा।
- अनुच्छेद 75(1) स्पष्ट रूप से यह प्रावधान करता है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह पर करेगा। यदि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री द्वारा उपलब्ध करवायी गयी सूची से पृथक किसी अन्य व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करता है तो यह इस प्रावधान का उल्लंघन होगा। यदि राष्ट्रपति संविधान के अनिवार्य प्रावधानों का उल्लंघन करता है तो वह महाभियोग की प्रक्रिया के तहत पद से हटाये जाने के लिए उत्तरदायी होगा।

42वाँ संविधान संशोधन

- वर्ष 1976 से पूर्व, राष्ट्रपति संवैधानिक प्रावधानों के तहत मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करने के लिए बाध्य नहीं थी। यद्यपि न्यायिक रूप से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख है न कि वास्तविक प्रमुख तथा वह मंत्रिपरिषद की सलाह को मानने के लिए बाध्य है, बशर्ते उन्हें लोकसभा में विश्वास-मत प्राप्त हो। 42वें संविधान संशोधन, 1976 के तहत अनुच्छेद 74(1) में संशोधन करके इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

अनुच्छेद 74(1) संशोधन के बाद अब इस रूप में है:

"राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा तथा राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा।"

- यह अनुच्छेद राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करने हेतु **बाध्य करता** है।
- जनता दल की सरकार ने 42वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 74(1) के संशोधित स्वरूप को बनाए रखा। लेकिन, 44वें संशोधन अधिनियम, द्वारा एक अन्य प्रावधान जोड़ा गया जो इस प्रकार है:

"राष्ट्रपति ऐसी सलाह पर पुनर्विचार के लिए अपेक्षा कर सकेगा और पुनर्विचार के पश्चात् दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा।"

- 44वें संविधान संशोधन के पश्चात वर्तमान स्थिति यह है कि राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में गठित मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार ही कार्य करना होगा। इसलिए, इस तरह की सलाह को अस्वीकार करने की स्थिति में उस पर संविधान के अतिक्रमण के मामले के आधार पर महाभियोग चलाया जा सकेगा। लेकिन, यह राष्ट्रपति की शक्तियों के अधीन है कि वह कुछ विशेष मामलों में मंत्रिपरिषद के द्वारा दी गई सलाह को पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकेगा।
- हालाँकि, यदि मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को बिना संशोधन के ही सलाह को पुन:वापस भेज दे तो राष्ट्रपति इसे मानने के लिए बाध्य है। किसी एक मामले में पुनर्विचार के लिए वापस करने की शक्ति का प्रयोग एक बार ही किया जा सकता है। राष्ट्रपति द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों व कार्यों को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत रखा जा सकता है:

1.8.1. कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers)

- **अनुच्छेद 53** राष्ट्रपति को संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ प्रदान करता है। औपचारिक रूप से सभी कार्य उसी के नाम पर किए जाते हैं। इन शक्तियों का प्रयोग उसके द्वारा प्रत्यक्ष रूप से या संविधान द्वारा प्रदत्त उसके अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से किया जाता है।

- राष्ट्रपति अपने नाम से निर्मित किये जाने वाले तथा लागू किये जाने वाले आदेशों के लिए ऐसे नियम बना सकता है, जिनकी पूर्ति की स्थिति में वे आदेश वैध एवं प्रमाणित हों।
- वह प्रधानमंत्री एवं अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है तथा सभी मंत्री उसके प्रसादपर्यंत कार्य करते हैं।
- वह भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति करता है तथा उसके वेतन आदि का निर्धारण करता है। महान्यायवादी भी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत कार्य करता है।
- राष्ट्रपति निम्नलिखित पदाधिकारियों को नियुक्त करता है:
    - भारत का प्रधानमंत्री और संघ के अन्य मंत्री
    - भारत का महान्यायवादी
    - भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक
    - मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्त
    - संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य
    - वित्त आयोग के अध्यक्ष और सदस्य
    - उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश
    - राज्यपाल, उप-राज्यपाल और प्रशासक
    - अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी
    - भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी
- कुछ नियुक्तियों में, राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्तियों से सलाह लेता है। उदाहरण के लिए, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से सलाह लेता है और उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के ऐसे अन्य न्यायाधीशों, जिन्हें वह आवश्यक समझे, सलाह लेगा। {अनुच्छेद 124(2)}
- ऊपर निर्दिष्ट अधिकारियों की नियुक्ति की शक्ति के अतिरिक्त, भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को अवर अधिकारियों की नियुक्ति की शक्ति नहीं है जैसा कि अमेरिकी संविधान में पाया जाता है। इस प्रकार, भारतीय संविधान अमेरिका के समान अवांछनीय **'लूट प्रणाली (Spoil system)'** से संरक्षण प्रदन करता है। यह उच्च अधिकारियों की नियुक्ति को संसद के लिए एक विधायी विषय बना देता है तथा इसके तहत राष्ट्रपति के लिए नियुक्ति से संबंधित मामलों में (कुछ निर्दिष्ट मामलों को छोड़कर) लोक सेवा आयोग से सलाह लेना अनिवार्य है।
- राष्ट्रपति, संघ के प्रशासन के मामलों से संबंधित और विधायिका से संबंधित किसी भी प्रस्ताव की जानकारी की मांग कर सकता है।
- वह किसी ऐसे मामले, जिसमें किसी मंत्री द्वारा निर्णय लिया गया है लेकिन मंत्रिपरिषद ने उस पर विचार नहीं किया है, के संबंध में प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद की राय प्रस्तुत करने को कह सकता है।
- वह अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति की जांच के लिए एक आयोग नियुक्त कर सकता है।
- वह केंद्र-राज्य और अंतर राज्यीय सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक अंतरराज्यीय परिषद का गठन कर सकता है।
- वह स्वयं द्वारा नियुक्त प्रशासकों के माध्यम से केन्द्र-शासित प्रदेशों के प्रशासन प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखता है।
- वह किसी क्षेत्र को अनुसूचित क्षेत्र घोषित कर सकता है। राष्ट्रपति को अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन की शक्तियाँ प्राप्त हैं।

अनुसूचित/जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में राष्ट्रपति की शक्तियाँ:

- किसी क्षेत्र को अनुसूचित क्षेत्र के रूप में घोषित करने की शक्ति।
- किसी क्षेत्र के अनुसूचित क्षेत्र न रहने की घोषणा करने की शक्ति।

- जनजातीय सलाहकार समिति के गठन की शक्ति।
- किसी राज्य के अनुसूचित क्षेत्र में शांति और सुशासन के लिए, राज्यपाल क़ानून बना सकता है। ऐसे कानून तब तक प्रभावी नहीं होंगें जब तक कि उसे राष्ट्रपति के समक्ष विचार के लिए प्रस्तुत न किया गया हो और वह उस पर अपनी सहमति प्रदान न कर दे।
- राष्ट्रपति, क्षेत्र के प्रशासन पर राज्यपाल से रिपोर्ट तैयार करने की मांग कर सकता है।
- राष्ट्रपति ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में निर्देश जारी कर सकता है।

संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार

अनुच्छेद 73 प्रावधान करता है:

1. उन सभी विषयों पर, जिन पर संसद को क़ानून बनाने का अधिकार है, संघीय कार्यपालिका को भी ऐसी ही शक्तियाँ प्राप्त होंगी।
2. किसी संधि या करार के आधार पर भारत सरकार द्वारा प्रयोक्तव्य अधिकारों, प्राधिकार और आधिकारिता के प्रयोग तक।
3. समवर्ती सूची के संबंध में, सामान्यतया कार्यकारी शक्तियाँ राज्यों को ही प्राप्त हैं। लेकिन, यदि संसद विशेष रूप से संघ की कार्यकारी को इस पर क़ानून बनाने का अधिकार प्रदान कर दे तो संघ अपने इस अधिकार का प्रयोग कर सकेगा।

इसके अतिरिक्त, **53 (3) इस अनुच्छेद की कोई बात-**

(क) *किसी विद्यमान विधि द्वारा किसी राज्य की सरकार या अन्य प्राधिकारी को प्रदान किए गए कृत्य राष्ट्रपति को अंतरित करने वाली नहीं समझी जाएगी; या*

(ख) *राष्ट्रपति से भिन्न अन्य प्राधिकारियों को विधि द्वारा कृत्य प्रदान करने से संसद को निवारित नहीं करेगी।*

राष्ट्रपति द्वारा कार्यकारी शक्तियों के प्रयोग का तरीका

- अनुच्छेद 53(1) के तहत प्रावधान किया गया है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होंगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।
- यहाँ, अधीनस्थ अधिकारियों में मंत्रिपरिषद भी शामिल है।
- विशेष रूप से, इस अनुच्छेद को अनुच्छेद 74 के साथ समझा जाना चाहिए जिसके अनुसार राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।
- इस अनुच्छेद के अनुसार शब्द "होगी" का आशय है कि संविधान ऐसी स्थिति का प्रावधान नहीं करता है कि राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह के बिना कार्य करे। इस मामले में, यदि सरकार ने बहुमत खो दिया हो तो राष्ट्रपति एक कार्यवाहक सरकार का गठन कर सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह मौजूदा सरकार को आगामी सरकार के गठन होने तक पद पर बने रहने के लिए कह सकता है।

कार्यों के आवंटन और संपादन के संबंध में राष्ट्रपति की शक्तियाँ

अनुच्छेद 77 प्रावधान करता है कि:

1. भारत सरकार के सभी कार्यकारी कार्य राष्ट्रपति के नाम से किये जाएँगे।
2. राष्ट्रपति के नाम से किए गए एवं निष्पादित आदेशों और अन्य लिखतों को ऐसी रीति से प्रमाणित किया जायेगा जो राष्ट्रपति द्वारा बनाए जाने वाले नियमों में विनिर्दिष्ट किया जाए और इस प्रकार प्रमाणित आदेश की विधिमान्यता को प्रश्नगत नहीं किया जायेगा कि वह राष्ट्रपति द्वारा निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है।
3. राष्ट्रपति, भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधाजनक किए जाने के लिए और मंत्रियों में उक्त कार्य के आवंटन के लिए नियम बनाएगा।

हालाँकि, राष्ट्रपति की कार्यकारी शक्तियाँ उसकी अन्य शक्तियों की तरह ही मंत्रिपरिषद (जिसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री करते हैं) की सलाह के अधीन हैं।

1.8.2. विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)

राष्ट्रपति, भारतीय संसद का अभिन्न अंग है। उसे निम्नलिखित विधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं:

- राष्ट्रपति, संसद के सत्र को आहूत या सत्रावसान कर सकता है और लोकसभा को विघटित कर सकता है। वह संसद के संयुक्त अधिवेशन को आहूत कर सकता है (साधारण विधेयक के मामले में) जिसकी अध्यक्षता लोकसभा अध्यक्ष द्वारा की जाती है।
- वह प्रत्येक नए आम चुनाव के बाद तथा प्रति वर्ष संसद के प्रथम अधिवेशन को संबोधित करता है। इसके अतिरिक्त, वह संसद के किसी भी सदन को लंबित विधेयक, राष्ट्रीय, संवैधानिक या सार्वजनिक हित आदि से संबंधित किसी महत्वपूर्ण मुद्दे पर सन्देश भेज सकता है।
- भारत के राष्ट्रपति को आंशिक रूप से संसद का गठन करने की शक्ति प्राप्त है क्योंकि वह संसद के दोनों सदनों के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। यदि उसे प्रतीत हो कि आंग्ल भारतीय समुदाय का लोकसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह इस समुदाय के **दो व्यक्तियों** को मनोनीत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, वह राज्यसभा में साहित्य, विज्ञान, कला व समाज सेवा में विशेष ज्ञान रखने वाले **12 व्यक्तियों** को मनोनीत कर सकता है।
- जब कोई विधेयक संसद से पारित होने के बाद राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है तो राष्ट्रपति उसे:
    - अपनी स्वीकृति देता है, या
    - अपनी स्वीकृति सुरक्षित रखता है, या
    - विधेयक को (यदि वह धन विधेयक नहीं हो) संसद को पुनर्विचार के लिए लौटा देता है।
- हालाँकि, यदि विधेयक को संशोधित करके या बिना संशोधन के राष्ट्रपति के पास पुनः वापस भेजा जाता है तो उसे इस पर अवश्य ही अपनी सहमति देनी होगी।
- राष्ट्रपति द्वारा किसी धन विधेयक को पुनर्विचार हेतु सदन में वापस नहीं भेजा जा सकता। राष्ट्रपति संविधान संशोधन विधेयक को स्वीकृति देने के लिए बाध्य है क्योंकि इसे संसद द्वारा निर्धारित विशेष बहुमत से पारित कर उसके पास भेजा जाता है और जहाँ आवश्यक हो, राज्य विधानमंडल की अपेक्षित संख्या द्वारा इसकी पुष्टि की जाती है।
- जब राज्यपाल, राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखता है तो राष्ट्रपति उसे:
    - अपनी स्वीकृति देता है, या
    - अपनी स्वीकृति सुरक्षित रखता है, या
    - राज्यपाल को निर्देश देता है कि विधेयक को (यदि वह धन विधेयक नहीं हो) पुनर्विचार के लिए राज्य विधानमंडल को लौटा दे। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राज्य विधानमंडल द्वारा पुनः पारित विधेयक को अपनी स्वीकृति प्रदान करे। उसे पुनः पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है।
- राष्ट्रपति संसद के सत्रावसान की अवधि में **अध्यादेश (अनुच्छेद 123)** जारी कर सकता है (जब संसद के दोनों सदनों का सत्र नहीं चल रहा हो या संसद के किसी भी एक सदन का सत्र नहीं चल रहा हो)। अध्यादेश एक आकस्मिक विधान के समान होता है। जब कोई क़ानून ऐसे समय में आवश्यक हो जब विधायिका का सत्र न चल रह हो तो कार्यपालिका के अनुरोध पर राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है जिसका प्रभाव एक अधिनियम की भाँति होता है। हालाँकि, ऐसे प्रत्येक अध्यादेश को संसद की आगामी बैठक के **छह हफ्ते** के भीतर संसद द्वारा अनुमोदित करना आवश्यक है। संसद की बैठक के छह हफ्ते के बाद यदि इसे संसद द्वारा पारित न किया गया (दोनों सदनों के बैठक की तिथि में यदि अंतर हो तो दोनों तिथियों में से अंतिम तिथि से छह हफ़्तों की गणना होगी) तो यह व्यपगत हो जायेगा। अध्यादेश स्वतः व्यपगत हो जाता है, यदि इसे छह

हफ्तों की समाप्ति के पूर्व एक संकल्प द्वारा वापस ले लिया जाए। राष्ट्रपति किसी भी समय अध्यादेश को वापस ले सकता है। राष्ट्रपति के अध्यादेश जारी करने के निर्णय को न्यायालय में प्रश्नगत किया जा सकता है, यदि उसे किसी दुर्भावनापूर्ण जारी किया गया हो।

- राष्ट्रपति वित्त आयोग, संघ लोक सेवा आयोग, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग, केन्द्रीय सतर्कता आयोग, केन्द्रीय सूचना आयोग और नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट को संसद के समक्ष रखवाता है।
- **अनुच्छेद 103** के अनुसार, किसी संसद सदस्य की अयोग्यता से संबंधित मामला यदि **अनुच्छेद 102** के अधीन है तो इसे राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा, जिसका निर्णय अंतिम होगा। हालाँकि, इसकी पूर्व शर्त यह है कि ऐसे मामलों में निर्णय से पूर्व राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की सलाह ले सकेगा और उक्त सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा।
- वह अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, दादरा एवं नागर हवेली तथा दमन एवं दीव में शांति, विकास व सुशासन के लिए विनियम बना सकता है। पुदुचेरी के मामले में भी, यदि वहाँ की विधानसभा निलंबित अथवा विघटित हो तो वह नियम बना सकता है।

पूर्व मंजूरी: संविधान में यह अपेक्षा की गई है कि कुछ विषयों से संबंधित विधान राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी या सिफारिश के बिना पुर:स्थापित नहीं किए जायेंगे। **ये विषय निम्नलिखित हैं:**

- नए राज्य की रचना के लिए या विद्यमान राज्य की सीमा में परिवर्तन के लिए विधेयक (अनुच्छेद 3)।
- ऐसे विधेयक जो धन विधेयक हैं [अनुच्छेद 117(1)]।
- ऐसा विधेयक जिसके अधिनियमित किए जाने पर भारत की संचित निधि में से व्यय करना पड़ेगा [अनुच्छेद 117(3)]।
- ऐसा विधेयक जो उन करों के बारे में है जिनमें राज्य हितबद्ध है या जो उन सिद्धांतों को प्रभावित करता है जिनसे राज्यों को धन वितरित किया जाता है या जो कृषि-आय की परिभाषा में परिवर्तन करता है [अनुच्छेद 274(1)]।
- राज्यों के ऐसे विधेयक जो व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता को प्रभावित करते हैं (अनुच्छेद 304)।

1.8.3. आपातकालीन शक्तियाँ (Emergency Powers)

भारतीय संविधान के निर्माता भारत शासन अधिनियम, 1935 और जर्मनी के वाईमर संविधान से प्रभावित थे जहाँ से आपातकालीन प्रावधानों को भारतीय संविधान में शामिल किया गया। भारत के संविधान में तीन प्रकार की आपात स्थिति की परिकल्पना की गयी है:

- राष्ट्रीय आपातकाल
- राज्य आपातकाल या राष्ट्रपति शासन और
- वित्तीय आपातकाल।

किसी भी आपातकालीन स्थिति से निपटने के लिए राष्ट्रपति को भारत के संविधान द्वारा कुछ असाधारण शक्तियाँ प्रदान की गयी है:

राष्ट्रीय आपातकाल (अनुच्छेद 352)

- जब भारत या इसके किसी भूभाग पर युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह का आसन्न खतरा हो तो अनुच्छेद 352 के तहत राष्ट्रपति, राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा कर सकता है। 44वें संविधान संशोधन, 1978 के द्वारा **'आंतरिक अशांति'** के स्थान पर **'सशस्त्र विद्रोह'** को जोड़ा गया।

इस प्रकार 'आंतरिक अशांति' के आधार पर राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा नहीं की जा सकती है।

- राष्ट्रपति, राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा वास्तविक युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह से पूर्व भी कर सकता है, यदि उसे यह समाधान हो जाए कि इनका आसन्न खतरा है।
- जब राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण के आधार पर की जाती है, तब इसे बाह्य आपातकाल के नाम से जाना जाता है। दूसरी ओर, जब इसकी घोषणा सशस्त्र विद्रोह के आधार पर की जाती है तब इसे 'आंतरिक आपातकाल' के नाम से जाना जाता है।
- राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा संपूर्ण देश अथवा केवल इसके किसी एक भाग पर लागू हो सकती है। वर्ष 1976 के 42वें संविधान संशोधन ने राष्ट्रपति को भारत के किसी विशेष भाग पर राष्ट्रीय आपातकाल लागू करने का अधिकार प्रदान किया है।
- प्रारम्भ में संविधान में राष्ट्रीय आपातकाल के तीसरे आधार के रूप में 'आंतरिक गड़बड़ी' पद का प्रयोग किया गया था किन्तु यह पद बहुत ही अस्पष्ट तथा विस्तृत अनुमान वाला था। अत: वर्ष 1978 के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा आंतरिक गड़बड़ी पद को 'सशस्त्र विद्रोह' पद से विस्थापित कर दिया गया। अत; अब आंतरिक गड़बड़ी के आधार पर आपातकाल की घोषणा करना संभव नहीं है, जैसा कि वर्ष 1975 में इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार ने किया था।
- किन्तु राष्ट्रपति, राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा केवल मंत्रिमंडल की लिखित सिफारिश प्राप्त होने पर ही कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि आपातकाल की उद्घोषणा केवल मंत्रिमंडल की सहमति से ही हो सकती है न कि केवल प्रधानमंत्री की सलाह से। वर्ष 1975 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने बिना मंत्रिमंडल की सलाह के राष्ट्रपति को आपातकाल की घोषणा करने की सलाह दी और आपातकाल लागू करने के बाद मंत्रिमंडल को इस उद्घोषणा के बारे में सूचित किया गया। वर्ष 1978 के 44वें संविधान संशोधन के माध्यम से प्रधानमंत्री के इस संदर्भ में अकेले निर्णय लेने की संभावना को समाप्त कर दिया गया है।
- वर्ष 1975 के 38वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से राष्ट्रीय आपातकाल की उदघोषणा को न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से बाहर रखा गया था किन्तु इस प्रावधान को वर्ष 1978 के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, मिनर्वा मिल्स मामले (वर्ष 1980) में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा पूरी तरह से बाह्य प्रभाव तथा असंबद्ध तथ्यों या विवेक शून्य या हठधर्मिता के आधार पर की गयी हो तो न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

राज्य आपातकाल या राष्ट्रपति शासन (अनुच्छेद 356 और 365)

- राष्ट्रपति शासन, राज्य आपातकाल या संवैधानिक आपातकाल के रूप में जाना जाता है।
- यह अनुच्छेद 356 के तहत दो आधारों पर लगाया जा सकता है - पहला **अनुच्छेद 356** में वर्णित प्रावधानों के आधार पर जिसका राज्यों में **संवैधानिक तंत्र की विफलता** के रूप में उल्लेख किया गया है। दूसरा **अनुच्छेद 365** के अनुसार, **संघ द्वारा दिए गए निर्देशों को प्रभावी करने की विफलता** के आधार पर। यह राष्ट्रपति की राष्ट्रपति शासन के उद्घोषणा की शक्ति के अधीन है। अनुच्छेद 356 यह प्रावधान करता है कि यदि भारत के राष्ट्रपति को राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट प्राप्त होने पर ज्ञात हो कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि संबंधित राज्य का प्रशासन संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है तो वह (राष्ट्रपति), राज्य आपातकाल की उद्घोषणा कर सकता है। जहाँ राज्य केन्द्रीय निर्देशों को लागू करने में असफल रहा है, वहाँ भी राष्ट्रपति के द्वारा इस प्रकार की उद्घोषणा की जा सकती है। चूँकि राज्य प्रशासन में कोई भी अव्यवस्था राष्ट्रीय

अखंडता को प्रभावित कर सकती है, अतः राष्ट्रपति शासन का प्रावधान ऐसी स्थिति के विरुद्ध रक्षा के लिए प्रदान किया गया है।

वित्तीय आपातकाल (अनुच्छेद 360)

- यदि राष्ट्रपति संतुष्ट हो कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें भारत या उसके किसी क्षेत्र की वित्तीय स्थिति खतरे में हो तो वह (राष्ट्रपति) अनुच्छेद 360 के तहत वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा कर सकता है।

1.8.4. वित्तीय शक्तियाँ (Financial Emergency)

- धन विधेयक, राष्ट्रपति की पूर्वानुमति से ही संसद में प्रस्तुत किया जा सकता है।
- अनुदान की कोई भी मांग उसकी सिफारिश के बिना नहीं की जा सकती हैं।
- राष्ट्रपति वार्षिक वित्तीय विवरण अर्थात् केन्द्रीय बजट को संसद के पटल पर रखवाता है।
- राष्ट्रपति भारत की आकस्मिक निधि से, किसी अदृश्य व्यय हेतु अग्रिम भुगतान की व्यवस्था कर सकता है।
- राष्ट्रपति राज्य व केंद्र के मध्य राजस्व के बँटवारे के लिए प्रत्येक पांच वर्ष पर वित्त आयोग (अनुच्छेद 280 के अधीन) का गठन करता है।

1.8.5. राजनयिक शक्तियाँ (Diplomatic Powers)

राष्ट्रपति को बाह्य या विदेशी मामलों में व्यापक राजनयिक शक्तियाँ प्राप्त है। अन्य देशों के साथ संबंधों को बनाए रखने के उद्देश्य से उन देशों के लिए वह राजदूतों व उच्चायुक्तों की नियुक्ति करता है। विदेशी राष्ट्रों के राजनयिक प्रतिनिधियों को भी अपनी पहचान राष्ट्रपति के पास प्रस्तुत करनी होती है। राष्ट्रपति ही अंतर्राष्ट्रीय मामलों व मंचों पर भारत का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अतिरिक्त, सभी अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ व समझौते राष्ट्रपति के नाम पर किए जाते हैं। हालाँकि, वे संसद के अनुमोदन के अधीन हैं।

1.8.6. सैन्य शक्तियाँ

- राष्ट्रपति, भारत के सैन्य बलों का सर्वोच्च सेनापति होता है। इस क्षमता में वह थल सेना, वायु सेना और नौसेना के प्रमुखों की नियुक्ति करता है। वह युद्ध के प्रारम्भ या समाप्ति की घोषणा कर सकता है। हालाँकि, यह संसद की अनुमति के अधीन है।

1.8.7. न्यायिक शक्तियाँ

- राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सहित अन्य न्यायाधीशों और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है।
- **अनुच्छेद 143 के अनुसार**, राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय से क़ानून या तथ्य के किसी ऐसे प्रश्न पर सलाह प्राप्त कर सकता है, जिसमें राष्ट्रहित या लोकहित से संबंधी व्यापक महत्व का प्रश्न निहित हो। हालाँकि, यह उच्चतम न्यायालय पर निर्भर करता है कि वह सलाह दे या न दे तथा दूसरी ओर राष्ट्रपति भी, दी गई सलाह को मानने के लिए बाध्य नहीं है।

1.8.8. क्षमादान की शक्ति (Mercy Powers)

संविधान के **अनुच्छेद 72** के अंतर्गत निहित क्षमादान इत्यादि की शक्ति राष्ट्रपति का, देश की जनता द्वारा उनमें विश्वास के रूप में निहित किया गया, एक संवैधानिक कर्त्तव्य है।

1. राष्ट्रपति निम्नलिखित मामलों में किसी भी दोषी व्यक्ति के दंड को क्षमा, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार करने की शक्ति रखता है-
   (क) उन सभी मामलों में जिसमें दण्ड या दण्डादेश कोर्ट मार्शल (सेना न्यायालय) द्वारा दिया गया हो।
   (ख) उन सभी मामलों में जिनमें संघ की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार से संबंधित किसी भी विधि के उल्लंघन के विरुद्ध किसी अपराध के लिए दण्ड या दण्डादेश दिया गया हो।
   (ग) उन सभी मामलों में जिसमें मृत्युदंड दिया गया हो।
2. खंड 1 के उपखंड (क) की कोई बात, संघ के सशस्त्र बलों के किसी अधिकारी की, सेना न्यायालय द्वारा पारित दण्डादेश के निलंबन, परिहार या लघुकरण की विधि द्वारा प्रदत्त शक्ति पर प्रभाव नहीं डालेगी।

इन शब्दों के अर्थ को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है:

1. **क्षमा (Pardon):** इसमें दण्ड और बंदीकरण दोनों को हटा दिया जाता है और दोषी को सभी दण्ड, दण्डादेशों और निरहर्ताओं से मुक्त कर दिया जाता है।
2. **प्रविलंबन (Reprieve):** इसका अर्थ है, किसी दण्ड (विशेष रूप से मृत्युदंड) पर अस्थायी रोक लगाना। इसका उद्देश्य दोषी व्यक्ति को राष्ट्रपति से क्षमायाचना अथवा दंड के स्वरूप में परिवर्तन की याचना के लिए अतिरिक्त समय उपलब्ध कराना है।
3. **परिहार (Remission):** इसका अर्थ है, दंड की प्रकृति में परिवर्तन किए बिना उसकी अवधि को कम करना। उदाहरण के लिए, दो वर्ष के कठोर कारावास की सजा को कम करके एक वर्ष के कठोर कारावास में परिवर्तित करना।
4. **लघुकरण (Commutation):** इसका अर्थ है, दंड के स्वरूप को परिवर्तित कर कम करना। उदाहरण के लिए, मृत्यु दंड को कठोर कारावास या साधारण कारावास में परिवर्तित किया जा सकता है।
5. **विराम (Respite):** इसका अर्थ है किसी दोषी को मूल रूप में दिए गए दंड को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कम करना जैसे: शारीरिक अपंगता अथवा महिलाओं के गर्भावस्था की अवधि के कारण।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रपति की क्षमादान की शक्ति न्यायपालिका से स्वतंत्र है और यह एक कार्यकारी शक्ति है। इस शक्ति के प्रयोग के दौरान राष्ट्रपति की स्थिति किसी अपीलीय अदालत के समान नहीं होती है।

राष्ट्रपति को यह शक्ति दो रूपों में प्रदान की गई है:

- विधि के संचालन में किसी भी न्यायिक त्रुटि को ठीक करने के लिए अपने द्वार सदैव खोले रखना।
- किसी ऐसे दंड से राहत प्रदान करने हेतु जिसे राष्ट्रपति अनावश्यक रूप से कठोर समझे।

न्यायिक पुनर्विलोकन का दायरा

- **मारू राम वाद (1980)** में उच्चतम न्यायालय ने यह घोषणा की है कि अनुच्छेद 72 के तहत राष्ट्रपति की शक्ति न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है। इस शक्ति का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता है।
- **केहर सिंह वाद (1988)** में, उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित पहलुओं को रेखांकित किया:
  1. याचिकाकर्ता को सुने जाने का कोई अधिकार नहीं है।
  2. राष्ट्रपति न्यायपालिका द्वारा लिए गए निर्णय की जांच कर सकता है।

3. राष्ट्रपति का कार्य की प्रकृति को न्यायिक नहीं माना जा सकता है। वह न्यायालय से भिन्न एवं स्वतंत्र निर्णय देते हुए भी न्यायालय के निर्णय को रद्द या गलत सिद्ध नहीं करेगा।
4. इस शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा केंद्रीय मंत्रिमंडल की सलाह पर किया जाता है।
5. न्यायालय इस शक्ति के प्रयोग के लिए कोई दिशा निर्देश नहीं जारी कर सकता है।
6. राष्ट्रपति को अपने आदेश का कारण देने के लिए नहीं कहा जा सकता है।
7. इस शक्ति के व्यापक आयाम हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के कई मामले राष्ट्रपति की शक्तियों के अधीन आते हैं।
8. न्यायिक पुनर्विलोकन के दायरे निम्नलिखित सन्दर्भों तक सीमित है:
    - आदेश बिना विवेक के प्रयोग के पारित कर दिया गया हो।
    - राष्ट्रपति ने प्रासंगिक तथ्यों को विचार में न लिया हो।
    - आदेश दुर्भावनापूर्ण हो।
    - आदेश मनमाने ढंग से दिया गया हो।

उपर्युक्त दो मामलों के अतिरिक्त, **वाठी सवारण वाद 1983 और त्रिवेणी बेन वाद 1989** में यह निर्णय (निर्णय न होकर एक सुझाव) दिया कि मृत्युदंड में अनावश्यक देरी की स्थिति में उसे आजीवन कारावास में परिवर्तित किया जा सकता है।

शत्रुघन चौहान बनाम भारत संघ वाद (2014) में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि:

- अत्यधिक विलंब, मृत्युदंड को आजीवन कारावास में परिवर्तित करने के लिए एक उचित आधार हो सकता है।
- कैद के दौरान विकसित मनोरोग की स्थिति क्षमादान का आधार हो सकती है।
- यह निर्णय मृत्युदंड प्राप्त कैदियों के एकांत कारावास के विरुद्ध सुनाया गया है।
- कम से कम 14 दिन पूर्व परिवार के सदस्यों को सूचित करना होगी।
- यह राष्ट्रपति का एकमात्र विशेषाधिकार नहीं है और न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है।
- दोषियों की दया याचिकाओं को निपटाना राष्ट्रपति और राज्यपाल का संवैधानिक दायित्व है।
- क्षमादान प्राप्त करने का अधिकार एक संवैधानिक अधिकार है, जिसे कार्यपालिका की इच्छा के अधीन प्रयोग नहीं किया जा सकता है।
- हालाँकि, कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गयी है। लेकिन, यह कार्यपालिका का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक स्तर पर मामले का तेजी से निस्तारण करे।
- अनुच्छेद 21 व्यक्ति को जीवनपर्यन्त उपलब्ध है, यहाँ तक कि दया याचिका खारिज हो जाने के पश्चात् भी, अपराधी कभी भी आकस्मिक घटनाओं के आधार पर अपनी सजा को परिवर्तित करवाने हेतु न्यायालय की शरण ले सकता है।
- सभी स्तरों पर कानूनी सहायता उपलब्ध करवाई जाएगी।
- अस्वीकृति को अतिशीघ्र सूचित किया जायेगा। दोषी को निकटतम कानूनी सहायता केंद्र के माध्यम से सूचित किया जाना चाहिए।
- व्यक्ति को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है। दया याचिका खारिज होने के पश्चात् न्यायपालिका के पास राष्ट्रपति के निर्णय को रद्द करने का अधिकार है, यदि ऐसा प्रतीत होता है कि निर्णय पूर्वाग्रह से ग्रसित है।

राज्यपाल के क्षमादान की शक्ति से तुलना

- **अनुच्छेद 161** के अनुसार, किसी राज्य का राज्यपाल भी किसी दोषी व्यक्ति को राज्य की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार तक संबंधित मामले के लिए उसे क्षमादान, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार करने की शक्ति रखता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्यपाल के पास भी क्षमादान की शक्ति है, ऐसे मामलों में जहाँ दोषी व्यक्ति राज्य के कानून के अधीन है।

- **अनुच्छेद 72** के तहत राष्ट्रपति की क्षमादान की शक्ति **अनुच्छेद 161** के तहत राज्यपाल की तुलना में अधिक व्यापक है। ये शक्तियाँ निम्नलिखित दो मामलों में व्यापक हैं:
  - जहाँ राष्ट्रपति को कोर्ट मार्शल के द्वारा सजा प्राप्त व्यक्ति को क्षमा करने का अधिकार है, वहीं अनुच्छेद 161 के तहत राज्यपाल के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है।
  - राष्ट्रपति सभी मामलों में यहाँ तक कि मृत्युदंड प्राप्त व्यक्ति को भी क्षमा कर सकता है। किन्तु, राज्यपाल को मृत्युदंड को क्षमा करने की शक्ति नहीं प्राप्त है। यदि राज्य विधि में मृत्युदंड विहित किया जाता है तो भी क्षमादान की शक्ति राष्ट्रपति में ही निहित होगी राज्यपाल में नहीं। किंतु यदि मृत्युदंड के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति किसी विधि द्वारा राज्यपाल को प्रदान की गयी है तो राज्यपाल मृत्युदंड का निलंबन, परिहार या लघुकरण कर सकता है। ऐसी शक्तियाँ दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 432 और 433 द्वारा प्रदान की गयी है।
  - हाल ही में, तमिलनाडु सरकार ने राजीव गांधी के हत्या के मामले में दोषी सात कैदियों को रिहा करने का निर्णय किया। उच्चतम न्यायालय ने उनके मृत्युदंड को पहले ही आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया था। केंद्र सरकार ने राज्य सरकार के निर्णय पर प्रश्न उठाते हुए एक रिट दायर की है। केंद्र का तर्क है कि चूँकि इन कैदियों को केन्द्रीय अधिनियम जैसे टाडा, के तहत दोषी ठहराया गया है। अतः राज्य सरकार के निर्णय को कानूनी रूप से तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है।

1.8.9. वीटो पॉवर: विधेयकों पर अनुमति देना या अनुमति रोकना

- कोई विधेयक जो संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तब तक अधिनियम नहीं बनता जब तक कि उसे राष्ट्रपति की अनुमति नहीं मिलती। प्रत्येक विधेयक जो दोनों सदनों द्वारा पारित किया गया है राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति,
  - यह घोषित कर सकता है कि उसने विधेयक को अनुमति दे दी है, या
  - विधेयक को अनुमति विधारित (मनाही) कर ली है, या
  - वह विधेयक को सदनों द्वारा पुनर्विचारण के लिए लौटा सकता है।
- यह ध्यान में रखना चाहिए कि धन विधेयक पुनर्विचार के लिए नहीं लौटाया जा सकता। यदि कोई विधेयक जिसे राष्ट्रपति ने पुनर्विचार के लिए लौटाया है दोनों सदनों द्वारा पुनःपारित किया जाता है और राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति विधेयक पर अनुमति रोक नहीं सकता।

- विधान को अनुमति न देने या अनुमति देने से अस्वीकार करने की कार्यपालिका की शक्ति को **वीटो कहा** जाता है, किंतु इस शब्द का प्रयोग उस परिस्थिति में भी किया जाता है, जहाँ अनुमति तुरंत नहीं दी जाती है।
- वीटो का प्रयोजन ऐसे विधान को रोकना है जिस पर भली-भाँति विचार नहीं किया गया है या जो शक्ति बाह्य या असंवैधानिक है।

भारत के राष्ट्रपति के पास निम्नलिखित तीन प्रकार की वीटो शक्ति है:

1.8.9.1. अत्यांतिक वीटो (Absolute Veto)

इसका संबंध राष्ट्रपति की उस शक्ति से है जिसमें वह संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को अपने पास सुरक्षित रखता है। इस प्रकार उक्त विधेयक समाप्त हो जाता है और अधिनियम नहीं बन पाता। सामान्यतः यह वीटो निम्न दो मामलों में प्रयोग किया जाता है:

- गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयक के संबंध में (अर्थात् संसद का वह सदस्य जो मंत्री न हो, उसके द्वारा प्रस्तुत विधेयक); और

- सरकारी विधेयक के संबंध में जब मंत्रिमंडल त्यागपत्र दे दे (जब विधेयक पारित हो गया हो तथा राष्ट्रपति की अनुमति मिलना शेष हो) और नया मंत्रिमंडल, राष्ट्रपति को ऐसे विधेयक पर अपनी सहमति न देने की सलाह दे।

1954 में, राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने PEPSU विनियोग विधेयक पर अपना निर्णय रोककर रखा। यह विधेयक संसद द्वारा उस समय पारित किया गया जब इन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू था। लेकिन, जब विधेयक स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के पास भेजा गया तो राष्ट्रपति शासन हटा लिया गया था।

1.8.9.2. निलंबनकारी वीटो (Suspensive Veto)

- राष्ट्रपति इस वीटो का प्रयोग तब करता है, जब वह किसी विधेयक को संसद के पुनर्विचार हेतु लौटाता है। हालाँकि, यदि संसद उस विधेयक को पुनः किसी संशोधन के बिना अथवा संशोधन के साथ पारित कर राष्ट्रपति के पास भेजती है तो उस पर राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देना बाध्यकारी है। इसका अर्थ है कि राष्ट्रपति के इस वीटो को, उस विधेयक को साधारण बहुमत से पुनः पारित करवाकर निरस्त किया जा सकता है (उच्च बहुमत द्वारा नही जैसा कि अमेरिका में प्रचलित है)।
- राष्ट्रपति धन विधेयकों के मामले में इस वीटो का प्रयोग नहीं कर सकता है। साधारणतः राष्ट्रपति, धन विधेयक पर अपनी स्वीकृति उस समय दे देता है, जब यह संसद में उसकी पूर्वानुमति से प्रस्तुत किया जाता है।
- राष्ट्रपति ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने 2006 में लाभ का पद विधेयक संसद को पुनर्विचार हेतु लौटा दिया था। यह निलंबनकारी वीटो का प्रयोग था।

1.8.9.3. पॉकेट वीटो (Pocket Veto)

- इस मामले में राष्ट्रपति विधेयक पर न तो कोई सहमति देता है, न ही उसे अस्वीकृत करता है और न ही लौटाता है। परन्तु, अनिश्चित काल के लिए विधेयक को लंबित रखता है। राष्ट्रपति की विधेयक पर किसी भी प्रकार का निर्णय न देने की (सकारात्मक अथवा नकारात्मक) शक्ति, पॉकेट वीटो के नाम से जानी जाती है। राष्ट्रपति इस वीटो शक्ति का प्रयोग इस आधार पर करता है कि संविधान में उसके समक्ष आए किसी विधेयक पर निर्णय देने के लिए कोई निर्धारित समय सीमा नहीं है।
- दूसरी ओर, अमेरिका में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति को 10 दिनों के भीतर वह विधेयक पुनर्विचार के लिए लौटाना होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत के राष्ट्रपति की शक्ति इस संबंध में अमेरिका के राष्ट्रपति की तुलना में अधिक है।
- 1986 में राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह द्वारा भारतीय डाक (संशोधन) अधिनियम के संदर्भ में इस वीटो का प्रयोग किया गया। राजीव गाँधी सरकार द्वारा पारित विधेयक ने प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाए थे।
- यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि संविधान संशोधन से संबंधित अधिनियमों में राष्ट्रपति के पास कोई वीटो शक्ति नहीं है। **24वें संविधान संशोधन** अधिनियम 1971 ने संविधान संशोधन विधेयकों पर राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्यकारी बना दिया।

1.8.10. अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति

- संविधान के **अनुच्छेद 123** के तहत राष्ट्रपति को संसद के सत्रावसान की अवधि में **अध्यादेश जारी करने की शक्ति** प्रदान की गई है। इन अध्यादेशों के प्रभाव व शक्तियाँ, संसद द्वारा निर्मित विधि के समान ही होते हैं, परंतु ये अल्पकालीन प्रकृति होते हैं।

- ऐसे किसी भी विषय पर अध्यादेश जारी किया जा सकता है जिस पर संसद के पास विधि निर्माण की शक्ति होती है। संघ, राज्य एवं समवर्ती सूची में शक्तियों के विभाजन के अनुसार संसद की विधान निर्माण संबंधी सीमाओं के समान ही इसकी भी सीमाएँ होती है। इसलिए, कार्यपालिका की अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर निम्नलिखित सीमाएँ आरोपित हैं:
  I. **संसद का सत्र न चल रहा हो:** राष्ट्रपति अध्यादेश केवल तभी जारी कर सकता है जब संसद के दोनों अथवा दोनों में से किसी एक सदन का सत्र न चल रहा हो।
  II. **तत्काल कार्रवाई की आवश्यकता हो:** राष्ट्रपति अध्यादेश केवल तभी जारी कर सकता है, जब वह इस बात से संतुष्ट हो कि मौजूदा परिस्थिति ऐसी है कि तत्काल कार्रवाई करना आवश्यक है। **आर. सी. कूपर बनाम भारत संघ वाद (1970)** में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि - "राष्ट्रपति की संतुष्टि पर "दुर्भावनापूर्ण (malafide)" के आधार पर प्रश्नचिन्ह किया जा सकता है।" इसका अर्थ है कि राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी करने के निर्णय पर न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है कि राष्ट्रपति ने विचारपूर्वक संसद के एक सदन अथवा दोनों सदनों को कुछ समय के लिए स्थगित कर एक विवादास्पद विषय पर अध्यादेश प्रख्यापित किया है और संसद की अवेहलना की गई है जिससे संसद के प्राधिकार की परिवंचना हुई है।
  III. **सत्र के दौरान संसद द्वारा स्वीकृति:** संसद की पुनः बैठक से **छह सप्ताह** के भीतर अध्यादेश को पारित किया जाना चाहिए अन्यथा वह समाप्त हो जाएगा। यदि दोनों सदन इसका निरनुमोदन कर दें तो यह निर्धारित छह सप्ताह की अवधि से पूर्व भी समाप्त हो सकता है।
- राष्ट्रपति किसी भी समय किसी अध्यादेश को वापस ले सकता है। हालाँकि, राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति उसकी कार्य स्वतंत्रता का अंग नहीं है और वह किसी भी अध्यादेश को प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल की सलाह पर ही जारी करता है अथवा वापस लेता है।
- एक विधेयक की भाँति एक अध्यादेश भी **भूतलक्षी** हो सकता है अर्थात् इसे पिछली तिथि से प्रभावी किया जा सकता है। यह संसद के किसी भी कार्य या अन्य अध्यादेश को संशोधित अथवा निरसित कर सकता है। यह किसी कर विधि को भी परिवर्तित अथवा संशोधित कर सकता है। हालाँकि संविधान संशोधन हेतु अध्यादेश जारी नहीं किया जा सकता है।
- भारत शासन अधिनियम, 1935 में गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति दी गयी थी। हमारे संविधान में उस उपबंध को अपना लिया गया है। हालाँकि, भारत के राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति विशिष्ट है तथा अधिकांश लोकतांत्रिक देशों जैसे: अमेरिका और ब्रिटेन में इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता है। यह शक्ति राष्ट्रपति को आकस्मिक परिस्थिति से निपटने हेतु सक्षम बनाती है जब संसद का सत्र न चल रहा हो।
- हाल ही में, कई अध्यादेश प्रख्यापित किए गए जो विभिन्न कारणों से विवाद एवं चर्चा का विषय रहे हैं। जैसे कि:
  - शत्रु संपत्ति (संशोधन एवं मान्यकरण) अध्यादेश, 2016 [Enemy property (Amendment and Validation) ordinance, 2016]
  - बैंकिंग विनियमन (संशोधन) अध्यादेश, 2017 [Banking Regulation (Amendment) ordinance, 2017]
- इन अध्यादेशों में से प्रथम अध्यादेश को पाँच बार प्रख्यापित किया गया है (हालाँकि अब यह संसद से पारित होकर अधिनियम बन चुका है), अर्थात् एक मौजूदा अध्यादेश को प्रतिस्थापित करने के लिए एक दूसरे अध्यादेश को प्रख्यापित किया गया। यह डी.सी. वाधवा बनाम बिहार राज्य वाद में उच्चतम न्यायालय के निर्णय का उल्लंघन है।

- **डी.सी. वाधवा बनाम बिहार राज्य वाद, 1987**
  - इस वाद में उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह प्रस्तुत किया गया कि 1967 से 1981 के मध्य बिहार के राज्यपाल द्वारा 256 अध्यादेश प्रख्यापित किए गए। इन अध्यादेशों को एक वर्ष से लेकर 14 वर्ष तक की अवधि तक प्रवृत्त रखा गया। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिमत प्रकट किया कि ऐसा प्रख्यापन अध्यादेश की शक्ति का दुरुपयोग और संविधान के प्रावधानों का उल्लंघन है। इससे लोकतांत्रिक सिद्धांत के समक्ष संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
  - इस मामले में कहा गया कि कार्यपालिका को अध्यादेश द्वारा विधान निर्मित करने की शक्ति का प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में ही करना चाहिए और इसे विधायिका की विधायी शक्ति का विकल्प नहीं बनाना चाहिए।
  - उच्चतम न्यायालय ने कहा कि यदि अध्यादेश को विधि निर्माण की एक सामान्य प्रक्रिया बना दी जाती है अर्थात् **'अध्यादेश राज'** निर्मित किया जाता है तो न्यायालय पुनर्प्रख्यापित अध्यादेशों को निरस्त कर सकता है।
- हाल ही में, **कृष्ण कुमार सिंह बनाम बिहार राज्य वाद, 2017** में उच्चतम न्यायालय के सात न्यायधीशों की पीठ ने निर्णय दिया है कि अध्यादेश को विधायिका के समक्ष प्रस्तुत न करना, शक्ति का दुरुपयोग और संविधान के साथ धोखाधड़ी करने के समान है। यह वाद बिहार सरकार द्वारा 1989 के एक अध्यादेश को निरंतर सात बार पुनर्प्रख्यापित करने के पश्चात दायर किया गया जिसके द्वारा राज्य सरकार ने विधेयक को एक बार भी विधानसभा में प्रस्तुत किए बिना बिहार में 429 से अधिक संस्कृत विद्यालयों का अधिग्रहण किया।

न्यायिक पुनर्विलोकन का दायरा

न्यायपालिका अध्यादेश की वैधता की जांच निम्नलिखित आधारों पर करती है:

- दोनों सदनों के सत्र जारी नहीं हैं
- यह जनहित में लाया गया है
- तर्कसंगतता का परीक्षण
- क्या अध्यादेश मनमाने ढंग से जारी किया गया है अथवा अस्पष्ट है?

संसद के पिछले सत्र के पश्चात् अध्यादेश से संबंधित विवाद

हाल ही में सरकार द्वारा चुनाव से ठीक पूर्व और संसद के अंतिम सत्र के समाप्त होने पर भ्रष्टाचार विरोधी कानूनों को लागू करने के लिए अध्यादेश का मार्ग अपनाने का प्रयास किया गया। यह विवाद का विषय बन गया। नैतिक अनौचित्य के अतिरिक्त इस प्रयास में कुछ कानूनी कमियाँ भी थीं।

- अनुच्छेद 123 की धारा 2(a) के तहत एक अध्यादेश संसद के सत्र के पुनः समवेत होने के छह हफ्ते पश्चात् (यदि अनुमोदन नहीं किया गया हो) समाप्त हो जाता है। यहाँ “पुनः समवेत” शब्द से तात्पर्य अगले सत्र से है। 15वीं लोकसभा का अंतिम सत्र समाप्त हो चुका था एवं अब इसकी पुनः बैठक नहीं बुलाई जा सकती थी। 16वीं लोकसभा का पहला सत्र पुनः समवेत सत्र नहीं था, बल्कि एक नई लोकसभा थी। संवैधानिक रूप से, प्रत्येक लोकसभा स्वतंत्र है और विघटन एक लोकसभा के कार्यकाल को समाप्त करता है और आम चुनाव नई लोकसभा का गठन करता है।
- लोकसभा के समक्ष लाए गए और लंबित विधेयक सहित, सब कुछ विघटन के साथ समाप्त हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि अनुच्छेद 123 के तहत एक अध्यादेश को तभी प्रख्यापित किया जा सकता है, जब लोकसभा अगले सत्र में दोबारा बैठक करने में सक्षम हो। दूसरे शब्दों में, एक अध्यादेश को एक ही सदन के दो सत्रों के मध्य ही जारी किया जा सकता है। चूँकि 16वीं लोकसभा, 15वीं लोकसभा का “पुनःसमवेत सत्र” नहीं था, इसलिए 15वीं लोकसभा के अंतिम सत्र के अंत के पश्चात् पहले का कोई भी अध्यादेश प्रख्यापित नहीं किया जा सकता था।
- इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 123 यह स्पष्ट करता है कि एक अध्यादेश तभी जारी किया जा सकता है जब संसद में अवकाश हो। अवकाश से तात्पर्य उस समयावधि से है जिसमे संसद, समिति, विधि

न्यायालय आदि की कार्यवाही अस्थायी रूप से निलंबित कर दी जाती है। संसद के संदर्भ में अवकाश का तात्पर्य एक सदन के एक सत्र के सत्रावसान और अगले सत्र की बैठक के मध्य के समय से है। इसका अर्थ एक सदन को भंग करने और नए सदन के गठन के मध्य की अवधि से नहीं है। इस प्रकार, राष्ट्रपति केवल एक ही लोकसभा के दो सत्रों के मध्य, अनुच्छेद 123 के तहत अध्यादेश जारी करने की अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

- भारत का राष्ट्रपति उल्लिखित शक्तियों का प्रयोग संवैधानिक सीमाओं के भीतर रहकर ही कर सकता है। राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार ही इन शक्तियों का प्रयोग करता है। 44वें संविधान संशोधन से यह स्पष्ट है कि कुछ कुछ मामलों को छोड़कर, राष्ट्रपति के पास कोई विवेकाधिकार शक्ति नहीं है। उसके द्वारा मंत्रिपरिषद की सलाह की अवमानना को संविधान का अतिक्रमण माना जाएगा जिसके आधार पर उस पर महाभियोग चलाया जा सकता है। संसदीय लोकतंत्र की परंपरा में राष्ट्रपति की शक्तियों का प्रयोग वास्तव में मंत्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है। सरकार की इस प्रणाली में, संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति की बहुत ही औपचारिक स्थिति होती है और वह नाममात्र की भूमिका का निर्वहन करता है। हालाँकि, यदि उसके पास निष्पक्ष छवि, वैचारिक स्पष्टता, सत्यनिष्ठ चरित्र और सबसे महत्वपूर्ण एक करिश्माई व्यक्तित्व हो तो वह सैदव अपनी सलाह से मंत्रिपरिषद के निर्णयों को प्रभावित और अपने भाषणों एवं संदेशों के माध्यम से संसद का मार्गदर्शन कर सकता है।

सरकार बार-बार अध्यादेश के मार्ग का सहारा क्यों लेती है?

- विशेष मुद्दों पर विधायिका का सामना करने की अनिच्छा।
- उच्च सदन में बहुमत का अभाव।
- विपक्षी दलों द्वारा बार-बार तथा जानबूझकर व्यवधान उत्पन्न करना।

अध्यादेश के विरुद्ध दिए जाने वाले तर्क:

- अध्यादेश, शक्ति के पृथक्करण सिद्धांत के विरुद्ध है, क्योंकि विधि निर्माण की शक्ति विधायिका का क्षेत्राधिकार है।
- यह कार्यपालिका को मनमानी शक्तियाँ प्रदान करता है।
- इसके द्वारा बिना किसी चर्चा और बहस के कानून पारित किए जाते हैं।

1.8.11. प्रकीर्ण शक्तियाँ

राष्ट्रपति कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है और इस कारण उसे संविधान या संसद के अधिनियमों द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करना होता है। हम यहाँ केवल उन शक्तियों पर विचार करेंगे जो महत्वपूर्ण हैं।

- **नियम बनाने की शक्ति:** अनुच्छेद 309 का परंतुक राष्ट्रपति को केंद्रीय सरकार के अधीन लोक सेवाओं और पदों के लिए भर्ती का और नियुक्त व्यक्ति की सेवा की शर्तों का विनियमन करने वाले नियम बनाने के लिए सशक्त करता है। राष्ट्रपति को संसद के सदनों की संयुक्त बैठक के संबंध में प्रक्रिया के नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के आदेशों को प्रवृत्त करने के लिए भी नियम बनाता है। राष्ट्रपति नियम बनाकर यह विनिर्दिष्ट करता है कि कौन से मामलों में भारत सरकार को संघ लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक नहीं होगा।
- अनुच्छेद 143 के अधीन राष्ट्रपति को विधि या तथ्य के किसी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय से राय प्राप्त करने की शक्ति है।
- अनुच्छेद 213 के अधीन राष्ट्रपति को अध्यादेश प्रख्यापित करने के बारे में राज्यपाल को अनुदेश देने की शक्ति है।
- राष्ट्रपति कुछ आयोगों का गठन करता है जैसे, निर्वाचन आयोग, वित्त आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग तथा अंतराज्यीय परिषद।

- संघ राज्य क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति के नाम से चलाया जाता है। अनुच्छेद 240 के तहत राष्ट्रपति को इन राज्यक्षेत्रों के लिए विनियम बनाने की शक्ति है। विनियम निम्नलिखित के लिए बनाए जा सकते हैं :
    - अंडमान और निकोबार द्वीप
    - लक्षद्वीप
    - दादरा और नागर हवेली
    - दमन और दीव
- राष्ट्रपति को अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए और पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण और उनको सुधारने के लिए उपाय के बारे में प्रतिवेदन करने के लिए एक आयोग नियुक्त करने की शक्ति है। (अनुच्छेद 339 और 340)।
- राष्ट्रपति को यह शक्ति प्राप्त है कि वह ऐसी जातियाँ और मूलवंश या जनजातियाँ विनिर्दिष्ट करे जिन्हें अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति समझा जाएगा। (अनुच्छेद 341 और 342)।

1.9. राष्ट्रपति हेतु उपलब्ध परिस्थितिजन्य विवेकाधिकार

ऐतिहासिक आधार

- भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गयी शक्तियों की प्रकृति प्रारम्भ से ही विवादास्पद रही है। यह स्पष्ट नहीं रहा है कि क्या राष्ट्रपति पद वास्तव में ब्रिटिश सम्राट के समान है अथवा नहीं।
- प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद के अनुसार, भारतीय राष्ट्रपति और ब्रिटिश सम्राट की स्थितियों में निम्नलिखित कारणों से विभेद हैं:
    - अनुच्छेद 74 (1) का मूल शब्द 'shall' के बजाय 'will' है।
    - राष्ट्रपति चुनाव में राज्य विधानसभाओं के सदस्य भी भाग लेते हैं।
    - राष्ट्रपति संविधान की रक्षा तथा भारत के लोगों की सेवा एवं कल्याण के लिए स्वयं को समर्पित करने की शपथ ग्रहण करता है।
    - ब्रिटेन में 'सम्राट कभी गलत नहीं कर सकता (King can do no wrong)' का सिद्धांत प्रचलित है जबकि भारत के राष्ट्रपति को संविधान के अनुच्छेद 61 के अधीन उल्लिखित प्रक्रिया के तहत संविधान के अतिक्रमण की स्थिति में महाभियोग का सामना करना पड़ सकता है।
- पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रपति की विवेकाधीन शक्तियों के प्रश्न को विचार के लिए भारत के महान्यायवादी के समक्ष रखा जिसके प्रत्युत्तर में महान्यायवादी ने विचार दिया कि 'भारत का राष्ट्रपति विवेकाधीन शक्तियाँ नहीं धारण करता'। सरकार के संसदीय स्वरूप के सिद्धांतों के अनुसार, राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद की सहायता से और उसकी सलाह पर कार्य करना होगा।
- हालाँकि, अपने विभिन्न निर्णयों के माध्यम से उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि संविधान एक **अतिसक्रिय राष्ट्रपति** की कल्पना नहीं करता।
- 24वें संविधान संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 368 के तहत संविधान संशोधन विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किए जाने पर उसे अपनी सहमति देने हेतु बाध्य कर दिया गया।
- 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 74(1) में 'will' को 'shall' से प्रतिस्थापित कर दिया गया। इसके द्वारा राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद द्वारा दी गयी सलाह के अनुसार ही कार्य करने के लिए बाध्य हो गया।
- 44वें संविधान संशोधन के माध्यम से राष्ट्रपति को इस सलाह को एक बार पुनर्विचार के लिए भेजने का विवेकाधिकार प्राप्त हो गया।

परिस्थितिजन्य विवेकाधिकार (Situational Discretion)

यद्यपि अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की सलाह और सहायता के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है तथापि यह समझना कि राष्ट्रपति पूरी तरह से प्रभावहीन या गैर अधिकृत है, गलत होगा। यह पहले भी देखा जा चुका है कि अपवादस्वरूप तथा असामान्य परिस्थितियों में उसके पास कुछ मुद्दों पर सीमित विवेकाधिकार होता है। उदाहरण के लिए:

- तत्कालीन सरकार के बहुमत खो देने की स्थिति में राष्ट्रपति लोकसभा के विघटन का निर्णय ले सकता है।
- यदि कोई भी एक पार्टी या नेता बहुमत सिद्ध करने में विफल होता तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अपने विवेकानुसार प्रधानमंत्री को नियुक्त कर सकता है। यह अति महत्वपूर्ण है, विशेषकर ऐसी स्थितियों में जब चुनाव में किसी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हुआ हो।
- संकट की स्थिति में ऐसा कोई भी मुद्दा अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है तथा देश के भविष्य के लिए राष्ट्रपति का निर्णय अत्यधिक प्रभावशाली बन जाता है।

अनुच्छेद 78 यह प्रावधान करता है कि प्रधानमंत्री का कर्तव्य होगा:

(क) संघ के कार्यकलाप के प्रशासन और विधान विषयक प्रस्थापनाओं से संबंधित मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों को राष्ट्रपति को संसूचित करे;

(ख) संघ के कार्यकलाप के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी जो जानकारी राष्ट्रपति माँगें, वह दे; और

(ग) किसी विषय को जिस पर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया है किन्तु मंत्रि-परिषद ने विचार नहीं किया है, राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा किए जाने पर परिषद के समक्ष विचार के लिए रखे।

ब्रिटिश सम्राट के समान राष्ट्रपति का कार्य मंत्रियों को उनके द्वारा दिए गए सुझावों के लिए 'सलाह देना, प्रोत्साहन देना तथा चेतावनी देने' का है।

अनुच्छेद 111 के तहत, राष्ट्रपति को साधारण विधेयकों के मामले में विवेकाधिकार प्राप्त है। वह विधेयक को अपने किसी संदेश (यदि कोई है) के साथ पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। हालाँकि यदि विधेयक कुछ संशोधनों के साथ या उनके बिना पुनः पारित होकर उसके पास आता है तो उसे अपनी सहमति देनी ही होगी।

राष्ट्रपति के.आर. नारायणन मंत्रिमंडल की सलाह को पुनर्विचार के लिए भेजने वाले प्रथम राष्ट्रपति थे। मंत्रिमंडल द्वारा उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह सरकार के विरुद्ध राष्ट्रपति शासन लगाए जाने की सलाह दी गई थी। उसके बाद से इस प्रकार की एक प्रथा विकसित हो गई है कि यदि राष्ट्रपति कोई सलाह मंत्रिमंडल को पुनर्विचार के लिए भेज दे तो इसे सामान्यतः राष्ट्रपति के पास पुनः नहीं भेजा जाता।

पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमण ने भी संविधान के तहत राष्ट्रपति को प्राप्त विवेकाधीन शक्तियों के चरित्र को व्याख्यायित किया था। भारतीय संदर्भ में राष्ट्रपति **'इमरजेंसी लाइट'** के समान है जो सामान्य विद्युत आपूर्ति में कोई अवरोध उत्पन्न होने पर, तब तक के लिए स्वयं प्रकाशित हो जाता है जब तक सामान्य विद्युत आपूर्ति पुनः रोशनी देने में समर्थ न हो जाए।

उन्मुक्तियाँ

- **अनुच्छेद 361**, राष्ट्रपति और राज्यपालों को विधिक कार्रवाई से व्यक्तिगत उन्मुक्ति प्रदान करता है। कोई न्यायालय राज्य के प्रमुख को किसी शक्ति का प्रयोग करने या कर्तव्य का पालन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता या करने से विरत नहीं कर सकता। यह संरक्षण अति व्यापक है। यह उन्मुक्ति शासकीय कार्य और लोप के लिए तो प्राप्त है ही साथ ही यह संविधान के इतर कार्यों के संदर्भ में भी प्राप्त है। प्रत्येक कार्य, जो संविधान के अनुसरण में किया जाना तात्पर्यित है, पूर्णतया संरक्षित है। अनुच्छेद 361 राष्ट्रपति या राज्यपाल को पक्षकार बनाने या उन्हें सूचना जारी करने के विरुद्ध रक्षा प्रदान करता है। वे अपनी शक्ति के प्रयोग के लिए किसी न्यायालय में उत्तरदायी

नहीं है।

- किंतु अनुच्छेद 361 द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत उन्मुक्ति का यह अर्थ नहीं है कि उनके कार्यों पर आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। चुनौती का आधार "दुर्भावना" हो सकता है। जब आक्षेप लगाया जाए तो उसका प्रतिवाद/संघ या राज्य को करना होगा। यदि व्यक्तिगत दुर्भावना का अभिकथन है और वह सिद्ध किया जा रहा है तो उसका प्रतिवाद होना चाहिए। राज्यपाल चाहे तो शपथ पत्र दायर कर सकता है। इस पर कोई प्रतिबंध नहीं है। उन्मुक्ति का यह परिणाम नहीं है कि न्यायालय को कार्य की विधि-मान्यता पर और दुर्भावना के आधार पर विचार करने की शक्ति नहीं है।
- जब राज्यपाल को कृत्य पदेन रूप में सौंपे जाते हैं, जैसे- विश्वविद्यालय के कुलाधिपति का पद, तो वह यह कार्य राज्यपाल होने के कराना नहीं करता, बल्कि वह कुलाधिपति के रूप में कार्य करता है। वह मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य नहीं करता और राज्य उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं है। कुलाधिपति के रूप में उसे वह उन्मुक्ति नहीं प्राप्त है जो राज्यपाल को प्राप्त है।

1.10. राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

- संविधान में सरकार का स्वरूप संसदीय है। परिणामतः राष्ट्रपति केवल नाममात्र का कार्यकारी प्रमुख होता है; मुख्य शक्तियाँ प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल में निहित होती हैं। अन्य शब्दों में, राष्ट्रपति अपनी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल की सहायता व सलाह से करता है।
    - भारत के राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति को समझने के लिए विशेष रूप से अनुच्छेद 53, 74 और 75 के प्रावधानों का संदर्भ प्रासंगिक है।
    - **अनुच्छेद 53** के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करेगा।
    - **अनुच्छेद 74** के अनुसार राष्ट्रपति की सहायता तथा सलाह के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद होगी। राष्ट्रपति संविधान के अनुसार अपने कार्य व कर्त्तव्य का निर्वहन उनकी सलाह पर करेगा।
    - **अनुच्छेद 75** के अनुसार मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। यह प्रावधान संसदीय व्यवस्था का आधार है।
- संविधान निर्माताओं को कोई संशय नहीं था कि वे ग्रेट ब्रिटेन के मॉडल पर ही सरकार के संसदीय स्वरूप की स्थापना कर रहे हैं। डॉ. अंबेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट रूप से कहा था,"राष्ट्रपति केवल नाममात्र का प्रमुख है" एवं "उसके पास कोई प्रशासनिक शक्ति नहीं है" तथा भारत के राष्ट्रपति की स्थिति इंग्लैंड के राजा के समान ही है। वह राज्य का प्रमुख तो है, किन्तु सरकार का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व तो करता है, किन्तु उस पर शासन नहीं। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन में उसका स्थान एक औपचारिक उपकरण (डिवाइस) या एक मुहर के समान है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णयों को सार्वजनिक किया जाता है।
- यद्यपि कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। किंतु, वह केवल कार्यपालिका का एक औपचारिक या संवैधानिक प्रमुख है। वास्तविक शक्ति, मंत्रिपरिषद में निहित है, जिसकी सहायता और सलाह के आधार पर राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करता है। कार्यपालिका की प्राथमिक ज़िम्मेदारी सरकारी नीति का निर्माण तथा विधि के रूप में उसका रूपांतरण करना है। यह अपने सभी कार्यों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी है जिसका विश्वास प्राप्त करना इसके लिए अत्यावश्यक है। इस उत्तरदायित्व का आधार अनुच्छेद 75(3) में सन्निहित है।
- राष्ट्रपति सामान्यतः मंत्रिमंडल की सलाह मानने हेतु बाध्य है। वह मंत्रियों की सलाह के विपरीत कुछ नहीं कर सकता और न ही उनकी सलाह के बिना ही कुछ कर सकता है।

- नाममात्र के प्रमुख के रूप में राष्ट्रपति की भूमिका उसके अप्रत्यक्ष चुनाव में प्रदर्शित होती है। यदि उसे वयस्क मताधिकार के द्वारा निर्वाचित किया जाता तो उसे कोई वास्तविक शक्ति न दिया जाना असंगत होता और साथ ही, यह आशंका भी विद्यमान रहती कि राष्ट्रपति अपने इस अधिकार के कारण अंततः शक्ति के केंद्र के रूप में उभर सकता है। चूँकि शक्ति को वास्तविक रूप से मंत्रिपरिषद और विधायिका में निहित होना था न कि राष्ट्रपति में, अतः उसका (राष्ट्रपति को) चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से किया जाना आवश्यक समझा गया।

42वाँ संविधान संशोधन,1976

- इस संशोधन ने भारतीय संविधान के तहत राष्ट्रपति पद के विषय में सभी संदेहों को समाप्त कर दिया। संशोधित रूप में अनुच्छेद 74 में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "राष्ट्रपति को सलाह देने व उसकी सहायता करने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रमुख, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में उसकी सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा"। यहाँ तक कि इस संशोधन के अंतर्गत, राष्ट्रपति एक सलाहकार या एक गाइड की भूमिका भी नहीं निभा सकता।

44वाँ संविधान संशोधन,1978

- अनुच्छेद 74 में एक परंतु इस प्रभाव के लिए जोड़ा गया कि, "राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर साधारणतः या अन्यथा पुनर्विचार की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। परिणामतः राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद के परामर्श के आधार पर ही कार्य करना पड़ता है, किन्तु राष्ट्रपति परामर्श पर पुनर्विचार करने को कह सकता है और यदि पुनर्विचार के बाद मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति की सलाह के विपरीत कार्य करने का निर्णय लेती है तो राष्ट्रपति के पास उनके निर्णय को मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है।
- हालाँकि, यह मानना गलत होगा कि राष्ट्रपति का पद पूर्णतः प्रभावहीन है। यह पहले ही देखा जा चुका है कि असाधारण और असामान्य परिस्थितियों के कुछ मामलों में राष्ट्रपति को सीमित विवेकाधिकार प्राप्त हैं, उदाहरणार्थ- लोकसभा के विघटन, मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी, लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत न मिलने की स्थिति में या बिना किसी उत्तराधिकारी के प्रधानमंत्री की कार्यकाल के दौरान ही मृत्यु हो जाने की स्थिति इत्यादि में। आसन्न संकट के समय इनमें से कोई भी विषय देश के लिए अत्यधिक महत्व का हो सकता है और दीर्घकाल में राष्ट्र की नियति पर गहरा प्रभाव डाल सकता है। इसके अतिरिक्त, उसे राष्ट्रहित के मामलों की जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त रूप से सशक्त किया गया है। प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति को संघ के मामलों में प्रशासन से संबंधित और कानून के लिए प्रस्तावों के विषय में मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों के विषय में जानकारी देने के लिए बाध्य है।
- संघ कार्यपालिका के सांकेतिक प्रमुख के रूप में राष्ट्रपति को किसी भी इच्छित जानकारी को प्राप्त करने का अधिकार है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री से किसी ऐसे निर्णय का प्रतिवेदन भेजने के लिए कह सकता है, जो किसी मंत्री द्वारा लिया गया हो किन्तु संपूर्ण मंत्रिपरिषद ने इसका अनुमोदन नहीं किया हो। यह प्रावधान मंत्रियों के मध्य सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत को क्रियान्वित करने के लिए बनाया गया है। इन सभी मामलों में, स्पष्ट है कि राष्ट्रपति, मंत्रियों की सलाह के बिना स्वयं अपनी ज़िम्मेदारी पर कार्य करता है। लेकिन इन सब से अधिक, राष्ट्रपति मंत्रियों पर एक प्रेरक प्रभाव डाल सकता है और अपने परामर्श तथा अनुभव के द्वारा उनकी सहायता कर सकता है। ब्रिटिश राजा के समान, राष्ट्रपति की भूमिका "मंत्रियों को उनके दिए गए परामर्श के संदर्भ में परामर्श देना, प्रोत्साहित करना तथा चेतावनी देना है।"

निष्कर्ष

- हालाँकि, राष्ट्रपति का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है तथा एक सच्चरित्र एवं योग्य व्यक्ति सरकार के कामकाज पर सकारात्मक प्रभाव डाल सकता है। राष्ट्रपति अपनी सलाह एवं सहायता द्वारा, अपने ज्ञान, अनुभव के प्रसार द्वारा तथा आम जनता के हितों को प्रभावित करने

वाले निर्णयों पर विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाकर अपना प्रभाव स्थापित कर सकता है। लेकिन, उसे अपने मंत्रियों को किसी विशेष कार्यवाही के लिए बाध्य करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

- अंततः संपूर्ण विश्लेषण के उपरांत हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रपति नहीं, अपितु मंत्रिपरिषद वह प्राधिकारी है जो व्यवहारिक रूप में प्रभावशाली है। अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में राष्ट्रपति का कार्य सलाहकारी प्रवृत्ति का होगा। वह एक शिक्षक, दार्शनिक तथा मंत्रियों के मित्र के रूप में सलाह दे सकता है, परंतु स्वयं को उनके स्वामी के रूप में स्थापित नहीं कर सकता अर्थात यह कार्य प्रधानमंत्री को सौंपा गया है। अतः राष्ट्रपति को राष्ट्रप्रमुख की और प्रधानमंत्री को राजप्रमुख की भूमिकाएं प्रदान की गयी है। संविधान के निर्माताओं का अभिप्राय, राष्ट्रपति को एक ऐसे केंद्र के रूप में स्थापित किए जाने का था जहाँ से संपूर्ण प्रशासन में लाभकारी प्रभाव का प्रसार हो सके। स्पष्टतः उनका उद्देश्य उसे शक्ति का केंद्र बनाना नहीं था।

2. उपराष्ट्रपति

2.1. भूमिका

- भारतीय संविधान का **अनुच्छेद 63** निर्धारित करता है कि '**भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा**'। यह पद देश का द्वितीय सर्वोच्च पद है। आधिकारिक क्रम में उसका पद राष्ट्रपति के पश्चात् है। उपराष्ट्रपति का पद, अमेरिकी उपराष्ट्रपति की तर्ज पर अपनाया गया है। वेंकैया नायडू भारत के 13वें उपराष्ट्रपति के रूप में 5 अगस्त 2017 को निर्वाचित हुए।

2.2. अर्हताएँ

उपराष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के लिए निम्नलिखित अर्हताएँ निर्धारित की गयी हैं:

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
- वह राज्यसभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो।
- वह, केंद्र सरकार या किसी राज्य सरकार या किसी स्थानीय प्राधिकरण या अन्य किसी सार्वजनिक प्राधिकरण के अंतर्गत कोई लाभ का पद धारण नहीं करता हो।
- किन्तु, एक वर्तमान राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, किसी राज्य के राज्यपाल और संघ अथवा राज्य के मंत्री के पद 'लाभ के पद' नहीं माने जाते हैं। संसद या किसी राज्य विधानसभा का सदस्य राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के पद के लिए प्रत्याशी हो सकता है।
- यदि वह उपराष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित हो जाता है, तो यह समझा जाएगा कि उसने, यथास्थिति, अपना स्थान, जिस तारीख से उसने उपराष्ट्रपति का पद धारण किया, उस तिथि को रिक्त कर दिया है; इस हेतु अलग से त्यागपत्र की कोई आवश्यकता नहीं होती है।
- इसके अतिरिक्त, उपराष्ट्रपति चुनाव के नामांकन हेतु उम्मीदवार को, कम से कम 20 प्रस्तावकों तथा 20 अनुमोदकों द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए।

2.3. निर्वाचन

- राष्ट्रपति की भाँति, उपराष्ट्रपति को भी जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित नहीं किया जाता बल्कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि अपनायी जाती है। वह संसद के दोनों सदनों के सदस्यों के निर्वाचक मंडल द्वारा चुना जाता है। यह निर्वाचक मंडल, राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल से दो मामलों में भिन्न है:

- इसमें संसद के निर्वाचित और मनोनीत दोनों सदस्य (राष्ट्रपति के चुनाव के मामले में केवल निर्वाचित सदस्य) शामिल होते हैं।
- इसमें राज्य विधानसभाओं के सदस्य शामिल नहीं होते हैं (राष्ट्रपति के चुनाव में राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होते हैं)।

- किन्तु, दोनों मामलों में चुनाव प्रक्रिया समान होती है अर्थात् राष्ट्रपति के चुनाव की तरह उपराष्ट्रपति का चुनाव भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत के माध्यम से और गुप्त मतदान प्रक्रिया द्वारा होता है।

2.4. पदावधि

- उपराष्ट्रपति की पदावधि, उसके पद ग्रहण करने की तिथि से लेकर 5 वर्ष तक होती है। हालाँकि, वह अपनी पदावधि के दौरान किसी भी समय अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को दे सकता है। उसे अपने पद से पदावधि पूर्ण होने के पूर्व भी हटाया जा सकता है। उसे हटाने के लिए महाभियोग की आवश्यकता नहीं है। उसे राज्यसभा द्वारा संकल्प पारित कर **प्रभावी बहुमत (Effective Majority)** द्वारा हटाया जा सकता है (अर्थात् सदन के कुल सदस्यों का बहुमत) तथा इसमें लोकसभा की सहमति आवश्यक है। परंतु, ऐसा कोई प्रस्ताव पेश नहीं किया जा सकता, जब तक उसे 14 दिन की अग्रिम सूचना न दी गई हो। ध्यान देने योग्य बात यह है कि संविधान में उसे हटाने हेतु **किसी विशेष आधार का उल्लेख नहीं** किया गया है।
- उपराष्ट्रपति 5 वर्ष की पदावधि के उपरांत भी अपने पद पर बना रह सकता है, जब तक उसका उत्तराधिकारी पदग्रहण न कर ले। वह पद पर पुनर्निर्वाचन के योग्य होता है।

2.5. पद रिक्तिता

उपराष्ट्रपति का पद निम्नलिखित कारणों से रिक्त हो सकता है:

- 5 वर्षीय पदावधि की समाप्ति होने पर।
- उसके द्वारा त्यागपत्र देने पर।
- उसे बर्खास्त करने पर।
- उसकी मृत्यु पर।
- यदि वह पद ग्रहण करने के अयोग्य हो अथवा उसका निर्वाचन अवैध घोषित हो जाए।

जब पद रिक्ति का कारण उसके कार्यकाल का समाप्त होना हो, तब उस पद को भरने हेतु उसका कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व नया चुनाव आयोजित किए जाने का प्रावधान है।

यदि उसका पद उसकी मृत्यु, त्यागपत्र, निष्कासन अथवा अन्य किसी कारण से रिक्त होता है, तो उस स्थिति में शीघ्रातिशीघ्र चुनाव करवाने चाहिए। नव निर्वाचित उपराष्ट्रपति पद ग्रहण करने की तिथि से 5 वर्ष की अवधि तक अपने पद पर बना रहता है।

2.6. शक्तियाँ और कार्य

उपराष्ट्रपति के कार्य दोहरी प्रकृति के होते हैं:

- वह **राज्यसभा के पदेन सभापति** के रूप में कार्य करता है। इस संदर्भ में, उसकी शक्तियाँ व कार्य लोकसभा अध्यक्ष की भाँति ही होते हैं। इस संबंध में वह अमेरिकी उपराष्ट्रपति के समान ही कार्य करता है, जो सीनेट (अमेरिका के उच्च सदन) के चेयरमैन के रूप में कार्य करता है।
- जब राष्ट्रपति का पद उसके त्यागपत्र, निष्कासन, मृत्यु तथा अन्य कारणों से रिक्त होता है तो वह **कार्यवाहक राष्ट्रपति** के रूप में भी कार्य करता है। कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में अधिकतम 6 महीने की अवधि तक कार्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान राष्ट्रपति की अनुपस्थिति,

बीमारी या किसी अन्य कारण से अपने कार्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो, तो वह राष्ट्रपति के पुनः कार्य करने तक, उसके कर्तव्यों का निर्वाह करता है।

- कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने के दौरान, उपराष्ट्रपति राज्यसभा के सभापति के रूप में कार्य नहीं करता है। इस अवधि में उसके कार्यों का निर्वाह, उपसभापति द्वारा किया जाता है।

2.7. भारत एवं अमेरिकी उपराष्ट्रपतियों की तुलना

- यद्यपि भारत के उपराष्ट्रपति का पद, अमेरिकी उपराष्ट्रपति मॉडल पर आधारित है, परंतु इसमें काफी भिन्नता है। अमेरिका का उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर पूर्व राष्ट्रपति के कार्यकाल की शेष अवधि तक उस पद पर बना रहता है। दूसरी ओर, भारत का उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर, पूर्व राष्ट्रपति के शेष कार्यकाल तक उस पद पर नहीं रहता है। वह एक कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में तब तक कार्य करता है, जब तक कि नया राष्ट्रपति कार्यभार ग्रहण न कर ले।
- इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान में उपराष्ट्रपति हेतु कोई विशेष कार्य नहीं सौंपा गया है तथा यह पद भारत में मुख्य रूप से राजनीतिक निरंतरता को बनाए रखने हेतु सृजित किया गया है।

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों की तुलना

- **निर्वाचन**

राष्ट्रपति	उपराष्ट्रपति
राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा होता है जो संसद के दोनों सदनों और राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनता है।	निर्वाचक मंडल संसद के दोनों सदनों तक ही सीमित है। राज्य विधान सभाओं के सदस्य इसमें भाग नहीं लेते।

दोनों दशाओं में निर्वाचन गुप्त मतदान द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

- **अर्हताएँ**

भारत का नागरिक हो।	भारत का नागरिक हो।
35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।	35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
लोक सभा के लिए निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो।	राज्य सभा के लिए निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो।

दोनों द्वारा कोई लाभ का पद धारण नहीं करना चाहिए।

- **पदावधि**

पद ग्रहण करने की तिथि से 5 वर्ष।	पद ग्रहण करने की तिथि से 5 वर्ष।

- **पद त्याग**

उपराष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकता है।	राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकता है।

- **हटाया जाना**

महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।	महाभियोग नहीं होता किंतु राज्य सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा, जिसमें लोक सभा सहमत हो, हटाया जा सकता है।

- **पुनर्निर्वाचन**

कितनी बार भी निर्वाचित हो सकता है।	कितनी बार भी निर्वाचित हो सकता है।

- **कृत्य**

संविधान के अधीन अनेक कृत्य	केवल एक ही कृत्य है, राज्य सभा के सभापति के रूप में कृत्य करना। जब राष्ट्रपति का पद रिक्त हो तब वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करता है।

3. प्रधानमंत्री

- संविधान द्वारा प्रदत्त सरकार की संसदीय प्रणाली में, राष्ट्रपति, नाममात्र कार्यपालिका प्रधान की जबकि प्रधानमंत्री वास्तविक राजप्रमुख की भूमिका में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रपति राज्य का प्रमुख होता है जबकि प्रधानमंत्री सरकार का प्रमुख होता है। प्रधानमंत्री नीति आयोग, राष्ट्रीय एकता परिषद और अंतर्राज्यीय परिषद का पदेन अध्यक्ष होता है। परंपरागत रूप से, कुछ विशिष्ट मंत्रालयों/विभागों जिन्हें प्रधानमंत्री किसी अन्य को आवंटित नहीं करते हैं, उन विभागों की जिम्मेदारी स्वयं प्रधानमंत्री पर होती है।

सामान्यतया प्रधानमंत्री पर निम्नलिखित विभागों की जिम्मेदारी होती है:

- मंत्रिमंडल की नियुक्ति समिति
- कार्मिक लोक शिकायत और पेंशन मंत्रालय
- परमाणु ऊर्जा विभाग तथा
- अंतरिक्ष विभाग आदि।

3.1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति

- संविधान द्वारा प्रधानमंत्री की नियुक्ति के लिए कोई विशेष प्रक्रिया सुनिश्चित नहीं की गई है। **अनुच्छेद 75** के अनुसार, केवल इसका प्रावधान किया गया है कि **प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा** की जाएगी। हालाँकि, राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के रूप में किसी को भी नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। सरकार की संसदीय प्रणाली की परंपराओं के अनुसार राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के रूप में लोकसभा में बहुमत दल के नेता को नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है।
- लेकिन, जब किसी भी दल को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत विवेक के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन और उसकी नियुक्ति कर सकता है। ऐसी स्थिति में सामान्यतः वह सबसे बड़े दल के नेता या लोकसभा में सबसे बड़े गठबंधन के नेता को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त करता है और उसे एक निश्चित समय सीमा के अंदर सदन में विश्वास मत प्राप्त करने के लिए कहता है।

3.2. प्रधानमंत्री की शक्तियाँ और कार्य

प्रधानमंत्री की शक्तियों और कार्यों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के तहत किया जा सकता है:

3.2.1 मंत्रिपरिषद के संबंध में

- प्रधानमंत्री द्वारा जिन व्यक्तियों की सिफारिश की जाती है, राष्ट्रपति (केवल) उन्हीं को मंत्री के रूप में नियुक्त करता है।
- प्रधानमंत्री अपनी इच्छानुसार मंत्रियों को उनके विभाग आवंटित करता है और उनमें परिवर्तन भी कर सकता है।
- यदि प्रधानमंत्री और उसके किसी अधीनस्थ मंत्री के मध्य किसी मुद्दे पर मतभेद उत्पन्न होता है तो वह उस मंत्री को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है या राष्ट्रपति को उसे बर्खास्त करने के लिए कह सकता है।

- प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद की बैठक की अध्यक्षता करता है और बैठक के निर्णय को विशेष रूप से प्रभावित भी करता है।
- वह सभी मंत्रियों का मार्गदर्शन, निर्देशन एवं नियंत्रण करता है और उनकी गतिविधियों में समन्वय स्थापित करता है।
- प्रधानमंत्री अपने पद से त्यागपत्र देकर मंत्रिपरिषद को समाप्त कर सकता है।

3.2.2. राष्ट्रपति के संबंध में

- प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद के मध्य संचार का प्रमुख माध्यम होता है। वह राष्ट्रपति को संघ के प्रशासनिक मामलों और विधायी प्रस्तावों से संबंधित मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों के बारे में सूचित करता है।
- वह राष्ट्रपति की इच्छानुसार, संघ के प्रशासनिक मामलों और विधायी प्रस्तावों को उसके समक्ष प्रस्तुत करता है। यदि राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो किसी ऐसे मामले, जिस पर किसी मंत्री द्वारा निर्णय ले लिया गया हो लेकिन मंत्रिपरिषद द्वारा उस पर विचार नहीं किया गया हो, के संबंध में प्रधानमंत्री उसे रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।
- प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण अधिकारियों जैसे: महान्यायवादी, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष, निर्वाचन आयुक्तों, वित्त आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति में सलाह देता है।

3.2.3. संसद के संबंध में

- प्रधानमंत्री निचले सदन अर्थात् लोकसभा का नेता होता है। वह राष्ट्रपति को संसद के सत्र को बुलाने के लिए सलाह देता है।
- वह राष्ट्रपति को किसी भी समय लोकसभा को भंग करने के लिए कह सकता है।
- वह सदन में सरकार की नीतियों की घोषणा करता है।

3.2.4 अन्य शक्तियाँ और कार्य

- प्रधानमंत्री नीति आयोग, राष्ट्रीय एकता परिषद, अंतर्राज्यीय परिषद और राष्ट्रीय जल संसाधन परिषद आदि का अध्यक्ष होता है।
- वह देश की विदेश नीति को आकार देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
- वह केंद्र सरकार का मुख्य प्रवक्ता होता है।
- वह आपात स्थिति के दौरान राजनीतिक स्तर पर मुख्य प्रबंधक होता है।
- राष्ट्र के नेता के रूप में वह अलग-अलग राज्यों के विभिन्न वर्गों के लोगों से मिलता है और उनकी समस्याओं के बारे में उनसे ज्ञापन प्राप्त करता है। वह सत्ता में स्थापित दल का नेता होता है।
- वह प्रशासनिक सेवाओं का राजनीतिक प्रमुख होता है।

3.3. प्रधानमंत्री का राज्यसभा का सदस्य होना

- संविधान प्रधानमंत्री को राज्यसभा का सदस्य होने से निषेध नहीं करता है। हालाँकि, संसदीय लोकतंत्र की मांग के अनुसार प्रधानमंत्री को लोकसभा, जो प्रत्यक्षतः जनता द्वारा चुनी जाती है, की सदस्यता प्राप्त कर सर्वोत्कृष्ट परंपराओं का निर्वहन करना चाहिए।
- ऐसा इसलिए क्योंकि राज्यसभा में सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। यहाँ यह तर्क भी दिया जाता है कि संघ के प्रधानमंत्री को लोकसभा के निर्वाचित सदस्य के रूप में होना चाहिए।

- उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में प्रधानमंत्री का हाउस ऑफ कॉमंस का सदस्य होना अनिवार्य कर दिया गया है। लेकिन भारत में किसी ऐसे व्यक्ति को भी प्रधानमंत्री नियुक्त किया जा सकता है जो संसद का सदस्य न हो। ऐसी स्थिति में नियुक्त व्यक्ति को 6 माह के भीतर संसद के किसी एक सदन की सदस्यता प्राप्त करनी होती है। उदाहरणस्वरूप श्रीमती इंदिरा गाँधी, पी. वी. नरसिंह राव, एच. डी. देवगौड़ा, डॉ. मनमोहन सिंह आदि नियुक्ति के समय संसद के सदस्य नहीं थे।

3.4. सरकार की प्रधानमंत्री प्रणाली

- सरकार के प्रधानमंत्री प्रणाली के स्वरूप में प्रधानमंत्री, कार्यपालिका में अधिक प्रभावी रहता है। आमतौर पर यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब सत्ता में एक दल का प्रभुत्व हो और प्रधानमंत्री उस दल का निर्विवाद नेता हो। ऐसे परिदृश्य में प्रधानमंत्री के निर्णय को आमतौर पर मंत्रिमंडल द्वारा मंजूरी प्रदान कर दी जाती है। इस प्रकार वास्तविक अर्थों में ये निर्णय सामूहिक निर्णय नहीं होते इस प्रणाली के लाभ-हानि निम्नलिखित हैं:

लाभ	हानि
समय पर निर्णय।	निर्णय जल्दबाजी में और राजनीतिक रूप से प्रेरित हो सकते हैं।
सरकार मजबूती से निर्णय लेती है।	विवेचना के पश्चात भी प्रायः निर्णय नहीं लिए जाते।
प्रशासन को स्पष्ट दिशा-निर्देश प्राप्त होते हैं।	अतिरिक्त संवैधानिक प्राधिकारी, प्रभाव का उपयोग कर सकते हैं।

3.5. प्रधानमंत्री पद पर गठबंधन की राजनीति का प्रभाव

- सामान्यतः, यह देखा जाता है कि गठबंधन सरकार के प्रमुख होने की स्थिति में प्रधानमंत्री के अधिकार कम हो जाते हैं। इसका कारण एक खंडित जनादेश (fractured mandate) की स्थिति में गठबंधन सरकार का गठन है। कई बार, घटक दलों के सदस्य वास्तविक प्रधानमंत्री की बजाय, अपने दल के नेता को प्रधानमंत्री मानने लगते हैं। हालाँकि, यह प्रवृत्ति प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व एवं गठबंधन की राजनीति की प्रकृति के साथ परिवर्तित होती रहती है तथा यह मनोवृत्ति उस शैली पर भी महत्वपूर्ण रूप से निर्भर होती है, जिसके द्वारा गठबंधन का प्रबंधन किया जाता है। ऐसे मामलों में, प्रधानमंत्री की भूमिका, बहुमत दल के एक नेता के बजाय, गठबंधन सरकार के प्रबंधक जैसी हो जाती है।

4. केंद्रीय मंत्रिपरिषद (Central Council of Ministers)

अनुच्छेद 74 और 75, केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के प्रावधानों से संबंधित है। ये विस्तृत रूप से नीचे दिए गए हैं:

4.1. मंत्रिपरिषद की नियुक्ति और कार्यकाल

- राष्ट्रपति को सहायता एवं सलाह देने हेतु एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होगा। राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही कार्य करेगा। तथापि, यदि राष्ट्रपति चाहे तो वह एक बार मंत्रिपरिषद से पुनर्विचार के लिए कह सकता है। किन्तु, मंत्रिपरिषद द्वारा पुनर्विचार के बाद प्रस्तुत सलाह के अनुसार ही राष्ट्रपति कार्य करेगा।
- मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह की जांच किसी न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती।

- राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की नियुक्ति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह पर कार्य करेगा। प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की सूची राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है एवं सामान्यतः राष्ट्रपति इसका समर्थन करता है। एक व्यक्ति को मंत्री के रूप में नियुक्त किए जाने के समय यह आवश्यक नहीं है कि वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य हो। संविधान में कहा गया है कि एक व्यक्ति जो संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं है, अधिकतम 6 महीने की

अवधि तक मंत्री बना रह सकता है। इस प्रकार, कोई व्यक्ति जब संसद की सदस्यता के बिना मंत्री पद प्राप्त करता है तो उसे 6 माह के अंतर्गत संसद के किसी भी सदन की सदस्यता प्राप्त करनी होती है।
- प्रधानमंत्री सहित मंत्रिपरिषद के सदस्यों की कुल संख्या, लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15% से अधिक नहीं होगी। इस उपबंध का समावेश 91वें संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा किया गया है।
- संसद के किसी भी सदन का, किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य, यदि दलबदल के आधार पर संसद की सदस्यता हेतु अयोग्य घोषित कर दिया जाता है, तो ऐसा सदस्य मंत्री पद हेतु भी अयोग्य होगा। इस प्रावधान को भी, 91वें संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा जोड़ा गया है।
- मंत्री, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे।
- मंत्रिपरिषद, लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।
- राष्ट्रपति द्वारा मंत्रियों को पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलाई जाएगी।
- मंत्रियों के वेतन एवं भत्ते, संसद द्वारा निर्धारित किए जाएंगे तथा जब तक संसद भत्ते का निर्धारण नहीं करती, तब तक वे भत्ते उसी प्रकार निर्धारित होंगे जैसा कि दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।
- एक मंत्री को जो संसद के किसी एक सदन का सदस्य है, दूसरे सदन की कार्यवाही में भाग लेने और बोलने का अधिकार है। परंतु, वह उस सदन में मत नहीं दे सकता है जिसका वह सदस्य नहीं है।

4.2. मंत्रिपरिषद की संरचना

मंत्रिपरिषद में सामान्यतः निम्नलिखित श्रेणियों के मंत्री शामिल होते हैं:

- **कैबिनेट मंत्री:** कैबिनेट मंत्री वे हैं जिनके पास केंद्र सरकार के महत्वपूर्ण मंत्रालय जैसे: रक्षा, गृह, वित्त, विदेश आदि मंत्रालय होते हैं। वे पद, वेतन और शक्तियों में सर्वोच्च होते हैं। इन्हीं मंत्रियों से मंत्रिमंडल का गठन होता है। इन्हें धुरी (मंत्रिपरिषद) के भीतर एक धुरी के रूप में वर्णित किया गया है। उनकी संख्या समय-समय पर बदलती रहती है, लेकिन शायद ही कभी **बीस** से अधिक होती है। कैबिनेट मंत्री सामूहिक रूप से सरकार की नीतियों के निर्माण और मंत्रिमंडल की सभी बैठकों में भाग लेने के हक़दार हैं। कभी कभी, वरिष्ठ नेताओं को बिना किसी पोर्टफोलियो के मंत्री के रूप में मंत्रिमंडल में शामिल किया जाता है।
- **राज्यमंत्री (स्वतंत्र प्रभार):** यह एक राज्य मंत्री है जो किसी कैबिनेट मंत्री के अधीन कार्य नहीं करता है। इन्हें मंत्रालय/विभागों के स्वतंत्र प्रभार सौंपे जाते हैं। जब उसके विभाग से संबंधित कोई विषय मंत्रिमंडल की कार्य-सूची में होता है तो उसे बैठक में उपस्थित होने के लिए आमंत्रित किया जाता है।
- **राज्य मंत्री:** इस मंत्री के पास किसी विभाग का स्वतंत्र प्रभार नहीं होता और वह कैबिनेट मंत्री के अधीन कार्य करता है। जिस मंत्री के अधीन वह कार्य करता है, वही उसे कार्य आवंटित करता है।
- **उपमंत्री:** ऐसा मंत्री किसी कैबिनेट मंत्री या स्वतंत्र प्रभार वाले राज्य मंत्री के अधीन कार्य करता है। जिस मंत्री के अधीन वह कार्य करता है वही उसे कार्य आवंटित करता है।

4.3. मंत्रिपरिषद के कार्य

- मंत्रिपरिषद मुख्य रूप से राष्ट्रपति को उनके कार्यों में सहायता और सलाह देता है। मंत्रिपरिषद वास्तव में केन्द्र सरकार से संबंधित मामलों के प्रशासनिक कर्तव्य से आबद्ध है। चूँकि मंत्रालय भारत सरकार का सर्वोच्च अंग है, अतः यह देश के प्रशासन से संबंधित सभी नीतियों का निर्धारण करता है। इस पर आंतरिक और विदेश नीतियों के निर्माण का उत्तरदायित्व होता है। देश की शांति और समृद्धि काफी हद तक मंत्रालय द्वारा निर्मित नीति पर निर्भर करती है। मंत्री न केवल अपने कार्यकारी विभागों के प्रमुख होते हैं, बल्कि ये विधायिका में बहुमत प्राप्त दल के महत्वपूर्ण सदस्य होते हैं या उन्हें विधायिका में कम से कम बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है।
- मंत्रालय, राज्य की आर्थिक गतिविधियों को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मुद्रा, बैंकिंग, वाणिज्य, व्यापार, बीमा और अन्य योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन मंत्रालय द्वारा विनियमित तथा नियंत्रित किए जाते हैं। संक्षेप में, मंत्रिपरिषद केंद्र सरकार के प्रशासनिक तंत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

5. मंत्रिमंडल (Cabinet)

- मंत्रिमंडल राजनीतिक एकरूपता के सिद्धांत पर कार्य करता है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो सामान्यतः प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल के सदस्य एक ही दल के होते हैं। सामूहिक उत्तरदायित्व मंत्री को एक समान विचार रखने तथा एक नीति का प्रयोग करने हेतु बाध्य करता है। यदि मंत्रियों के मध्य मतभेद हो तो उसे मंत्रिमंडल की गोपनीय बैठकों में समाधान कर लिया जाता है। वस्तुतः आम जनता के बीच वे पूर्ण एकता प्रदर्शित करते हैं।

5.1. मंत्रिमंडल के कार्य

- **नीति निर्माण:** मंत्रिमंडल (कैबिनेट) राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय विषयों से संबंधित नीतियों के निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है। सभी नीतिगत निर्णय आम सहमति से लिए जाते हैं तथा प्रधानमंत्री उन निर्णयों के बारे में राष्ट्रपति को सूचित करता है।
- **विधायी शक्तियाँ:** सभी मंत्री संसद के सदस्य होते हैं, अतः विधि निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। संसद में लगभग सभी विधेयक मंत्रियों के द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं तथा उन्हें प्राप्त बहुमत के कारण आसानी से पारित भी हो जाते हैं। हालाँकि, मंत्रियों के द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले विधेयकों पर पहले मंत्रिमंडल द्वारा विचार करके उन पर सहमति दी जाती है। मंत्रिमंडल विधेयक में ऐसे परिवर्तनों को शामिल कर सकता है जो उसे आवश्यक लगते हैं।
- **वित्तीय शक्तियाँ:** मंत्रिमंडल, सरकार के सभी व्ययों और इन व्ययों की पूर्ति के लिए आवश्यक राजस्व के स्रोतों की व्यवस्था करने के लिए उत्तरदायी है। वित्तमंत्री के द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला वार्षिक बजट मंत्रिमंडल के नियंत्रण में होता है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि बजट के प्रस्ताव अत्यधिक गोपनीय रखे जाते हैं तथा संसद में बजट की प्रस्तुति से केवल एक घंटे पूर्व ही वित्तमंत्री द्वारा मंत्रिमंडल का विश्वास प्राप्त किया जाता है। मंत्रिमंडल बजट में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती। परंतु, संसद में बजट प्रस्तावों पर चर्चा के दौरान वह परिवर्तन करने में समर्थ है। तत्पश्चात्, इस प्रकार किए गए परिवर्तनों की घोषणा वित्तमंत्री के द्वारा की जाती है। मंत्रिमंडल आर्थिक और वित्तीय नीतियों का अनुमोदन तथा वित्त आयोग और भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टों पर निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी होती है।
- **नियुक्तियाँ करने की शक्ति:** यद्यपि राष्ट्रपति राज्य के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की विस्तृत शक्ति धारण करता है, परंतु वास्तव में राष्ट्रपति द्वारा ये नियुक्तियाँ मंत्रिमंडल की सलाह के आधार पर की जाती हैं। मंत्रिपरिषद की सलाह राष्ट्रपति पर बाध्यकारी होती है और वस्तुतः राष्ट्रपति के सभी कार्य इसके ही द्वारा संपन्न किए जाते हैं। हालाँकि, राष्ट्रपति केवल एक बार मंत्रिपरिषद से

इसकी सलाह पर पुनर्विचार का आग्रह कर सकता है। पुनर्विचार के उपरांत दी गयी सलाह को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है। (44वाँ संविधान संशोधन अधिनियम)

- मंत्रिमंडल एक निगमित निकाय है। यह न सिर्फ विभिन्न विभागों के कार्यों का समन्वय करता है अपितु, साथ ही अंतर-विभागीय विवादों का निराकरण भी करता है। **एम. वी. पाईली** ने मंत्रिमंडल को **"राष्ट्रीय नीतियों का निर्माता, उच्चतम नियुक्ति प्राधिकारी, अंतर-विभागीय विवादों का मध्यस्थ और सरकार में समन्वय का सर्वोच्च अंग"** कहा है।

5.2. मंत्रिमंडलीय समितियाँ (Cabinet Committees)

- मंत्रिमंडल पर अतिरिक्त कार्यभार को कम करने के लिए मंत्रिमंडलीय समितियों का गठन किया गया। सरकार की कार्यप्रणाली के पुनर्गठन पर एन. गोपालस्वामी अयंगर की रिपोर्ट (1949) में कुछ सुनिश्चित कार्यों हेतु सचिवालय एवं यथोचित अंगों से युक्त स्थायी समितियों (स्थायी चरित्र) के निर्माण की अनुशंसा की गयी थी। ये 'विकेन्द्रीकृत आधार पर समन्वय के आयोजन' के उपकरण थे।
- कैबिनेट समितियों को सरकार के कामकाज के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों को आपस में समाहित कर लेना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि वे नियमित रूप से बैठक करती रहें ताकि जटिल समस्याओं पर निरंतर ध्यान दिया जाता रहे तथा महत्वपूर्ण नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने वाले कार्यक्रमों की प्रगति की निरंतर समीक्षा होती रहे।
- मंत्रिमंडलीय समितियों की संख्या और नाम सदैव अपरिवर्तित नहीं रहते क्योंकि समय समय पर कुछ विशेष समस्याओं के समाधान के लिए तदर्थ समितियों का गठन कर उन्हें कार्य सम्पन्न होने के उपरांत भंग कर दिया जाता है। किन्तु, चार ऐसी समितियाँ हैं जिनका केंद्र की प्रत्येक सरकार के दौरान अस्तित्व बना रहा है। ये निम्नलिखित हैं:

1. **राजनीतिक मामलों पर मंत्रिमंडलीय समिति (Cabinet Committee on Political Affairs):** इसकी अध्यक्षता **प्रधानमंत्री** द्वारा की जाती है। इसके अन्य सदस्यों में गृह मंत्री, रक्षा मंत्री और विदेश मंत्री शामिल होते हैं। यह समिति आंतरिक विकास तथा अंतरराष्ट्रीय संबंधों से संबद्ध महत्वपूर्ण मामलों से संबंधित है। सभी मंत्रिमंडलीय समितियों में यह सर्वाधिक शक्तिशाली होती है। इसे प्रायः **'सुपर कैबिनेट'** भी कहा जाता है।
2. **आर्थिक मामलों पर मंत्रिमंडलीय समिति (Cabinet Committee on Economic Affairs)**: इसके सदस्यों में **प्रधानमंत्री** (अध्यक्ष), वित्त मंत्री, ग्रामीण विकास मंत्री और उद्योग मंत्री शामिल होते हैं। इसका मुख्य कार्य आर्थिक क्षेत्र में सरकारी गतिविधियों का नियंत्रण एवं समन्वय तथा सामान्यतः देश की अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली का नियमन करना है।
3. **संसदीय मामलों पर मंत्रिमंडलीय समिति (Cabinet Committee on Parliamentary Affairs):** इसके सदस्यों में सूचना एवं प्रसारण मंत्री, श्रम मंत्री, संसदीय कार्यमंत्री, विधि मंत्री तथा इसके अध्यक्ष के रूप में गृह मंत्री शामिल हैं। यह समिति संसद में किसी विधि के आसानी से पारित हो जाने के लिए सरकार के कामकाज की प्रगति को ध्यान में रखती है तथा संसद के समक्ष गैर-सरकारी विधेयकों तथा संकल्पों के आने पर सरकार की कार्यप्रणाली का निर्धारण करती है।
4. **मंत्रिमंडल की नियुक्ति समिति (Appointment Committee of the Cabinet)**: इसके सदस्यों में प्रधानमंत्री (अध्यक्ष), गृह मंत्री और संबंधित मंत्री शामिल होते हैं।

5.3. सरकार की संसदीय प्रणाली के कार्यकारी सिद्धांत

5.3.1 सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत (Principle of Collective Responsibility)

- सरकार का संसदीय स्वरूप सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत पर आधारित है। संविधान के **अनुच्छेद 75(3)** के अनुसार **मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है, राज्यसभा के प्रति नहीं।** इसका अर्थ यह है कि सभी मंत्री सामूहिक रूप से सरकार की नीतियों और निर्णयों के लिए लोकसभा के प्रति जवाबदेह हैं, भले ही वह निर्णय किसी भी मंत्रालय से संबंधित हो।
- निर्णय लिए जाने तक कोई मंत्री निर्णय के संबंध में विभिन्न मुद्दों से संबंधित अपने मतभेदों को व्यक्त कर सकता है, परंतु यदि मंत्रिमंडल द्वारा निर्णय ले लिया जाए तो वह सभी मंत्रियों का सामूहिक निर्णय हो जाता है। यह प्रत्येक मंत्री का कर्तव्य है कि मंत्रिमंडल के निर्णयों का संसद के बाहर और भीतर समर्थन करे। यदि कोई मंत्री मंत्रिमंडल के निर्णय से सहमत नहीं है तो उसके पास त्यागपत्र देने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद एक टीम की भांति कार्य करती है। सरल शब्दों में कहा जाए तो **'वे साथ ही तैरते हैं और साथ ही डूबते हैं'** अर्थात् सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं।
- इसी प्रकार यदि लोकसभा मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दे तो राज्यसभा के मंत्रियों समेत सभी मंत्रियों को त्यागपत्र देना पड़ता है। वैकल्पिक रूप से मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को इस आधार पर लोकसभा का विघटन कर नए चुनाव करवाने की सलाह दे सकती है कि सदन मतदाताओं के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

5.3.2. मंत्रियों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व

- अनुच्छेद 75 में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धांत भी निहित है। अनुच्छेद 75(2) के अनुसार मंत्री, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपने पद को धारण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि मंत्रिपरिषद के लोकसभा में बहुमत प्राप्त करने के पश्चात भी राष्ट्रपति किसी मंत्री को उसके पद से हटा सकता है। हालाँकि, राष्ट्रपति किसी भी मंत्री को केवल प्रधानमंत्री की सलाह पर ही पदमुक्त कर सकता है।

5.3.3. प्रधानमंत्री की भूमिका

- प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद रूपी मेहराब की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिला है। मंत्रिपरिषद के गठन, इसके अस्तित्व एवं अंत में प्रधानमंत्री की केंद्रीय भूमिका है। यदि प्रधानमंत्री त्यागपत्र दे दे या उसकी मृत्यु हो जाए तो संपूर्ण मंत्रिपरिषद उसके साथ ही समाप्त हो जाती है। प्रधानमंत्री अपने समकक्षों में प्रथम (primus inter pares) होता है। वह मंत्रिमंडल की बैठक आहूत करता है तथा उसकी अध्यक्षता करता है। साथ ही, वह किसी भी मंत्री से त्यागपत्र मांग सकता है या राष्ट्रपति के माध्यम से उसे पद से हटा सकता है।
- संविधान के अनुच्छेद 78 के अनुसार, यह प्रधानमंत्री का कर्तव्य है कि वो राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों से अवगत कराएं तथा संघ के मामलों के प्रशासन से संबंधित जानकारी उसके समक्ष प्रस्तुत करे। इसी प्रकार प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद तथा संसद के मध्य की मुख्य कड़ी है।

किचन कैबिनेट (Kitchen Cabinet)

- यह मंतिमंडल कुछ महत्वपूर्ण मंत्रियों को मिलाकर निर्मित होती है जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है। यह औपचारिक रूप से निर्णय लेने वाली उच्चतम संस्था होती है। 'आंतरिक कैबिनेट' या किचन कैबिनेट कहलाने वाला यह छोटा निकाय सत्ता का प्रमुख केंद्र बन गया है।
- इस अनौपचारिक निकाय में प्रधानमंत्री अपने दो से चार प्रभावशाली, पूर्ण विश्वासी सहयोगी रखता है जिनसे वह हर समस्या की चर्चा करता है।
- यह प्रधानमंत्री को महत्वपूर्ण राजनैतिक तथा प्रशासनिक मुद्दों पर सलाह देती है और महत्वपूर्ण निर्णय लेने में सहायता करती है। इसमें न केवल कैबिनेट मंत्री शामिल होते हैं अपितु इसके बाहर के, जैसे प्रधानमंत्री के मित्र व पारिवारिक सदस्य भी शामिल होते हैं।

6. महान्यायवादी (Attorney General)

- महान्यायवादी, देश का सर्वोच्च विधि अधिकारी होता है। वह राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है। उसमें उन योग्यताओं का होना आवश्यक है जो उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए आवश्यक होती हैं। दूसरे शब्दों में, वह भारत का नागरिक हो और वह किसी उच्च न्यायालय में 5 वर्षों तक न्यायाधीश रह चुका हो अथवा किसी उच्च न्यायालय में ही 10 वर्षों तक वकालत कर चुका हो या राष्ट्रपति के मतानुसार, वह न्यायिक मामलों का प्रख्यात विधिवेत्ता हो।
- महान्यायवादी का कार्यकाल **निश्चित नहीं** है। वह अपने पद पर राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत बना रहता है। इसका तात्पर्य यह कि राष्ट्रपति के द्वारा वह किसी भी समय हटाया जा सकता है। वह राष्ट्रपति को अपना त्यागपत्र सौंप कर कभी भी अपने पद को रिक्त कर सकता है। पारंपरिक रूप में, सरकार (मंत्रिपरिषद) त्यागपत्र दे दे या परिवर्तित हो जाए तो उसे त्यागपत्र देना होता है क्योंकि इसकी नियुक्ति सरकार की सिफारिश पर होती है।

6.1. महान्यायवादी के कर्तव्य

भारत सरकार के सर्वोच्च विधि अधिकारी के रूप में महान्यायवादी के निम्नलिखित कर्तव्य हैं:

- भारत सरकार को विधि संबंधी किसी ऐसे विषय पर सलाह देना जो राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गए हों।
- राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गए अन्य विधिक कर्तव्यों का पालन करना।
- संविधान या किसी अन्य विधि द्वारा प्रदान किए गए कृत्यों का निर्वहन करना।

राष्ट्रपति द्वारा महान्यायवादी को निम्नलिखित कार्य सौंपे जाते हैं:

- भारत सरकार से संबंधित सभी मामलों में उच्चतम न्यायालय में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करना।
- संविधान के अनुच्छेद 143 के तहत, राष्ट्रपति के द्वारा उच्चतम न्यायालय में संदर्भित मामलों के संदर्भ में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करना (उच्चतम न्यायालय से राष्ट्रपति की परामर्श लेने की शक्ति)।
- भारत सरकार से संबंधित किसी भी मामले में किसी उच्च न्यायालय में सुनवाई के लिए उपस्थित रहना।

6.2. अधिकार एवं सीमाएं

- अपने सरकारी कर्तव्यों के निर्वहन में, महान्यायवादी को भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर किसी भी न्यायालय में सुनवाई का अधिकार है। उसे संसद के दोनों सदनों में बोलने या कार्यवाही में भाग लेने का या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में मताधिकार के बगैर भाग लेने का अधिकार प्राप्त है। वह किसी संसदीय समिति का सदस्य (मताधिकार के बिना) बन सकता है। वह एक संसद सदस्य

की भांति सभी भत्ते एवं विशेषाधिकार प्राप्त करता है। महान्यायवादी की निम्नलिखित सीमाएँ इस प्रकार हैं:

- वह भारत सरकार के विरुद्ध कोई सलाह नहीं दे सकता तथा उसके विरुद्ध वाद नहीं कर सकता।
- जिस मामले में उसे भारत सरकार की ओर से पेश होना है, उस पर वह कोई टिप्पणी नहीं कर सकता है।
- वह भारत सरकार की अनुमति के बिना आपराधिक मामलों में किसी व्यक्ति का बचाव नहीं कर सकता है।
- वह किसी परिषद या कंपनी में भारत सरकार की अनुमति के बिना निदेशक का पद ग्रहण नहीं कर सकता है।

इंग्लैंड में महान्यायवादी (अटॉर्नी जनरल) का पद राजनीतिक और विधिक दोनों का मिश्रण होता है। महान्यायवादी, मंत्रिमंडल का सदस्य होता है। भारत में महान्यायवादी मंत्रिपरिषद् का सदस्य नहीं होता है।

हालांकि, वह सरकारी कर्मचारी की श्रेणी में नहीं आता है और उसे निजी विधिक कार्यवाही से रोका नहीं जा सकता है। भारत के महान्यायवादी के कार्यालयी उत्तरदायित्वों के निर्वहन में उसकी सहायता के लिए सॉलिसिटर जनरल और अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल के पदों का प्रावधान भी किया गया है।

7. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. मंत्रिमंडल सैद्धांतिक रूप से संसद पर निर्भर है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह संसद का अधिपति है, टिप्पणी कीजिए।

दृष्टिकोण:

- संसद तथा मंत्रिमंडल के संबंध में संक्षिप्त परिचय दीजिए।
- मंत्रिमंडल एवं संसद के मध्य सैद्धांतिक संबंधों की व्याख्या कीजिए।
- दोनों के मध्य व्यावहारिक संबंधों पर चर्चा कीजिए।
- आप इस कथन के विपक्ष के संदर्भ में चर्चा कर सकते हैं। यहाँ केवल दो प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख है। अतः आप इसके विपरीत विचार रखते हुए इसके विपक्ष में चर्चा कर सकते हैं।
- निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उत्तर समाप्त कीजिए।

उत्तर:

- भारत ने सरकार की संसदीय प्रणाली को अपनाया है, जिसमें प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रीपरिषद जो विधयिका के सदस्य (अर्थात् लोकसभा एवं राज्यसभा दोनों के सदस्य) से कार्यपालिका का निर्माण होता है।

मंत्रिमंडल एवं मंत्रिपरिषद के मध्य तकनीकी अंतर को जानने की आवश्यकता नहीं है।

- सरकार की संसदीय प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल निम्नलिखित रूप में संसद पर निर्भर है-
  - अनुच्छेद 75 (3) में यह उल्लेख किया गया है कि मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।
  - जवाबदेही: दोनों सदन कार्यपालिका पर अनेक प्रकार से नियंत्रण रखते हैं। जैसे- प्रश्न पूछकर, लोक महत्त्व के आकस्मिक मुद्दों पर चर्चा करके, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव तथा स्थगन प्रस्ताव के द्वारा।

- विभिन्न समितियों के गठन के द्वारा। जैसे- लोक-लेखा समिति, प्राक्कलन समिति, सरकारी उपक्रमों संबंधी समिति आदि।
- वित्तीय नियंत्रण: संसद की सहमति के बिना कार्यपालिका न ही किसी कर की उगाही कर सकती है, न ही कोई कर लगा सकती है और न ही किसी प्रकार का व्यय कर सकती है।
- विधायी नियंत्रण: अधिकांश विधेयकों को मंत्रिमंडल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु इसे पास करने के लिए संसद की संस्तुति की आवश्यकता होती है।

- परन्तु व्यावहारिक रूप में, संसद की शक्तियां मंत्रिमंडल में समाहित हो जाती हैं।
- संसद को मंत्रिमंडल के द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है जबकि मंत्रिमंडल पर संसद का नियंत्रण होना चाहिए था, जिसके निम्नलिखित कारण हैं-
  - राजनैतिक दल प्रणाली: इसके सभी प्रमुख नेता सामान्यतः मंत्रिमंडल में शामिल हो जाते हैं तथा ये लोग सभी निर्णयों का निर्धारण करते हैं।
  - दल-परिवर्तन कानून; व्हिप जारी करना।
  - बहुमत द्वारा राजनीतिक दल के वरिष्ठ नेता प्रायः मंत्रिमंडल के सदस्य होते हैं जो अपने राजनीतिक दल में विशेष प्रभाव रखते हैं।

2. राष्ट्रपति और राज्यपाल की अध्यादेश प्रखापित करने की शक्तियों के बीच अंतर कीजिए। क्या औपनिवेशिक शासन की विरासत, अध्यादेश जारी करने की शक्ति का आधुनिक लोकतांत्रिक भारत के संविधान में कोई स्थान होना चाहिए?

दृष्टिकोण:

- सर्वप्रथम, राष्ट्रपति और राज्यपाल की शक्तियों की तुलना कीजिए।
- तत्पश्चात, आधुनिक लोकतांत्रिक ढांचे में भी इसके उपयोग का औचित्य सिद्ध कीजिए।

उत्तर:

- जिस प्रकार भारत के राष्ट्रपति को अनुच्छेद 123 के अंतर्गत अध्यादेश प्रखापित करने की संवैधानिक शक्ति प्राप्त है, उसी प्रकार जब राज्य की विधान विधानसभा (या द्विसदनीय विधायिकाओं वाले राज्यों में दोनों सदनों का) का अधिवेशन न चल रहा हो तो राज्यों के राज्यपाल भी अनुच्छेद 213 के अंतर्गत अध्यादेश प्रखापित कर सकते हैं। शक्तियों की सूची - संघीय, राज्य और समवर्ती से संबंधित कार्यक्षेत्र के भीतर अध्यादेश जारी करने के संबंध में राष्ट्रपति और राज्यपाल की शक्तियां व्यापक रूप से तुलनीय हैं। हालांकि, राज्यपाल द्वारा ऐसे तीन प्रकरणों में राष्ट्रपति के निर्देशों के बिना अध्यादेश प्रखापित नहीं किया जा सकता है जहाँ वैसा ही विधेयक पारित करने के लिए राष्ट्रपति की सहमति की आवश्यकता होती। विशेष रूप से -
- यदि विधेयक में वे प्रावधान हैं जिसके लिए राष्ट्रपति की पूर्व संस्वीकृति की आवश्यकता है।
- यदि राज्यपाल ने राष्ट्रपति के पूर्व विचारण के लिए विधेयक को आरक्षित रखना आवश्यक समझा होता है।
- यदि अधिनियम में वे प्रावधान शामिल हैं जिसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया जाना चाहिए था।
- अध्यादेश प्रखापित की शक्ति भारत में ब्रिटिश राज की विरासत है। इसे भारत सरकार अधिनियम, 1935 से ग्रहण किया गया है (जिसमें गवर्नर जनरल को ऐसी ही शक्तियां प्रदान की गई थीं)। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, कांग्रेस द्वारा इस शक्ति का प्रबल विरोध किया गया था। फिर भी, संविधान में इस शक्ति को सम्मिलित किया गया।

- जीवंत लोकतंत्र अध्यादेशों द्वारा शासित नहीं होता है। लेकिन ऐसी असाधारण परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जिसके लिए ऐसे समय में तत्काल विधायी कार्यवाही की आवश्यकता हो सकती है जब संसद या राज्य विधायिका का सत्र न चल रहा हो। हालांकि इसे असाधारण परिस्थितियों में उपयोग की जाने वाली असाधारण शक्ति माना जाना चाहिए। यदि सावधानीपूर्वक और लोकतांत्रिक आशय के साथ उपयोग किया जाए, तो अध्यादेशों का उपयोग लोकतंत्र-विरोधी नहीं होगा।

3. प्रधानमंत्री कार्यकारी सरकार का इस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है कि कोई भी एक सदस्य यहाँ तक कि पूरी मंत्रिपरिषद भी नहीं कर सकती। चर्चा कीजिए।

दृष्टिकोण:

- तार्किक शक्ति तथा साक्ष्यों का प्रयोग करते हुए उत्तर दीजिए, जो कथन के पक्ष अथवा विपक्ष में हो। अपने विचारों के समर्थन हेतु प्रधानमंत्री की भूमिका को रेखांकित किया जा सकता है।

उत्तर:

प्रधानमंत्री भारत सरकार का महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है इसे निम्न कारणों से सरकार की मंत्रिपरिषद पर वरीयता प्राप्त हैं-

- यह सरकार का प्रमुख होता है और सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियां राजनीतिक और स्थाई, इसी के निर्देशों से की जाती है।
- यह मंत्रिमंडल का नेता होता है और कोई भी सदस्य इससे असहमत नहीं होता है और यदि वह अपना विचार परिवर्तित नहीं करता है तो उसे मंत्रिमंडल से निकाला जा सकता है।
- यह राष्ट्रपति एवं मंत्रिपरिषद के मध्य की कड़ी होता है।
- यह संसद एवं सरकार का संसदीय नेता/अध्यक्ष होता है। इसे विशेष शक्तियां प्राप्त हैं।
- यद्यपि विदेश मंत्रालय, विदेश संबंधों से संबंधित मामलों का संचालन करता है, परन्तु प्रधानमंत्री ही विदेश संबंधों का प्रमुख निर्धारक होता है।
- यह मुख्यतः अपने राजनीतिक दल का नेता होता है और मंत्रिपरिषद के सभी सदस्यों को इसके निर्देशों का पालन करना होता है।
- चूकिं यह भारत के नीति आयोग का अध्यक्ष होता है, अत: मंत्रिपरिषद के अन्य मंत्री योजना प्रक्रिया के दौरान इसके प्रत्यक्ष प्रभाव में होते हैं।

4. मंत्रियों के अधिकार प्राप्त समूह ने विशेष मुद्दों पर शीघ्र और प्रभावी निर्णय संभव बनाया। आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

दृष्टिकोण:

- संक्षेप में EGoM का गठन करने के पीछे निहित उद्देश्यों का वर्णन कीजिए। तत्पश्चात EGoM की स्थापना के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए। अंत में, उपयुक्त निष्कर्ष प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर:

- मंत्रियों के अधिकार प्राप्त समूह के गठन का उद्देश्य नीतिगत मुद्दों पर प्रभावी और सामयिक कार्रवाई के लिए निर्णय-निर्माण को सुगम बनाना एवं समन्वय स्थापित करना था। हालांकि, समय के साथ EGoM के प्रसार और अतिव्यापन ने पूरी प्रक्रिया के समक्ष बाधा उत्पन्न की है जिसका परिणाम निष्क्रियता और गतिहीनता के रूप में परिलक्षित हुआ है।
- जहां कुछ आकस्मिक मुद्दों और महत्वपूर्ण समस्या क्षेत्रों पर मंत्रिपरिषद को सलाह देने के लिए तदर्थ निकाय, मंत्रियों के समूह (GoM) का गठन किया गया था, वहीं मंत्रियों का

अधिकार प्राप्त समूह (EGoM) ऐसे मामलों पर निर्णय लेने के लिए एक कदम आगे बढ़ा स्वतंत्र है, जिनके लिए यह अधिकृत है और ऐसे निर्णयों का सरकार के निर्णयों के अत्यधिक महत्व होता है।

- EGoM का प्रसार अपने विभागों के संबंध में निर्णय लेने की अलग-अलग मंत्रालयों की शक्तियों पर अंकुश लगाने के साथ-साथ उत्तरदायित्व को अनेक लोगों पर निर्धारित करने का मार्ग प्रशस्त करता था। UPA शासन के दौरान 52 GoM और EGoM होते थे, जिनमें से अधिकांश के अध्यक्ष श्री प्रणव मुखर्जी थे। अतः, UPA सरकार ने अपने 10 वर्ष के शासन के दौरान कुल 82 GoM और 14 EGoM की स्थापना की थी। इस प्रक्रिया से न केवल महत्वपूर्ण नीतिगत मुद्दों पर निर्णय लेने में विलंब हुआ, बल्कि यह नीतिगत समन्वय के अपने अधिदेश के विरूद्ध चली गई।
- हालांकि, स्पष्ट अधिदेश और निर्धारित समय सीमा के साथ इनका चयनात्मक लेकिन प्रभावी उपयोग, नीतिगत गतिरोध को समाप्त करने और शासन प्रणाली में सुधार लाने में सहायक हो सकता है। जैसा कि द्वितीय ARC द्वारा पाया गया, यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि वर्तमान मुद्दों, जिनके लिए अंतर-मंत्रालयी समन्वय की आवश्यकता है, को पहले सचिवों की समिति (CoS) के समक्ष रखा जाना चाहिए और फिर विचार के लिए केंद्रीय मंत्रिमंडल के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए।
- मंत्रियों और अधिकारियों द्वारा मंत्रिमंडल को संदर्भित किए बिना और यदि आवश्यक हो तो PMO के माध्यम से मंत्रिमंडलीय सचिवालय की सहायता से लंबित प्रकरणों पर प्रत्यक्ष निर्णय लिए जाने के साथ ही पदधारी सरकार द्वारा GoM और EGoM को विघटित करने से शासन व्यवस्था की कार्यप्रणाली को तीव्र करने में सहायता मिलेगी।

5. कार्यपालिका और विधायिका के मध्य शक्ति संतुलन बनाए रखने और अध्यादेश लाने की शक्ति के दुरुपयोग को नियंत्रित करने के लिए कार्यपालिका के अध्यादेश लाने की शक्ति पर युक्तियुक्त रूप से नियंत्रण आरोपित किए जाने की आवश्यकता है। क्या आप सहमत हैं? अपने विचरों को उदाहरणों सहित समझाएं।

दृष्टिकोणः

अध्यादेश निर्माण के संबंध में संवैधानिक उपबंधों सहित इसी विषय पर सर्वोच्च न्यायालय का दृष्टिकोण एवं हाल ही के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हुए विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तरः

संविधान के अनुच्छेद 123 के तहत अध्यादेश, किसी अधोलिखित परिस्थितियों में कार्यपालिका और राष्ट्रपति की विधि बनाने का एक साधन हैः

- यदि संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन नहीं चल रहा हो।
- ऐसी स्थितियां मौजूद हैं जिसमें तत्काल कार्रवाई करना आवश्यक है।
- प्रत्येक अध्यादेश संसद की अगली बैठक की समाप्ति से छह सप्ताह तक अस्तित्व में रहता है।

अनुच्छेद 213 के तहत इसी के समान शक्ति राज्य के राज्यपाल को भी प्राप्त है।

शक्तियों के पृथक्करण सिद्धांत के तहत विधायिका का कार्य विधि निर्माण और कार्यपालिका का कार्य उसे कार्यान्वित करना है, लेकिन -

- शासन में गतिशालता और जटिलता
- व्यावहारिक और राजनीतिक बाध्यताओं

के कारण अध्यादेश के उपाय का सामान्य से भी अधिक उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए आपात के दौरान और यहां तक कि सामान्य परिस्थिति में भी जैसे बिहार में 1967 से 1981 के मध्य 256 अध्यादेश जारी किए गए तथा इसे समय-समय पर प्रखापित कर निरंतर प्रभाव में रखा गया। जिनमें से कुछ 14 वर्षों तक प्रभाव में बने रहे, जिसकी सर्वोच्च

न्यायालय ने अध्यादेश राज के रूप में टिप्पणी की। सामान्यतः कहा जाता है कि प्रशासनिक निर्णयन के साथ अध्यादेश प्रख्यापन तानाशाही की ओर ले जाता है।
अतः अध्यादेश लाने की शाक्ति को नियंत्रित किए जाने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न निर्णयों में भी परिलक्षित होती है। न्यायालय ने विभिन्न निर्णयों में एकमत होकर कहा है कि

- राष्ट्रपति और राज्यपालों की अध्यादेश प्रखापित करने की शक्ति आपातकालीन प्रकृति की शक्ति है।
- न्यायालय के अनुसार, चूंकि अध्यादेश प्रखापित करना एक विधायी कार्य है, अतः इसे उन्हीं आधारों पर चुनौती दी जा सकती है जिन आधारों पर संसद द्वारा निर्मित विधियों को चुनौती दी जा सकती है।
- विधि को पारित करने में संसद की मंशा न्यायालय की समीक्षा से परे है।
- ए. के. राय बनाम यूओआई 1980 वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि अध्यादेश प्रख्यापन न्यायिक पुनर्विलोकन से परे नहीं है।
- सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि अध्यादेश विधायिका की विधि निर्माण की शक्ति का स्थान नहीं ले सकता है और न्यायालय पुनः जारी किए गए अध्यादेशों को रद्द कर सकता है।

उपर्युक्त के बावजूद हाल ही में केन्द्र ने खाद्य सुरक्षा, सेबी संशोधन, आपराधिक विधि संशोधन, भूमि अधिग्रहण (संशोधन) अधिनियम जैसे अन्य कई और अध्यादेश प्रख्यापित किए है। इनमें से 3 को पुनः प्रख्यापित किया गया जो कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का उल्लंघन हैं। पुनश्च, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों और मीडिया की सक्रियता के आलोक में अपनी साख बचाने के लिए सरकार द्वारा भ्रष्टाचार और सेवा के अधिकार के संबंध में प्रखापित अध्यादेशों को निरस्त कर दिया गया।
निष्कर्षतः कार्यपालिका को अपनी शक्तियों का प्रयोग विवेकपूर्ण तरीके से करना चाहिए। हमारे संविधान निर्माताओं ने अध्यादेश निर्माण की शक्तियों की परिकल्पना केवल अप्रत्याशित, आकस्मिक परिस्थितियों और कार्यपालिका को विशिष्ट परिस्थतियों पर नियंत्रित करने हेतु अतिरिक्त वैधानिक स्वीकृति की आवश्यकता अनुसार किया था। इस प्रकार, संसदीय लोकतंत्र की पवित्रता को बनाए रखने के लिए अध्यादेश के उपाय पर उपयुक्त सीमाएं अवश्य आरोपित की जानी चाहिए। केवल तभी इसके दुरुपयोग को प्रभावशाली तरीके से अवरोध और संतुलन के माध्यम से रोका जा सकेगा।

6. निरंतर जवाबदेही, समायोजन और समावेश पर आधारित संसदीय प्रणाली ही देश की आवश्यकताओं की सर्वोत्तम तरीके से पूर्ति कर सकती है। भारत में समय-समय पर राष्ट्रपति प्रणाली अपनाने हेतु प्रस्तुत किये जाने वाले तर्कों को ध्यान में रखते हुए परीक्षण कीजिए।

दृष्टिकोण:

- जिस संदर्भ में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया था, उसकी चर्चा कीजिए।
- भारत में संसदीय प्रणाली के लाभों की चर्चा कीजिए।
- सरकार की राष्ट्रपति प्रणाली के साथ इसकी तुलना कीजिए।

उत्तर:

भारत को पहले से ही 1919 और 1935 के अधिनियम के तहत संसदीय प्रणाली के संचालन का अनुभव था। इस अनुभव से ज्ञात होता है कि संसदीय प्रणाली में, कार्यपालिका को जन प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रभावी ढंग से नियंत्रित किया जा सकता है। अतः राष्ट्रपति प्रणाली की स्थिरता की तुलना में जवाबदेहिता को अधिक महत्व दिया गया। इस प्रणाली को हमारे समाज की बहुलवादी प्रकृति के कारण अपनाया गया है, जो राजनीतिक धारा में विविध वर्गों और क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व के साथ ही बहुसंख्य लोगों को भी शामिल करती है।
संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति को एक ही व्यक्ति में निहित करने की व्यवस्था की तुलना में, यह प्रणाली संस्था निर्माण पर बल देती है।

इसकी समग्रता और समायोजिता दो स्तरों पर होती है: जहाँ सांसद विधायी स्तर के साथ मंत्रीपरिषद स्तर पर भी विभिन्न पृष्ठभूमि के प्रतिनिधि होते हैं। इसके अतिरिक्त, एक प्रणाली में मुद्दा आधारित विपक्ष को प्रायः सत्ता पक्ष द्वारा सुना जाता है तथा इनके विचारों को शासन में शामिल किया जाता है।

यहाँ राष्ट्रपति प्रणाली के पक्ष में कुछ तर्क दिए जा रहे हैं:

पहला, यह राजनीतिक दलों को उम्मीदवारों के चयन में अधिक लोकतांत्रिक और सचेत बनाएगा। उन्हें प्रत्यक्ष चुनाव हेतु अपने सर्वश्रेष्ठ उम्मीदवार का चयन करना होगा।

दूसरा, मतदाता अपने उम्मीदवारों से बेहतर तरीके से परिचित हों सकेंगे। यह उम्मीदवारों की जवाबदेही में वृद्धि करेगा।

तीसरा, संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी। वह श्रेष्ठ और बुद्धिमान व्यक्तियों को उनकी राजनीतिक मान्यता को ध्यान में रखे बिना, अपने मंत्रिमंडल की ओर आकर्षित करने में सक्षम होगा।

चौथा, अब हमारी लोकतांत्रिक संस्थाएं परिपक्व और विकसित हो गई हैं तथा वर्तमान में जनता और अधिक जागरूक हो गई है, इसलिए, हम एक नवीन प्रणाली को अपना सकते हैं।

हालांकि, बहुलवादी, उदार और समावेशी होने के अतिरिक्त सरकार के संसदीय प्रणाली के कई लाभ हैं :

सुचारु संचालन - कार्यपालिका और विधायिका के मध्य सुदृढ़ संबंध, सरकार के दो अंगों के मध्य टकराव की स्थिति को कम करते हैं।

खुला प्रशासन - कार्यपालिका सतर्क बनी रहती है और अपनी चुनावी संभावनाओं और संसद के विश्वास को सुरक्षित रखने हेतु औचित्य का अनुपालन करती है।

वित्तीय जवाबदेही - सरकार को संसद से वित्तीय अनुदान तथा CAG / PAC द्वारा अपने व्यय की लेखा परीक्षा करानी होती है। भारतीय संदर्भ में इसकी उपयुक्तता के आलोक में स्वर्ण सिंह समिति, NCRWC आदि ने इसको बनाए रखने की सिफारिश की है।

हालांकि, इस प्रणाली में कई कमियां विद्यमान हैं, जैसे सांसदों की घटती प्रतिनिधित्व क्षमता, दक्षता और लोकाचार तथा भ्रष्टाचार, गठबंधन की राजनीति के कारण उत्पन्न अस्थिरता, कमजोर विपक्ष आदि। तथापि, यह कहा जा सकता है कि एक नवीन प्रणाली को अपनाने के बजाये विद्यमान प्रणाली में व्यापक सुधार किए जाने की आवश्यकता है।

8. विगत वर्षों में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा पूछे गए प्रश्न (Past Year UPSC Questions)

1. सामूहिक रूप से केंद्रीय मंत्रिपरिषद किस प्राधिकरण के प्रति उत्तरदायी होती है?
2. भारत के राष्ट्रपति की विधायी और कार्यकारी शक्तियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। क्या इनमें विगत दशकों के दौरान कोई परिवर्तन आया है? टिप्पणी कीजिए।
3. महान्यायवादी के क्या कार्य हैं?
4. क्या संसद का सदस्य किसी राज्य में मंत्री हो सकता है?
5. भारत में उपराष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार होता है?
6. भारत के राष्ट्रपति का पद ब्रिटिश नमूने पर अभिकल्पित है। इस पृष्ठभूमि के आलोक में, भारतीय संविधान के 42वें संशोधन, 1976 और तत्पश्चात 44वें संशोधन, 1978 द्वारा राष्ट्रपति की कार्यकारी शक्तियों में किए गए संशोधनों पर विचार कीजिए। इन परिवर्तनों पर टिप्पणी कीजिए।
7. किन आधारों पर भारत के राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग चलाया जा सकता है?
8. राज्य प्रमुख और सरकार के प्रमुख के बीच भेद कीजिए। भारत में दोनों में से कौन-सा पद अधिक महत्वपूर्ण है?

9. भारतीय राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर टिप्पणी कीजिए।
10. राज्य सभा के लिए राष्ट्रपति किन श्रेणियों के व्यक्तियों को मनोनीत करता है?
11. भारत में उपराष्ट्रपति किस प्रकार निर्वाचित होता है?
12. भारत का राष्ट्रपति किस सीमा तक विवेकाधीन शक्तियाँ रखता है? यदि कोई हैं, वे शक्तियाँ कौन-सी हैं?
13. भारत के संदर्भ में कार्यकारी और विधायी शाखा के बीच संबंधों की विवेचना कीजिए।
14. भारत में राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के बीच संवैधानिक सम्बन्धों का परीक्षण कीजिए।
15. अनुसूचित क्षेत्रों के संबंध में भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों की विवेचना कीजिए।
16. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमंडल के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
17. 'राज्य मंत्री' कहे जाने वाले मंत्रियों की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
18. भारत के राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार होता है? इनके चुनाव में कौन से संवैधानिक वाद अन्तर्निहित हैं?
19. 'प्रधानमंत्रीय शासन' की संकल्पना समझाइए एवं हाल के समयों में भारत में उसके पतन के कारण स्पष्ट कीजिए।
20. भारत के उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन कैसे होता है?
21. क्या आप राज्यसभा के माध्यम से प्रधानमंत्री के संसद में प्रवेश को उचित मानते हैं?
22. भारत के राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी करने के अधिकार पर टिप्पणी कीजिये। इसके संभावित दुरुपयोग को रोकने के लिये क्या उपाय हैं?
23. भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचकगण का संघटन क्या है? डाले गए वोटों के मूल्य की गणना किस प्रकार की जाती है?
24. मृत्युदंड और राष्ट्रपति की क्षमादान के प्रश्न पर चर्चा कीजिए।
25. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमंडल के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
26. भारत के उपराष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता है?
27. भारत के राष्ट्रपति किसी खास विधेयक पर उच्चतम न्यायालय के विचारों को किन तरीकों से प्राप्त कर सकते हैं?
28. संसद द्वारा पहले से पारित किए जा चुके विधेयक पर राष्ट्रपति किस सीमा तक अपनी अनुमति को रोके रख सकते हैं?
29. वे अपवाद कौन-से हैं, जिनमें भारत के राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की सहायता और सलाह से आबद्ध नहीं होता है।
30. भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति क्या है?
31. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमंडल में क्या अंतर है?
32. पॉकेट वीटो पर लगभग 20 शब्दों में टिप्पणी लिखिए।
33. मृत्यु दंडादेशों के लघूकरण में राष्ट्रपति के विलंब के उदाहरण न्याय प्रत्याख्यान के रूप में लोक वाद-विवाद के अधीन आए हैं। क्या राष्ट्रपति द्वारा ऐसी याचिकाओं को स्वीकार करने/अस्वीकार करने के लिए एक समय सीमा का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए? विश्लेषण कीजिए।
34. मंत्रिमंडल का आकार उतना होना चाहिए कि जितना सरकारी कार्य सही ठहराता हो और उसको उतना बड़ा होना चाहिए कि जितने को प्रधानमंत्री एक टीम के रूप में संचालन कर सकता हो। उसके बाद सरकार की दक्षता किस सीमा तक मंत्रिमंडल के आकार से प्रतिलोमतः संबंधित है? चर्चा कीजिए।

राज्य कार्यपालिका

विषय सूची

भारत में प्रशासन की एक विकेन्द्रीकृत व्यवस्था को अपनाया गया है। राज्य कार्यपालिका का गठन संघीय कार्यपालिका की तर्ज पर किया गया है। इसके अंतर्गत राज्य का राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद, महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) आदि सम्मिलित होते हैं। संविधान के भाग 6 के अनुच्छेद 153 से 167 तक राज्य कार्यपालिका का वर्णन किया गया है।

1. राज्यपाल

- राज्यपाल राज्य का कार्यकारी प्रमुख होता है तथा उसकी स्थिति केंद्र में राष्ट्रपति के अनुरूप होती है। नाममात्र का कार्यकारी प्रमुख (संवैधानिक प्रमुख) होने के बावजूद राज्यपाल के पास राज्य सरकार को सलाह देने, सावधान करने और प्रोत्साहित करने के अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्यपाल की भूमिका मंत्रिपरिषद के एक मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक की होती है। इस भूमिका के अंतर्गत वह संविधान के एक प्रहरी और केंद्र और राज्य के मध्य एक जीवंत कड़ी के रूप में कार्य करता है।
- संविधान में **अनुच्छेद 153** के तहत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल का प्रावधान किया गया है। हालांकि, **सातवें संविधान संशोधन अधिनियम (1956)** द्वारा इसमें संशोधन करते हुए यह प्रावधान जोड़ा गया कि 'एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है'।

1.1. नियुक्ति

- **अनुच्छेद 155 के अनुसार**, राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा की जाती है और वह **राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत** पद धारण करता है। व्यावहारिक रूप से, राज्यपाल केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त होता है। सामान्यतः राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है, परन्तु उसे राष्ट्रपति के द्वारा कभी भी पद से हटाया जा सकता है।
- **प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग** ने इस पद को अधिक सशक्त बनाने के लिए अनुशंसाएं की। **पुंछी आयोग** ने इस संबंध में अनुशंसा की कि राज्यपाल के पद के साथ "राजनीतिक फुटबॉल" की तरह होने वाले व्यवहार को रोका जाना चाहिए तथा इस पद के कार्यकाल को नियत किया जाना चाहिए ताकि इसके राजनीतिकरण को रोका जा सके।
- संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल के पद की एक गैर-राजनीतिक पद के रूप में परिकल्पना की थी, जो केंद्र और राज्य के मध्य समन्वय के लिए एक कड़ी के रूप में कार्य करेगा। परन्तु इसे व्यवहार रूप प्रदान नहीं किया जा सका और इसके विपरीत इसका प्रयोग अपने चहेते लोगों यथा:- पूर्व नौकरशाहों एवं राजनीतिज्ञों को संरक्षण देने के रूप में किया गया। इस संदर्भ में यह तर्क दिया जाता है कि राज्यपाल के पद का प्रयोग राजनेताओं और नौकरशाहों की सेवानिवृति के पश्चात् पुरस्कार के रूप में किया जाता है।
- तमिलनाडु सरकार द्वारा गठित **राजमन्नार समिति** ने राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में निम्नलिखित सुझाव दिए:
    - राज्यपाल के रूप में किसी व्यक्ति की नियुक्ति के लिए संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श अवश्य किया जाना चाहिए।
    - यदि मुख्यमंत्री इस नियुक्ति से असहमत हो तो उस व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए।
- उपर्युक्त दोनों सुझावों का **केंद्र-राज्य सम्बन्धों** पर गठित **सरकारिया आयोग** और **पुंछी आयोग** द्वारा भी समर्थन किया गया। हालांकि, व्यवहार में इनका अनुपालन शायद ही कभी किया गया हो।

1.1.1. निर्वाचन के स्थान पर राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति को अपनाने के कारण

- संविधान के मसौदे में, संविधान निर्माताओं ने प्रत्येक राज्य के राज्यपाल के लिए निर्वाचन का प्रावधान किया था। यह निर्णय संघ की एक इकाई के रूप में राज्यों को अधिकतम स्वायत्तता देने हेतु किया गया था। हालांकि, संविधान सभा ने निर्वाचित राज्यपाल के विचार को त्याग दिया तथा संविधान में राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति को अपनाने का प्रावधान किया गया। इस तर्क के पीछे निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए गए:
    - सरकार की संसदीय प्रणाली में लोकप्रिय निर्वाचित राज्यपाल प्रतिकूल भूमिका निभा सकता है। यदि राज्यपाल का निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा होता है तो वह जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बन जायेगा और अपनी शक्तियों का प्रयोग वास्तविक प्रमुख की तरह करेगा न कि नाममात्र प्रमुख की तरह। ऐसी स्थिति में राज्यपाल और प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रिपरिषद में प्रतिद्वंदिता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।
    - इस तरह की स्थिति राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न कर सकती है, जिसके सदस्य भी लोगों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं।
    - दूसरी तरफ, यदि राज्यपाल को जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के स्थान पर राज्य विधानमंडल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाए तो इस स्थिति में राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य प्रतिद्वंदिता की संभावना के अधिक अवसर उत्पन्न नहीं होंगे। इसका कारण, उसी विधानमंडल के मंत्रिपरिषद द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति जाएगी। लेकिन, इससे राज्यपाल के उन राजनीतिक दलों की कठपुतली बन जाने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा जिन्होंने उसके निर्वाचन का समर्थन किया है।
    - निर्वाचित राज्यपाल, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो या फिर अप्रत्यक्ष रूप से, दोनों ही परिस्थितियों में उसका केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना संभव नहीं होता क्योंकि दोनों ही मामलों में राज्यपाल जनता का एक प्रतिनिधि है जोकि राज्य की जनता से अपने अधिकार प्राप्त करता है। राज्य और संघ के मध्य मतभेद की स्थिति में, निर्वाचित राज्यपाल की स्थिति में केंद्र सरकार के एक उपयुक्त साधन के रूप में कार्य करने की संभावना नहीं है। दूसरी ओर, राज्यपाल राज्य के क्षेत्र में केंद्र के किसी भी रूप में विस्तार के अधिकार के क्रियान्वयन में व्यवधान उत्पन्न कर सकता है। यह आपातकालीन शक्तियों के विचार से भी सुसंगत नहीं है, जिसके तहत केंद्र अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता है और संघीय प्रणाली अस्थायी रूप से बाधित हो जाती है।

1.1.2. केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के कारण राज्यपाल की पदमुक्ति से संबंधित उत्पन्न विवाद

संवैधानिक प्रावधान

- अनुच्छेद 156 के अंतर्गत राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया है एवं वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारणा करता है।
- यहाँ 'प्रसादपर्यंत' का अर्थ है- वह अपने पद पर राष्ट्रपति की इच्छा से ही पदासीन रह सकता है अर्थात् राष्ट्रपति, जब चाहें उसे, उसके पद से हटा सकता है।

विवाद का कारण

- राष्ट्रपति द्वारा 'प्रसादपर्यंत' सिद्धांत का वास्तविक प्रयोग केन्द्रीय मंत्रिमंडल के परामर्श के आधार पर ही किया जाता है जो राज्यपाल की पदमुक्ति से संबंधी विवाद के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारण है।
- केन्द्र में गठित नई सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों पर या तो त्यागपत्र देने के लिए दबाव बनाती है या उन्हें राष्ट्रपति के माध्यम से बर्खास्त कर देती है। इस कार्यवाही के लिए निम्नलिखित स्वार्थ उत्तरदायी होते हैं:

- अपने दल के या कृपापात्र लोगों को विशेषकर पूर्व नौकरशाहों एवं राजनीतिज्ञों को, राज्यपाल के पद के रूप में पुरस्कृत किया जा सके।
- साथ ही, जब राज्य में केन्द्र के विपरीत अर्थात विपक्षी दलों की सरकार हो तो उन्हें अस्थिर किया जा सके।

- संवैधानिक रूप से उल्लिखित नहीं होने के बावजूद यह मान्य सिद्धांत है कि राज्यपाल को भ्रष्टाचार या संविधान के अतिक्रमण के आधार पर ही हटाया जाना चाहिए। किंतु, व्यवहार में केन्द्र की किसी भी सरकार द्वारा शायद ही इसका अनुपालन किया गया हो।

वर्ष 2010 में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय

- पूर्व मुख्य न्यायाधीश के.जी. बालाकृष्णन की अध्यक्षता में पांच सदस्यीय खंडपीठ ने निर्णय दिया कि राज्यपाल को केवल इस आधार पर त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है या हटाया जा सकता है कि:
  - राज्यपाल की विचारधारा एवं नीतियाँ, केन्द्र में सत्तारुढ़ दल की विचारधारा के साथ समानता नहीं रखती।
  - साथ ही, इस आधार पर भी नहीं हटाया जा सकता कि केंद्र सरकार का अब संबंधित राज्यपाल में विश्वास नही रह गया है।
  - इसमें सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि राज्यपाल को हटाने से पूर्व उसको हटाने से संबंधित तथ्यों एवं कारणों को स्पष्ट रूप से राष्ट्रपति को बताना होगा।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष

- वर्ष 2010 के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के बावजूद, यह देखा गया है कि केंद्र में गठित वर्तमान सरकार एवं इसकी पूर्ववर्ती सरकारों ने भी अपने राजनीतिक उद्देश्यों एवं महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए इस संवैधानिक पद का दुरुपयोग किया है।

1.2. राज्यपाल पद हेतु निर्धारित अर्हताएं एवं शर्तें

अनुच्छेद 157 प्रावधान करता है कि किसी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप में नियुक्त होने के लिए निम्नलिखित दो अर्हताएं धारण करना आवश्यक है:

- उसे भारत का नागरिक होना चाहिए।
- वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।

राज्यपाल के पद हेतु संविधान में निम्नलिखित अनिवार्य शर्तें (अनुच्छेद 158) निर्धारित की गयी हैं:

- राज्यपाल को संसद और राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं होना चाहिए।
- राज्यपाल को किसी लाभ के पद पर नहीं होना चाहिए।
- राज्यपाल बिना किराये का भुगतान किए, अपने शासकीय आवासों के उपयोग करने और संसद द्वारा विधि द्वारा अवधारित उपलब्धियों और भत्तों तथा विशेषाधिकारों को भी प्राप्त करने का हक़दार होगा।
- उसके कार्यकाल के दौरान उसके वेतन और भत्तों में कटौती नहीं की जा सकती है।
- यदि एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों के राज्यपाल के रूप में नियुक्त होता है, तो उसे देय परिलब्धियाँ और भत्ते भारत के राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित मानकों के अनुसार वे राज्य मिलकर प्रदान करेंगे।

संबंधित राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, राज्यपाल को पद की शपथ दिलाता है।

- सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की अनुपस्थिति में, उच्च न्यायालय के सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश द्वारा शपथ की प्रक्रिया पूरी की जाती है।
- राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरित किया जा सकता है। वह कभी भी राष्ट्रपति को संबोधित कर अपना त्यागपत्र सौंप सकता है। राज्यपाल को हटाने की प्रक्रिया में राज्य विधानमंडल की कोई भूमिका नहीं होती है।

1.3. राज्यपाल की शक्तियां एवं कार्य

राज्यपाल की शक्तियों एवं उसके कार्यों को हम निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समझ सकते हैं:

- कार्यकारी शक्तियां
- विधायी शक्तियां
- वित्तीय शक्तियां
- न्यायिक शक्तियां
- क्षमादान की शक्तियां

1.3.1. कार्यकारी शक्तियां

- **अनुच्छेद 154** में वर्णित किया गया है कि राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह इनका प्रयोग संवैधानिक प्रावधानों के तहत स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करेगा।
- किसी राज्य के सभी औपचारिक कार्यकारी कार्य राज्यपाल के नाम पर किये जाते हैं। वह, उसके नाम से जारी किये गए आदेश और अन्य प्रपत्र के प्रमाणित होने के सम्बन्ध में नियम बना सकता है।
- राज्यपाल, राज्य के मुख्यमंत्री, अन्य अधीनस्थ मंत्रियों और राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है। मंत्री तथा महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं।
- राज्यपाल, राज्य निर्वाचन आयुक्त को नियुक्त करता है और उसकी सेवा शर्तें और कार्यावधि निर्धारित करता है। हालांकि, राज्य निर्वाचन आयुक्त को हटाने की प्रक्रिया उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने की प्रक्रिया के समान है।
- वह राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों को नियुक्त करता है। हालांकि, उन्हें हटाने का अधिकार भारत के राष्ट्रपति को प्राप्त है न कि राज्यपाल को।
- वह मुख्यमंत्री से राज्य के किसी भी प्रशासनिक मामले या किसी विधायी प्रस्ताव की जानकारी प्राप्त कर सकता है।
- वह **अनुच्छेद 356** के तहत राष्ट्रपति से राज्य में **संवैधानिक आपातकाल या राष्ट्रपति शासन** के लिए सिफारिश कर सकता है।
- वह राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति होता है तथा वह राज्य के विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की नियुक्ति करता है।

1.3.2. विधायी शक्तियां

- राज्य का राज्यपाल विधानसभा के सत्र को आहूत, सत्रावसान या विधानसभा को विघटित कर सकता है।
- राज्य विधानमंडल में किसी विधेयक के पारित होने के पश्चात वह राज्यपाल के समक्ष लाया जाता है। इस स्थिति में राज्यपाल के पास विधेयक के संबंध में निम्नलिखित विकल्प होते हैं - वह
  - विधेयक को स्वीकार कर सकता है, या
  - अनुमति रोक सकता है, या
  - विधयेक को (धन विधेयक को छोड़कर) विधानमंडल के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है, या
  - विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता है।
- यदि किसी विधेयक में राज्य के उच्च न्यायालय को प्रदत्त शक्तियों को कम करने संबंधी प्रावधान शामिल हों तो राज्यपाल उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखने के लिए बाध्य होगा। इसके अतिरिक्त, यदि विधेयक अधिकारातीत अर्थात् संवैधानिक उपबन्धों, राज्य के नीति निर्देशक तत्वों, देश के व्यापक हित इत्यादि कर के विरुद्ध हो तथा राष्ट्रीय महत्व का हो या संविधान के अनुच्छेद 31(a) के तहत किसी सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित हो, तो ऐसे मामलों में भी राज्यपाल विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता है।

- राज्यपाल की राष्ट्रपति के विचार हेतु विधेयक को आरक्षित रखने की शक्ति को किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता।
- राज्यपाल, आंग्ल-भारतीय समुदाय के **एक व्यक्ति** को राज्य विधानसभा का सदस्य नियुक्त कर सकता है।
- द्विसदनीय विधानमंडल वाले राज्यों में विधानपरिषद के कुल सदस्यों के **छठे भाग** को वह नामित कर सकता है। राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के संबंध में करेगा जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव प्राप्त है।
- **अनुच्छेद 213 के तहत** जब राज्य विधानमंडल का सत्र नहीं चल रहा हो तो वह औपचारिक रूप से अध्यादेश प्रख्यापित कर सकता है। राज्य विधानमंडल के पुनः सत्र में आने के छह हफ्ते के भीतर इन्हें स्वीकृति मिलना आवश्यक है। इस अवधि के पश्चात् स्वीकृति न मिलने की स्थिति में वह प्रभाव में नहीं रहेगा।
- राज्यपाल किसी भी समय किसी अध्यादेश को वापस ले सकता है।
- विधानमंडल के सदस्यों की निरर्हता के मुद्दे पर निर्वाचन आयोग से विमर्श करने के पश्चात् वह इसका निर्णय करता है।
- राज्यपाल, राज्य वित्त आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग और नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट को राज्य विधानमंडल के समक्ष प्रस्तुत करता है।

अनुच्छेद 213: विधानमंडल के सत्र में न होने की स्थिति में अध्यादेश प्रख्यापित करने की राज्यपाल की शक्ति -

(1) राज्य विधानमंडल के सत्र में ना होने या विधान परिषद् वाले राज्य में विधानमंडल के दोनों सदनों के सत्र में न होने की स्थिति में, यदि किसी समय राज्यपाल को ऐसा प्रतीत हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तत्काल कार्रवाई करना उसके लिए समीचीन हो गया है तो वह ऐसे अध्यादेश प्रख्यापित कर सकेगा जो उसे उन परिस्थितियों में अपेक्षित प्रतीत हों। अतः जब राज्य विधायिका विधि-निर्माण की स्थिति में न हो तो राज्यपाल को अध्यादेश प्रखापित करने की शक्ति प्रदान की गयी है।

परन्तु राज्यपाल, राष्ट्रपति के अनुदेशों के बिना, कोई ऐसा अध्यादेश प्रख्यापित नहीं करेगा। यदि-

(क) वैसे उपबन्ध अन्तर्विष्ट करने वाले विधेयक को विधानमंडल में पुरःस्थापित किए जाने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी की अपेक्षा इस संविधान के अधीन है, या

(ख) वह वैसे उपबन्ध अन्तर्विष्ट करने वाले विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखना आवश्यक समझता है, या

(ग) वैसे उपबन्ध अन्तर्विष्ट करने वाला राज्य के विधानमंडल का अधिनियम इस संविधान के अधीन तब तक अविधिमान्य होता है जब तक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखे जाने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो गयी हो।

(2) इस अनुच्छेद के अधीन प्रख्यापित अध्यादेश की शक्ति और प्रभाव राज्य के विधानमंडल के ऐसे अधिनियम के समान होता है जिसे राज्यपाल ने अनुमति दे दी है,

किन्तु प्रत्येक ऐसा अध्यादेश-

(क) राज्य की विधानसभा के समक्ष और विधानपरिषद वाले राज्य में दोनों सदनों के समक्ष रखा जाएगा। विधानमंडल के पुनः समवेत होने से छह सप्ताह की समाप्ति पर या यदि उस अवधि की समाप्ति से पूर्व विधान सभा उसको अस्वीकृत करने का संकल्प पारित कर देती है और यदि विधानपरिषद (यदि

हो तो) उससे सहमत हो जाती है तो, यथास्थिति, संकल्प के पारित होने पर या विधानपरिषद द्वारा संकल्प से सहमत होने पर प्रवर्तन में नहीं रहेगा, और

(ख) राज्यपाल द्वारा किसी भी समय वापस लिया जा सकेगा।

स्पष्टीकरण: यदि विधान परिषद वाले राज्यों में विधानमण्डल के सदन, भिन्न-भिन्न तिथियों को पुनः समवेत किए जाते हैं तो वहां छह सप्ताह की अवधि की गणना पश्चात्वर्ती तिथि से की जाएगी।

(3) यदि और जहां तक इस अनुच्छेद के अधीन अध्यादेश कोई ऐसा उपबन्ध करता है जो राज्य के विधानमंडल के ऐसे अधिनियम में जिसे राज्यपाल द्वारा स्वीकृति प्रदान कर दी गई है, अधिनियमित किए जाने पर विधिमान्य नहीं होता और वहां तक वह अध्यादेश शून्य होगा।

1.3.3. वित्तीय शक्तियां

- राज्यपाल यह सुनिश्चित करता है कि राज्य-बजट या वार्षिक वित्तीय विवरण को राज्य विधानमंडल के समक्ष प्रस्तुत किया जाए।
- कोई धन विधेयक राज्य विधानमंडल में राज्यपाल की पूर्व सहमति के बाद ही प्रस्तुत किया जा सकता है।
- किसी तरह के अनुदान की मांग राज्यपाल की सहमति के बिना नहीं की जा सकती है।
- वह किसी अप्रत्याशित व्यय के वहन के लिए राज्य की आकस्मिकता निधि से अग्रिम प्राप्त कर सकता है।
- पंचायतों और नगरपालिकाओं की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करने के लिए राज्यपाल प्रत्येक 5 वर्ष के पश्चात् एक राज्य वित्त आयोग का गठन करता है।

1.3.4. न्यायिक शक्तियां

- संबंधित राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल से परामर्श लिया जाता है।
- वह राज्य उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के साथ विचार करके जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, स्थानान्तरण और प्रोन्नति कर सकता है।
- वह राज्य न्यायिक आयोग से जुड़े व्यक्तियों (जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त) की नियुक्ति भी करता है। इन नियुक्तियों में वह राज्य उच्च न्यायालय और राज्य लोक सेवा आयोग के साथ परामर्श करता है।

1.3.5. क्षमादान की शक्तियां

- **अनुच्छेद 161**, राज्यपाल को उस विषय संबंधी, जिस विषय पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध ठहराए गये किसी व्यक्ति के दंड को क्षमा, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार करने की अथवा दंडादेश के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति, प्रदान करता है।

हालांकि, राज्यपाल की क्षमादान की शक्तियां निम्नलिखित मामले में राष्ट्रपति की शक्तियों से भिन्न हैं -

- **मृत्युदण्ड के विषय में** राष्ट्रपति के पास मृत्युदंड की सजा को क्षमा करने का अनन्य अधिकार हैं जबकि राज्यपाल को यह शक्ति प्राप्त नहीं है। हालाँकि, मृत्युदंड को निलंबित करने, परिहार करने एवं लघुकरण करने की शक्ति राज्यपाल को प्राप्त है।
- **सैन्य न्यायालय के विषय में** राज्यपाल और राष्ट्रपति की क्षमादान की शक्तियां सैन्य न्यायालय द्वारा प्रदत्त सजा के मामले में भी भिन्न हैं, जहाँ राष्ट्रपति को क्षमा करने, लघुकरण, परिहार, निलंबित करने का अधिकार है, वहीं राज्यपाल के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है।

1.4. राज्यपाल का विवेकाधिकार

राज्यपाल के विवेकाधीन कृत्य:

- **अनुच्छेद 163** के तहत दो प्रकार की परिस्थितियों में राज्यपाल से मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना अर्थात् अपने विवेक से कार्य करने की अपेक्षा की गयी है:
    - जो संविधान और संसदीय लोकतंत्र की प्रकृति से प्रत्यक्ष रूप से प्रदत्त हैं।
    - जहां संविधान ने राज्यपाल पर अभिव्यक्त रूप से विशेष उत्तरदायित्व डाला है।

नोट: इसके अतिरिक्त, राज्यपाल कुछ अन्य विशेष परिस्थितियों में भी अपने विवेकाधिकार से कार्य करता है। इसकी आगे चर्चा की गयी है।

संविधान द्वारा प्रदत्त

प्रथम प्रकार के विवेकाधिकार के तहत निम्नलिखित परिस्थितियों को सम्मलित किया जा सकता है:

- मुख्यमंत्री का चयन,
- सरकार को विधान सभा में अपने बहुमत को सिद्ध करने के लिए कहना,
- मुख्यमंत्री को पदच्युत करना,
- विधानसभा का विघटन करना,
- राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करना (अनुच्छेद 356),
- राष्ट्रपति के विचार के लिए विधेयक आरक्षित करना (अनुच्छेद 200),
- पुनर्विचार के लिए विधेयक लौटाना (अनुच्छेद 200)
- वह प्रशासनिक और विधायी मामलों पर राज्य के मुख्यमंत्री से जानकारी प्राप्त कर सकता है।
- असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के राज्यपाल द्वारा खनिज उत्खनन की रॉयल्टी के रूप में जनजातीय जिला परिषद को देय राशि का निर्धारण।

राज्यपाल द्वारा अपने विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायपूर्ण और पक्षपात रहित रीति से किया जाना चाहिए। उसका उद्देश्य संविधान और उसके आदर्श एवं संस्थाओं का संरक्षण होना चाहिए। राज्यपाल को राजनीति से प्रेरित होकर किसी दल, समूह या व्यक्ति के हित में कार्य नहीं करना चाहिए। यह विवेकाधिकार राज्य के संवैधानिक प्रमुख में निहित किया गया है और इसके साथ यह अपेक्षा की गयी है कि वह शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्वक और उत्तरदायित्व-पूर्ण रीति से करेगा। इस शक्ति के साथ कर्तव्य भी संबद्ध हैं। यह किसी अधिनायक या निरंकुश शासक की बंधनहीन शक्ति नहीं है जिसका वह अपनी इच्छानुसार प्रयोग करे। यह शक्ति संविधान की और उत्तरदायी सरकार की विरासत की रक्षा के लिए दी गई शक्ति है।

1.5. राज्यपाल का विशेष उत्तरदायित्व

अनुच्छेद 371 से 371 (j) के तहत राष्ट्रपति के निर्देश पर राज्यपाल को कुछ विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं। ऐसे मामलों में राज्यपाल, मुख्यमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद से परामर्श लेने अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में लिए गए परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। वह अंततः स्वविवेक के आधार पर कार्य करता है। ये विशेष मामले इस प्रकार हैं:

- अनुच्छेद 371 (2) के अनुसार, राष्ट्रपति महाराष्ट्र और गुजरात के राज्यपाल को क्रमशः विदर्भ, मराठवाड़ा एवं शेष महाराष्ट्र तथा सौराष्ट्र, कच्छ एवं शेष गुजरात के विकास के लिए पृथक विकास बोर्ड की स्थापना हेतु विशिष्ट उत्तरदायित्व।
- अनुच्छेद 371-A के तहत नागालैंड के राज्यपाल का त्वेनसांग नागा पहाड़ियों पर आतंरिक अशांति के कारण:-
    - कानून एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में,
    - त्वेनसांग जिले के लिए एक परिषद की स्थापना एवं
    - इस जिले और शेष नागालैंड के मध्य वित्त के उचित एवं समतापूर्ण आबंटन के सम्बन्ध में विशिष्ट उत्तरदायित्व।

- अनुच्छेद 371-C के अनुसार, मणिपुर के राज्यपाल को भी पहाड़ी क्षेत्रों से निर्वाचित राज्य व्यवस्थापिका की सभाओं की समुचित कार्यवाही सुनिश्चित करने हेतु विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं।
- अनुच्छेद 371-F, सिक्किम की जनता के विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक और आर्थिक विकास के साथ शांति सुनिश्चित करना।
- अनुच्छेद 371-H, अरुणाचल प्रदेश में क़ानून और व्यवस्था के संबंध में।
- अनुच्छेद 371-J, कर्नाटक - हैदराबाद-कर्नाटक क्षेत्र के लिए एक पृथक विकास बोर्ड की स्थापना।

1.6. परिस्थितिजन्य विवेकाधिकार

राज्यपाल भी राष्ट्रपति के समान परिस्थितिजन्य निर्णयन में विवेकाधिकार का प्रयोग करता है। निम्नलिखित राजनीतिक परिस्थितियों में वह अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करता है:

- जब किसी भी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, तो राज्यपाल उस स्थिति में नया मुख्यमंत्री नियुक्त कर सकता है। सदन में सरकार द्वारा बहुमत खो देने, विधानसभा चुनाव में किसी भी दल को पूर्ण बहुमत न मिलने की स्थिति में या कार्यकाल के दौरान अकस्मात मुख्यमंत्री का निधन हो जाने एवं उसके निश्चित उत्तराधिकारी न होने पर मुख्यमंत्री की नियुक्ति के मामले में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करेगा।
- सदन में बहुमत खोने के बाद भी त्यागपत्र न देने वाली मंत्रिपरिषद या अविश्वास प्रस्ताव के आधार पर पराजित मंत्रिपरिषद को वह बर्खास्त कर सकता है।

राज्यपाल को निम्नलिखित परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना अपने विवेक से कार्य करना चाहिए,

- जहां सलाह पक्षपातपूर्ण हो,
- जहां विनिश्चय अयुक्तिसंगत और अनुचित हो,
- जहां मंत्रिपरिषद सलाह देने की हकदार न हो,
- जहां यह आवश्यक है कि राज्यपाल अपने विवेक के अनुसार कार्य करें।

1.7. राष्ट्रपति और राज्यपाल की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

समानता

- जहां राष्ट्रपति केंद्र में संवैधानिक प्रमुख की भूमिका का निर्वहन करता हैं। वहीं राज्यपाल, राज्य में संवैधानिक प्रमुख की हैसियत से कार्य करता है।
- कार्यपालिका संबंधी सभी निर्णय केंद्र एवं राज्य में क्रमशः राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के नाम पर लिए जाते हैं। किंतु, इसका वास्तविक प्रयोग मंत्रिपरिषद के द्वारा किया जाता है।
- राष्ट्रपति, अनुच्छेद 123 के तहत अध्यादेश को प्रख्यापित कर सकता है जिसका प्रभाव संसद के द्वारा निर्मित विधि के समान होता है। वहीं राज्यपाल, अनुच्छेद 213 के तहत अध्यादेश को प्रख्यापित कर सकता है जिसका प्रभाव राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधान के समान होता है।
- सभी विधेयक (चाहे धन विधेयक हो या साधारण विधेयक) राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की सहमति से ही कानून का रूप ग्रहण करते हैं।
- सभी प्रकार के धन विधेयक लोकसभा में राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से जबकि विधानसभा में राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति से ही प्रस्तुत किए जाते हैं।

असमानता

- राज्य में राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियां राष्ट्रपति की अपेक्षा अधिक व्यापक है।
- क्षमादान संबंधी शक्तियों में असमानता:
  - राष्ट्रपति की क्षमादान शक्ति (दंड का प्रविलंबन, विराम, परिहार, क्षमा) केंद्रिय विधि तक विस्तारित है। जबकि, राज्यपाल की क्षमादान शक्ति, राज्य विधि तक विस्तारित है।
  - राष्ट्रपति, मृत्युदंड की सजा को क्षमा कर सकता है। जबकि, राज्यपाल मृत्युदंड की सजा को क्षमा नहीं कर सकता है।
  - राष्ट्रपति को 'कोर्ट मार्शल' के तहत सजा पाए व्यक्ति के दंड को कम करने, परिवर्तन करने या माफ करने का अधिकार है। जबकि, राज्यपाल को इस प्रकार की कोई शक्ति प्राप्त (कोर्ट मार्शल के मामले में) नहीं है।
- राष्ट्रपति को जहां लोकसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय के दो सदस्यों को मनोनित करने का अधिकार है। वहीं, राज्यपाल को राज्य विधानसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय के एक सदस्य के मनोनयन का अधिकार है।
- राष्ट्रपति जहां राज्यसभा में 12 गणमान्य लोगों को मनोनित करता है। वहीं, राज्यपाल को राज्य विधानपरिषद (जहां द्विसदनीय विधानमंडल हो) के 1/6 सदस्यों को नामनिर्दिष्ट करने की शक्ति है।

1.8. राज्यपाल के संबंध में गठित विभिन्न आयोग एवं न्यायिक निर्णय

1.8.1. प्रशासनिक सुधार आयोग

राज्यपाल की नियुक्ति तथा भूमिका के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा निम्नलिखित प्रमुख सिफ़ारिशें की गयी:

- ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाना चाहिए, जो दलीय पूर्वाग्रहों से मुक्त हो और जिसका सार्वजनिक जीवन एवं प्रशासन के विषय में लम्बा अनुभव हो।
- कार्यकाल की समाप्ति पर वह पुनः राज्यपाल नियुक्त किये जाने के योग्य नहीं होना चाहिए।
- सेवानिवृति के बाद न्यायाधीशों को राज्यपाल के रूप में नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन एक न्यायाधीश, जो सेवानिवृत्त होने के बाद सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते हुये राजनीतिक पद प्राप्त करता है अथवा निर्वाचित पद पर है, तो उसे राज्यपाल की नियुक्ति के लिए अयोग्य नहीं माना जाना चाहिए।
- राज्यपाल की नियुक्ति के सन्दर्भ में मुख्यमंत्री से परामर्श की स्वस्थ परंपरा को सुदृढ़ता के साथ विकसित किया जाए।
- राज्यपाल द्वारा स्वविवेक की शक्तियों के प्रयोग के विषय में दिशा-निर्देश को केन्द्र की स्वीकृति पर राष्ट्रपति के नाम से जारी किया जाना चाहिए।
- राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के समक्ष पाक्षिक रिपोर्ट के साथ-साथ आवश्यकता होने पर तदर्थ रिपोर्ट भी प्रस्तुत की जानी चाहिए। ऐसी रिपोर्ट बनाते समय राज्यपाल को स्वविवेक और स्वनिर्णय के आधार पर कार्य करना चाहिए। राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों को सुरक्षित रखने के विषय में भी स्वनिर्णय का प्रयोग करना चाहिए।
- मंत्रिपरिषद के बहुमत खो देने की स्थिति में राज्यपाल को मंत्रिपरिषद को विघटित करने से पूर्व विशेष सावधानी अपनानी चाहिए।
- किसी महत्वपूर्ण नीति निर्माण सम्बन्धी विषय पर मंत्रिमंडल के सदन में पराजित होने की स्थिति में यदि हारने वाला मुख्यमंत्री विधानसभा भंग करने की सलाह (ताकि वह मतदाताओं से निर्णय ले सके) देता है, तो राज्यपाल को उसकी सलाह मान लेनी चाहिए।
- अपने संवैधानिक उत्तरदायित्वों को प्रभावी तौर पर पूरा करने के लिए राज्यपाल को अनुच्छेद 167 के प्रावधान के अनुकूल सूचना प्राप्त करनी चाहिए।

1.8.2. भगवान सहाय समिति

प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा अपने प्रतिवेदन में राष्ट्रपति के नाम से उन निर्देशों को जारी करने की सिफ़ारिश की गयी थी, जिनके अनुसार राज्यपाल स्वविवेक शक्तियों का प्रयोग करें। वर्ष 1970 में राज्यपाल सम्मेलन में इस सिफ़ारिश को स्वीकार करते हुए इन निर्देशों को निर्धारित करने हेतु जम्मू कश्मीर के तत्कालीन राज्यपाल भगवान सहाय की अध्यक्षता में 5 सदस्यों की समिति गठित की गयी। समिति के अन्य सदस्य थे: बी. गोपाल रेड्डी, अलीयावर जंग, विश्वनाथन तथा एम. एम. धवन। इस समिति ने निम्नलिखित प्रमुख सिफ़ारिशें दी:

- किसी मुख्यमंत्री द्वारा विधानसभा का विश्वास मत प्राप्त करने के विषय में विधानसभा का अधिवेशन बुलाने से अस्वीकार करने की स्थिति में राज्यपाल, मंत्रिपरिषद को बर्ख़ास्त कर सकता है।
- मंत्रिपरिषद को विधानसभा में बहुमत प्राप्त है या नहीं, इसका निर्धारण विधानसभा के द्वारा किया जाना चाहिए। यदि कोई मुख्यमंत्री विधानसभा द्वारा बहुमत के प्रश्न को निर्धारित करने से अस्वीकार करता है तो यह माना जाना चाहिए कि मंत्रिपरिषद को बहुमत प्राप्त नहीं है।
- मुख्यमंत्री के त्यागपत्र या बर्ख़ास्तगी के बाद राज्य में वैकल्पिक सरकार बनाने की संभावना न होने की स्थिति में राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को विधानसभा भंग करने की रिपोर्ट दी जानी चाहिए।
- विधानसभा के मनोनीत सदस्य अथवा किसी ऐसे व्यक्ति को जो राज्य विधानसभा का सदस्य न हो, तो उसे मुख्यमंत्री पद की शपथ नहीं दिलानी चाहिए।
- राष्ट्रपति सचिवालय में एक विशेष कक्ष की स्थापना की जानी चाहिए और इस कक्ष द्वारा विभिन्न राज्यों में समय-समय पर घटित होने वाली राजनीतिक और संवैधानिक घटनाओं के सम्बन्ध में आधिकारिक सूचनाएँ एकत्र की जानी चाहिए। इस कक्ष को विशेष मामलों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की अनुमति से समस्त जानकारी राज्यपाल को दी जानी चाहिए, जिससे राज्यपाल को किसी निर्णय में आसानी हो।
- राज्यपाल अपने राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष होता है, न कि राष्ट्रपति का अभिकर्ता और संविधान द्वारा राज्यपाल के कर्तव्य को निर्धारित किया गया है।

1.8.3. राजमन्नार समिति

तमिलनाडु सरकार द्वारा वर्ष 1970 में केंद्र-राज्य संबंधों में सुधार करने एवं उत्पन्न विवादों के सफलतापूर्वक समाधान के लिए राजमन्नार समिति का गठन किया।

इस समिति की प्रमुख सिफ़ारिशें निम्नलिखित हैं:

- अंतर्राज्यीय परिषद का गठन किया जाए।
- राज्यपाल पद धारण कर चुके व्यक्तियों को इसी पद पर दूसरे कार्यकाल हेतु पुनर्नियुक्ति अथवा सरकार के अधीन किसी अन्य पद के लिए अयोग्य घोषित कर दिया जाना चाहिए। राज्यपाल को अपने कार्यकाल में पद से तब तक नहीं हटाया जाना चाहिए, जब तक उच्चतम न्यायालय द्वारा जाँच के बाद उसके द्वारा दुर्व्यवहार या उसकी अक्षमता सिद्ध नहीं हो जाए।
- राज्यपाल की नियुक्ति राज्य मंत्रिपरिषद के परामर्श के आधार पर ही की जानी चाहिए तथा इसके लिए एक वैकल्पिक व्यवस्था यह हो सकती है कि राज्यपाल की नियुक्ति इस प्रयोजन के लिए गठित एक उच्च अधिकार प्राप्त निकाय की सलाह के आधार पर की जाए।
- संविधान में राष्ट्रपति को राज्यपालों के लिए निर्देश देने का अधिकार प्रदान करने संबंधी विशेष प्रावधान शामिल किया जाना चाहिए। ये लिखित निर्देश, केन्द्र सरकार द्वारा राज्यपाल को निर्देश देने के विषय में अथवा उसे केन्द्र सरकार से परामर्श करने के विषय में निर्दिष्ट करें। इन निर्देशों के द्वारा उन सिद्धांतों को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए, जिनके संदर्भ में राज्यपाल से कार्य करने की अपेक्षा की गयी है। इन कार्यों में राज्य के प्रमुख के रूप में राज्यपाल की संवैधानिक शक्तियों के क्रियान्वयन का अवसर शामिल है।

- संविधान में वर्णित यह प्रावधान कि 'मंत्रिपरिषद का अस्तित्व, राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त होगा' को समाप्त किया जाना चाहिए।
- मुख्यमंत्री के संदर्भ में राज्यपाल के लिए निम्नलिखित निर्देश निर्धारित किए जाने चाहिए:
    - राज्यपाल बहुमत दल के नेता को ही मुख्यमंत्री नियुक्त करे।
    - किसी एक दल को बहुमत प्राप्त न होने की स्थिति में, राज्यपाल विधानसभा का अधिवेशन आहूत करे और अधिवेशन में चुने गए व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करे।
    - मुख्यमंत्री द्वारा किसी मंत्री को पदमुक्त करने की सलाह को राज्यपाल द्वारा मानना चाहिए।
    - यदि राज्यपाल को यह प्रतीत होता है कि मुख्यमंत्री ने विधानसभा में बहुमत खो दिया है, तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल को तत्काल विधानसभा का अधिवेशन आहूत कर मुख्यमंत्री को बहुमत सिद्ध करने का निर्देश देना चाहिए। मुख्यमंत्री के बहुमत सिद्ध करने में असफल होने पर ही राज्यपाल को उसे बर्ख़ास्त करना चाहिए।

1.8.4. सरकारिया आयोग

बदले हुए सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य में, केन्द्र और राज्यों के मध्य मौजूद व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली की समीक्षा की दृष्टि से, वर्ष 1983 में केंद्र सरकार द्वारा गृह मंत्रालय की अधिसूचना के तहत न्यायमूर्ति आर. एस. सरकारिया की अध्यक्षता (सदस्य- श्री बी. शिवरमन और डॉ. एस. आर. सेन) में एक आयोग गठित किया गया। समिति ने अनेक अध्ययन, विचार-विमर्श और विस्तृत वार्ता के पश्चात् जनवरी 1988 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें राज्यपाल से संबंधित कुछ प्रमुख सिफ़ारिशें की गयी। समिति ने कहा कि राज्यपाल की नियुक्ति के समय कुछ विशेष पहलुओं को ध्यान में रखना चाहिए, जैसे:

- उसे राज्य से बाहर का व्यक्ति होना चाहिए;
- उसकी विगत कुछ वर्षों में राजनीति में सक्रीय भागीदारी नहीं रही हो;
- वह राज्य की स्थानीय राजनीति एवं दलीय राजनीति में संलग्न न रहा हो;
- संबंधित तथ्यों और विवरणों के साथ राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को सौंपे गए प्रतिवेदन के आधार पर ही अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया जाना चाहिए।
- अनुच्छेद 356 का अत्यंत चरम परिस्थितियों में संयमित तरीके से और केवल अंतिम उपाय के रूप में ही प्रयोग किया जाना चाहिए।
- जब तक संसद द्वारा घोषणा का अनुमोदन न कर दिया जाए, विधानसभा का विघटन नहीं होना चाहिए।
- राज्यपाल की नियुक्ति के समय राज्य के मुख्यमंत्री से प्रभावी सलाह लेने की प्रक्रिया को संविधान में शामिल किया जाना चाहिए।
- राज्यपाल के चयन में अल्पसंख्यक वर्ग के व्यक्तियों को समुचित अवसर दिया जाना चाहिए।

1.8.5. राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण समीक्षा आयोग

- इस आयोग द्वारा 31 मार्च 2002 को अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गयी।
- संवैधानिक प्रावधानों का अनुपालन न करने वाले राज्यों को 'राज्य का शासन संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप नहीं संचालित किया जा रहा है' के रूप में चेतावनी दी जानी चाहिए। अनुच्छेद 356 के अंतर्गत कार्रवाई करने से पूर्व, राज्य से प्राप्त किसी भी स्पष्टीकरण को ध्यान में रखा जाना चाहिए।
- राज्यपाल के उस प्रतिवेदन के संबंध में जानकारी को मीडिया में पूर्ण और विस्तृत रूप में प्रसारित किया जाना चाहिए जिसके आधार पर अनुच्छेद 356 (1) के अंतर्गत उद्घोषणा की गयी है।
    - संसद समय-समय पर उद्घोषणा को बनाये रखने की आवश्यकता की समीक्षा कर सके, अतः अनुच्छेद 352 के अंतर्गत की गई आपात की उद्घोषणा से संबंधित रक्षोपायों को अनुच्छेद 356 में भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

1.8.6. पुंछी आयोग

- भारत सरकार ने दो दशक पूर्व सरकारिया आयोग द्वारा अंतिम बार केन्द्र-राज्य संबंधों से संबंधित मुद्दे पर विचार के पश्चात भारत की राजनीति और अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए केन्द्र-राज्य संबंधों से संबंधित नए मुद्दों पर विचार करने के लिए 27 अप्रैल 2007 को भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश **न्यायमूर्ति मदन मोहन पुंछी** की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया था।
- आयोग ने केन्द्र और राज्यों के मध्य मौजूद व्यवस्थाओं के प्रकार्य, विधायी संबंधों, प्रशासनिक संबंधों, राज्यपालों की भूमिका, आपातकालीन प्रावधानों, वित्तीय संबंधों, आर्थिक और सामाजिक नियोजन, पंचायती राज संस्थानों, अंतर्राज्य नदी जल सहित संसाधनों को साझा करना इत्यादि शामिल करके सभी क्षेत्रों में अधिकारों, प्रकार्यों और उत्तरदायित्वों के संबंध में न्यायालयों द्वारा की गई विभिन्न उद्घोषणाओं की जांच और समीक्षा की। 30 मार्च, 2010 को सरकार को प्रस्तुत की गई **सात खंडों** की रिपोर्ट में आयोग ने 273 सिफारिशें की थीं।
- पुंछी आयोग ने स्थानीय स्तर पर **केवल प्रभावित हिस्से में आपात स्थिति** लागू करने की अनुशंसा की अर्थात् केवल एक जिले में या उसके कुछ भागों में। इस प्रकार का आपात भी तीन माह से अधिक अवधि तक जारी नहीं रहना चाहिए।
- पुंछी आयोग ने इस अनुच्छेद का उपयोग करने के संबंध में **एस.आर. बोम्मई वाद (वर्ष 1994)** में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए दिशा-निर्देशों का समावेश करने के लिए अनुच्छेद 356 में उपयुक्त संशोधनों की भी अनुशंसा की।

अनुच्छेद 356 से संबंधित सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय

एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ

- अनुच्छेद 356 का प्रयोग अत्यंत अनिवार्य परिस्थितियों तथा बहुत कम मामलों में किया जाना चाहिए। राजनीतिक लाभ के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।
- सरकार की बहुमत का परीक्षण सदन में किया जाना चाहिए। यह राज्यपाल की स्वेच्छा पर आधारित नहीं होना चाहिए।
- न्यायालय मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सलाह पर प्रश्न नहीं उठा सकता है, किन्तु वह राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए दी गयी सलाह के आधार का परीक्षण कर सकता है और दुर्भावनापूर्ण आशय पाए जाने पर सुधारात्मक कदम उठा सकता है।
- अनुच्छेद 356 का प्रयोग प्रशासकीय तंत्र की विफलता के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि संवैधानिक मशीनरी के विफल हो जाने की स्थिति में ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

बूटा सिंह वाद

- इस वाद में आरोप यह था कि 2005 में बिहार के राज्यपाल बूटा सिंह ने अपनी व्यक्तिगत संतुष्टि के आधार पर विधानसभा के विघटन की अनुशंसा की थी। उनके अनुसार कुछ दल अनैतिक साधनों के माध्यम से बहुमत प्राप्त करने का प्रयास कर रहे थे।
- इसमें निर्णय दिया गया की राज्यपाल का प्रतिवेदन यथारूप ग्रहण नहीं किया जा सकता है और राष्ट्रपति शासन लागू करने के आधार के रूप में उपयोग किए जाने से पूर्व मंत्रिपरिषद द्वारा इसे सत्यापित किया जाना चाहिए।
- सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यदि अन्य दलों या विधायकों के समर्थन से किसी राजनीतिक दल ने सरकार बनाने का दावा किया है और राज्यपाल के समक्ष संबंधित दल ने बहुमत होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है तो वह अपने व्यक्तिगत आकलन के कारण इस आधार पर दावे की उपेक्षा नहीं कर सकता है कि भ्रष्ट साधनों के माध्यम से बहुमत प्राप्त किया गया है।

1.9. राष्ट्रपति शासन से संबंधी कुछ नवीनतम विवाद

1.9.1. अरुणाचल प्रदेश विवाद

- अरुणाचल प्रदेश में राजनीतिक अस्थिरता के वातावरण में, जनवरी 2016 में केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन आरोपित करने की सिफारिश की थी जिसे राष्ट्रपति द्वारा भी स्वीकृति प्रदान कर दी गयी। अरुणाचल प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल ज्योति प्रसाद राजखोवा ने राष्ट्रपति शासन लगाने के लिए 15 जनवरी को राष्ट्रपति को भेजी गई अपने रिपोर्ट में राजभवन के बाहर 'मिथुन' (एक बाईसन) की बलि और पूर्व मुख्यमंत्री नबाम तुकी के एक उग्रवादी संगठन NSCN-K से संपर्क को इसका कारण बताया था।
- कांग्रेस पार्टी द्वारा इसके विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर करते हुए पूर्ववर्ती सरकार को पुनः बहाल करने की मांग की। उच्चतम न्यायालय ने इस मामले को संविधान पीठ को सौंपते हुए राज्यपाल के स्वनिर्णय के अधिकारों के संवैधानिक दायरे में होने के संबंध में समीक्षा आरंभ की।
- अरूणाचल प्रदेश मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने तत्कालीन राज्यपाल की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह उठाते हुए एवं उनके निर्णयों को निरस्त करते हुए पहली बार किसी राज्य की पूर्ववर्ती सरकार को पुनः बहाल कर दिया एवं राज्यपाल के संबंध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण निर्णय दिए:
    - जब तक राज्य की निवर्तमान सरकार राज्यपाल के विचार में बहुमत या सदन का विश्वास न खो दे तब तक उसे विधानसभा के सत्र को एकतरफा तरीके से आहूत करने एवं किसी मुद्दे पर संदेश भेजने का अधिकार नहीं है अर्थात् उसका यह एकतरफ निर्णय या विवेकाधिकार की शक्ति असंवैधानिक है।
    - वह, विधानसभा अध्यक्ष को पदच्युत करने संबंधी निर्णय नहीं ले सकता।
    - राज्यपाल, राज्य मंत्रिपरिषद के 'परामर्श' के अनुसार कार्य करने हेतु बाध्य हैं। जहां तक उसके विवेकाधीन शक्ति का प्रश्न है, वह **'संवैधानिक दायरे'** के अधीन होनी चाहिए।

1.9.2. उत्तराखंड विवाद

- मार्च, 2016 को तत्कालीन राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत प्रदत्त अधिकार का उपयोग कर उत्तराखंड में राष्ट्रपति शासन लगाये जाने संबंधी प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान कर दी। राज्य के अस्थिर राजनीतिक घटनाक्रम को ध्यान में रखते हुए राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति शासन लगाए जाने की सिफारिश की गयी थी।
- तत्कालीन मुख्यमंत्री हरीश रावत को सदन में बहुमत सिद्ध करने के लिए 28 मार्च तक का समय दिया गया था लेकिन इससे एक दिन पूर्व ही राज्यपाल द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने की अनुमति दे दी थी।
- बजट सत्र के दौरान विवाद तब उत्पन्न हुआ जब भाजपा ने आरोप लगाया कि बजट एवं विनियोग विधेयक पारित ही नहीं हुआ है क्योंकि कांग्रेस के पास बहुमत ही नहीं था।
- मुख्यमंत्री पर विधायकों की खरीद-फरोख्त का आरोप भी लगाया गया।
- उत्तराखंड में राष्ट्रपति शासन लगाए जाने के बाद कांग्रेस ने नैनीताल हाई कोर्ट में इसे चुनौती देते हुए एक याचिका दायर की, जिसे न्यायाधीश यू. सी. ध्यानी की पीठ द्वारा सुनवाई के लिए स्वीकार कर लिया गया।

सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय

उत्तराखंड में राष्ट्रपति शासन लागू किए जाने के औचित्य की जांच करने हेतु गठित संवैधानिक पीठ ने निम्नलिखित निर्णय दिए:

- राज्यपाल को यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि वह **राज्य का लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं** है।
- राज्यपाल उत्तरदायी शासन की शक्तियों को ग्रहण नहीं कर सकता है एवं वह मुख्यमंत्री तथा मंत्रिपरिषद के परामर्श के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता है।
- यदि राज्यपाल को प्रतीत होता है कि राज्य सरकार बहुमत खो चुकी है तो उसे सदन में बहुमत का परीक्षण करने का प्रस्ताव प्रस्तुत करना चाहिए। इसके पश्चात ही, राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजी जानी चाहिए।
- इस बात से सहमत होने के बावजूद कि लोकतंत्र में सदन में बहुमत सिद्ध करना सर्वाधिक औचित्यपूर्ण माध्यम है, राज्यपाल सहित कोई भी अन्य अधिकारी सदन के अध्यक्ष को यह निर्देश नहीं दे सकता है कि सदन की प्रक्रिया का संचालन कैसे किया जाए।
- सर्वोच्च न्यायालय ने तत्कालीन हरीश रावत की सरकार को सदन में बहुमत परीक्षण का अवसर प्रदान किया जिसमें वे सफल रहें एवं राष्ट्रपति शासन को हटाना पड़ा।
- उत्तराखंड मामले में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय **एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ वाद 1994 में दिए गए निर्णय के समान ही था,** जिसमें सदन में ही बहुमत सिद्ध करने की अनुशंसा की गई थी।

1.10. राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति

- भारतीय संविधान में केंद्र के समान राज्यों को भी सरकार का संसदीय स्वरूप प्रदान किया गया है। राष्ट्रपति के समान, राज्य स्तर पर राज्यपाल अपनी शक्तियों और कार्यों का निर्वहन मुख्यमंत्री की अध्यक्षता वाली मंत्रिपरिषद के परामर्श पर करता है, केवल उन मामलों को छोड़कर जिसमें वह अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।
- 42वें संविधान संशोधन के द्वारा मंत्रिपरिषद की सलाह को राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी बनाया गया, लेकिन इस तरह का कोई प्रावधान राज्यपाल के संबंध में नहीं है। राज्यपाल नाममात्र का कार्यकारी प्रमुख है, वास्तविक कार्यकारी शक्ति मुख्यमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद में निहित होती है। हालांकि, राज्यपाल को विवेकाधीन शक्तियों एवं परिस्थितिजन्य विवेकाधीन शक्तियों के रूप में अनेक विशेष शक्तियां प्राप्त हैं।
- संवैधानिक रूप से राज्यपाल राज्य का प्रमुख होता है, लेकिन व्यावहारिक रूप में वह केंद्र के एजेंट के रूप में कार्य करता है। इस दृष्टिकोण से, राज्य प्रशासन के संदर्भ में राज्यपाल की भूमिका वास्तविक प्रमुख के विपरीत नाममात्र प्रमुख के रूप में अधिक दृष्टिगत होती है।
- आदर्श रूप में, राज्यपाल के पद की परिकल्पना केंद्र और राज्य के मध्य में **'सहकारी संघवाद'** की एक कड़ी के रूप में की गयी थी। वह राज्य स्तर पर राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर सकता है तथा राज्य से संबंधित मुद्दों को केंद्र के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है।
- परन्तु व्यवहार में, यह **'सौदेबाजी संघवाद'** का पद बन गया अर्थात् एक ऐसा तंत्र जिसके माध्यम से केंद्र द्वारा राज्यों से सौदेबाजी की जाती है।
- राज्यपाल के पद द्वारा 1967 तक अर्थात् केंद्र और राज्य में एक ही दल की सरकार होने की स्थिति में सहयोगात्मक संघवाद को बढ़ावा दिया गया। हालांकि, बाद में इस पद का प्रयोग बार-बार राजनीति से प्रेरित हो कर किया जाने लगा। कुछ विशेषज्ञ इसे संविधान के सर्वाधिक दुरुपयोग किए गए पद के रूप में मानते हैं।

1.11. त्रिशंकु विधानसभा में मुख्यमंत्री की नियुक्ति

गोवा एवं मणिपुर में एक गैर-बहुमत प्राप्त दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने के मामले में, एक व्यक्ति को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित करने से संबंधित राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों पर पुनः प्रश्नचिन्ह आरोपित किए गए हैं। हाल ही में, संपन्न कर्नाटक विधानसभा चुनाव के पश्चात् यह मुद्दा फिर से उठा था।

अनुच्छेद 164 (1) में राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति का प्रावधान है। उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया कि इसके लिए अनुच्छेद 164 (1) में किसी अर्हता का उल्लेख नहीं है तथा अनुच्छेद 164 (2) में वर्णित सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। मुख्यमंत्री पद के उम्मीदवार के लिए केवल शर्त यह है कि उसे सदन में बहुमत प्राप्त दल का नेता होना चाहिए।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति के संदर्भ में **सरकारिया आयोग** ने निम्नलिखित सिफ़ारिशें की हैं:

- सरकार बनाने हेतु विधानसभा में बहुमत प्राप्त दल या गठबंधन दलों को आमंत्रित किया जाना चाहिए।
- यदि चुनावों से पूर्व विभिन्न दलों के मध्य समझौता या गठबंधन होता है, तो इसे एक राजनीतिक दल के रूप में ही माना जाना चाहिए तथा यदि इस प्रकार एक गठबंधन को बहुमत प्राप्त हो जाता है, तो राज्यपाल द्वारा ऐसे गठबंधन के नेता को सरकार बनाने के लिए निमंत्रण करना चाहिए।
- यदि किसी दल या गठबंधन दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है, तो राज्यपाल को निम्नलिखित वरीयता क्रम में मुख्यमंत्री का चयन करना चाहिए:
    - चुनाव-पूर्व निर्मित गठबंधन दल को, जिसे बहुमत प्राप्त है।
    - अन्य दलों के समर्थन से सरकार बनाने का दावा करने वाले सबसे बड़े एकल दल को।
    - चुनाव-उपरांत निर्मित गठबंधन दल को, जिसमें कुछ दल सरकार में शामिल हो गए हैं तथा शेष दलों द्वारा सरकार को बाहर से समर्थन प्रदान किया गया है।

1.12. केंद्र द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति एवं निष्कासन

संविधान में राज्यपाल की अर्हता का उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार, पूर्व नौकरशाहों, सेवानिवृत्त मुख्य न्यायधीश, सक्रिय राजनेताओं आदि को राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया है, जिसके कारण राज्यपाल केंद्र के प्रति अधिक प्रतिबद्ध होते हैं।

इसलिए, राज्यपाल की भूमिका के संबंध में पुंछी आयोग की सिफारिशों पर विचार किया जाना चाहिए:

- इसके द्वारा **अनुच्छेद 157** में शामिल करने हेतु राज्यपाल की अर्हता से संबंधित मापदंडों का एक समुच्च प्रस्तुत किया गया है:
    - राष्ट्रपति की राय में, राज्यपाल को एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए;
    - राज्यपाल को संबंधित राज्य के बाहर का व्यक्ति होना चाहिए;
    - राज्यपाल को राजनीति से पृथक व्यक्ति होना चाहिए और राज्य की स्थानीय राजनीति से घनिष्ट रूप से संबद्ध नहीं होना चाहिए। तदनुसार, राज्यपाल को अपनी नियुक्ति से कम से कम कुछ वर्ष पूर्व तक केंद्र, राज्य या स्थानीय स्तर पर सक्रिय राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए।
- राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष की अवधि के लिए निश्चित होना चाहिए।
- "राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत" वाक्यांश को संविधान के अनुच्छेद 156 से हटाया जाना चाहिए।

- बी. पी. सिंघल बनाम भारत संघ वाद में, उच्चतम न्यायालय ने अवलोकन किया कि राज्यपाल को हटाने की शक्ति का प्रयोग मनमाने, गैर-कानूनी या अनुचित तरीके से नहीं किया जा सकता है। इस शक्ति का प्रयोग केवल वैध एवं पर्याप्त कारणों के आधार पर विशिष्ट एवं असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए।
- संसद द्वारा राष्ट्रपति पर महाभियोग के समान ही राज्य विधान-मंडल द्वारा भी राज्यपाल पर महाभियोग चलाए जाने के संबंध में प्रावधान किया जाना चाहिए।
- राज्यपाल पद पर दूसरे कार्यकाल, भारत के उपराष्ट्रपति या राष्ट्रपति पद को छोड़कर, राज्यपालों को संघ या राज्य सरकारों के अधीन किसी भी अन्य नियुक्ति या लाभ के पद के लिए पात्र नहीं माना जाना चाहिए।
- इसके अतिरिक्त, राज्यपाल को अपना कार्यकाल पूर्ण करने या पद त्याग करने के उपरांत, सक्रिय पक्षपातपूर्ण राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए।

1.13. वर्तमान में राज्यपाल पद की प्रासंगिकता

- यद्यपि इस पद को समाप्त करने का सुझाव दिया गया है, परन्तु राज्यपाल का पद हमारी संघीय व्यवस्था में प्रासंगिक बना हुआ है। राज्यों में संवैधानिक शासन बनाए रखने में राज्यपाल ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संवैधानिक पद की गरिमा और स्वतंत्रता को बनाए रखने हेतु राष्ट्रपति पद के समान राज्यपाल के लिए भी कार्यकाल की निश्चित अवधि तथा उसे पदमुक्त करने के संबंध में महाभियोग की प्रक्रिया निर्धारित करने की आवश्यकता है।
- राज्यपाल राज्य-स्तरीय कार्यों और गतिविधियों में एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। प्राकृतिक आपदाओं के प्रकोप, सांप्रदायिक दंगों की स्थिति आदि में राज्यपाल का महत्व और बढ़ जाता है। पुंछी आयोग ने भी विशेष रूप से आंतरिक सुरक्षा के संदर्भ में इसके महत्व पर बल दिया है।

2. मुख्यमंत्री

- राज्य का मुख्यमंत्री सरकार का प्रमुख होता है तथा वह वास्तविक कार्यपालिकीय अधिकारी भी होता है। राज्य में मुख्यमंत्री का पद, केंद्र में प्रधानमंत्री के पद के समान होता है।
- **अनुच्छेद 164** के अनुसार, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा। परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्यपाल किसी को भी मुख्यमंत्री नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है। साधारणतया, राज्य विधानसभा में बहुमत दल के नेता को ही राज्यपाल उस राज्य का मुख्यमंत्री नियुक्त करता है।
- राज्यपाल ही मुख्यमंत्री को **पद एवं गोपनीयता** की शपथ दिलाता है। किसी मामले में, यदि किसी भी दल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त नहीं हो तो ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल सबसे बड़े दल या गठबंधन के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है और उसे एक निश्चित अवधि में सदन में अपना बहुमत सिद्ध (विश्वास मत प्राप्त) करने को कहता है।

2.1. मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियां

मुख्यमंत्री के कार्यों एवं शक्तियों का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत किया जा सकता है:

2.1.1. मंत्रिपरिषद के सन्दर्भ में

राज्य मंत्रिपरिषद के मुखिया के रूप में मुख्यमंत्री निम्नलिखित शक्तियों का प्रयोग करता है:

- राज्यपाल केवल उन व्यक्तियों को ही मंत्री नियुक्त करता है जिनकी सिफारिश मुख्यमंत्री ने की हो।
- वह मंत्रियों के विभागों का वितरण और फेरबदल करता है।
- मतभेद होने पर वह किसी भी मंत्री को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है या राज्यपाल को उसे बर्खास्त करने की सिफारिश कर सकता है।

- मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद की बैठक की अध्यक्षता कर इसके निर्णयों को प्रभावित करता है।
- वह सभी मंत्रियों को उनके कार्यों में सहयोग, नियंत्रण, निर्देश और मार्गदर्शन करता है।
- चूंकि मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद का प्रमुख होता है, अत: उसके त्यागपत्र या मृत्यु से मंत्रिपरिषद स्वतः ही विघटित हो जाती है। इस प्रकार, वह अपने पद से त्यागपत्र देकर संपूर्ण मंत्रिपरिषद् को समाप्त कर सकता है।

2.1.2. राज्यपाल के सन्दर्भ में

मुख्यमंत्री, राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य संवाद की एक कड़ी के रूप में कार्य करता है। अतः मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह:

- राज्य के कार्यों के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक मामलों सम्बन्धी मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों के विषय में राज्यपाल को सूचित करे।
- राज्यपाल द्वारा राज्य के कार्यों के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी जानकारी मांगे जाने पर, उसे उपलब्ध करना।
- यदि किसी मुद्दे पर मंत्री द्वारा निर्णय ले लिया गया हो किन्तु मंत्रिपरिषद ने उस पर विचार नहीं किया हो तो राज्यपाल द्वारा अपेक्षा किए जाने पर उस मुद्दे को मंत्रिपरिषद के समक्ष विचार के लिए प्रस्तुत करे।
- वह राज्य के महत्वपूर्ण अधिकारियों, जैसे- महाधिवक्ता, राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों, राज्य निर्वाचन आयुक्त आदि की नियुक्ति के संबंध में राज्यपाल को परामर्श देता है।

2.1.3. राज्य विधानमंडल के सन्दर्भ में

- राज्यपाल को, विधानमंडल का सत्र आहूत करने एवं सत्रावसान के सम्बन्ध में सलाह देता है।
- वह राज्यपाल को किसी भी समय विधानसभा विघटित करने की सिफारिश कर सकता है।
- राज्य का मुख्यमंत्री ही राज्य विधानसभा के पटल पर सरकार की नीतियों की घोषणा करता है।

उपर्युक्त वर्णित कार्यों एवं शक्तियों के अतिरिक्त, मुख्यमंत्री के कुछ अन्य कार्य और शक्तियां भी हैं जो निम्नलिखित हैं:

- वह राज्य योजना बोर्ड का अध्यक्ष होता है।
- वह संबंधित क्षेत्रीय परिषद के क्रमवार उपाध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद में शामिल किए गए राज्यों के मुख्यमंत्री, रोटेशन से एक समय में एक वर्ष की अवधि के लिए उस के उपाध्यक्ष के रूप में कार्य करते हैं। क्षेत्रीय परिषदों की अध्यक्षता केन्द्रीय गृह मंत्री द्वारा की जाती है।
- मुख्यमंत्री अंतर्राज्यीय परिषद, राष्ट्रीय विकास परिषद और नीति आयोग के शासी परिषद का सदस्य होता है। इन निकायों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री द्वारा की जाती है।
- वह राज्य सरकार का मुख्य प्रवक्ता होता है।
- राज्य के नेता के रूप में, वह जनता के विभिन्न वर्गों से संपर्क करता है और उनसे उनकी समस्याओं आदि के सम्बन्ध में ज्ञापन प्राप्त करता है।
- आपातकाल के दौरान राजनीतिक स्तर पर वह मुख्य प्रबंधक की भूमिका का निर्वहन करता है।

यद्यपि राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है, परंतु राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियां राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री की कुछ शक्तियों, प्राधिकारों, प्रभावों, प्रतिष्ठा, भूमिका आदि में कटौती कर सकती हैं।

3. मंत्रिपरिषद

अनुच्छेद 163 वर्णित करता है कि राज्यपाल को सहायता और सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी।

- राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों एवं विशेष उत्तरदायित्वों को छोड़कर अन्य विषयों में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान, मुख्यमंत्री होगा।
- विवेकाधीन शक्तियों के सम्बन्ध में राज्यपाल का विनिश्चय अंतिम होगा और राज्यपाल द्वारा की गई किसी बात की विधिमान्यता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि उसे अपने विवेकानुसार कार्य करना चाहिए था या नहीं।
- इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई सलाह दी है और यदि कोई सलाह दी है तो वह सलाह क्या है?

3.1. मंत्रियों से संबंधित अन्य उपबंध

- मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाएगी तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल, मुख्यमंत्री की सलाह पर करेगा। मंत्री, राज्यपाल के प्रसादपर्यंत अपना पद धारण करेंगे।
- मंत्रिपरिषद के आकार के विषय में निर्धारित किया गया है कि किसी राज्य की मंत्रिपरिषद में मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की कुल संख्या के **पंद्रह प्रतिशत** से अधिक नहीं होगी, परंतु किसी राज्य में मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की संख्या **बारह से कम नहीं** होगी। इस प्रावधान को **91वें** संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा जोड़ा गया है।
- मंत्रिपरिषद राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।
- किसी मंत्री द्वारा अपना पद ग्रहण करने से पूर्व, राज्यपाल तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्रारुप के अनुसार उसको पद और गोपनीयता की शपथ दिलाएगा।
- कोई मंत्री, जो निरंतर छह माह की किसी अवधि तक राज्य के विधानमंडल का सदस्य नहीं है, उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रहेगा।
- मंत्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे, जो संबंधित राज्य के विधानमंडल द्वारा विधि के माध्यम से समय-समय पर अवधारित किए जायेंगे और जब तक उस राज्य का विधानमंडल इस प्रकार अवधारित नहीं करता है, तब तक दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्रावधानों के अनुरूप ही बने रहेंगे।

4. राज्य में मुख्य सचिव का पद

- राज्य में मुख्य सचिव का पद, राज्य की प्रशासनिक सेवा में सर्वाधिक वरिष्ठ प्रशासनिक पद होता है। इस पद पर सामान्यतः अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं।
- इसका चयन मुख्यमंत्री द्वारा किया जाता है जबकि नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा की जाती है। इसका कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता है।
- मुख्य सचिव, राज्य की प्रशासनिक कार्यपालिका का प्रमुख होता है तथा राज्य सरकार के प्रमुख कार्यकारी के रूप में इन्हे स्वीकार किया जाता है। इसका कार्य विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित करना है। यह मुख्यमंत्री की सलाहकार तथा मंत्रिमंडल के सचिव के रूप में कार्य करता है।
- मुख्य सचिव, राज्य सिविल सेवा बोर्ड के पदेन अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। यह बोर्ड राज्य में कार्यरत अखिल भारतीय सेवाओं और राज्य सिविल सेवा के अधिकारियों की पद स्थापन (पोस्टिंग) एवं स्थानांतरण संबंधी अनुशंसा करता है।

5. महाधिवक्ता (Advocate general)

अनुच्छेद 165 के तहत वर्णित किया गया है कि प्रत्येक राज्य का महाधिवक्ता होगा जिसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाएगी।

- महाधिवक्ता के पद पर नियुक्त व्यक्ति के लिए उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता धारण करना अनिवार्य है।
- महाधिवक्ता राज्य का सर्वोच्च विधि अधिकारी होता है। उसका कर्तव्य होगा कि वह उस राज्य की सरकार को विधि संबंधी ऐसे विषयों पर सलाह दे और विधिक स्वरूप के ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करे, जो राज्यपाल उसको समय-समय पर निर्देशित करे या सौंपे तथा उन कृत्यों का निर्वहन करे, जो उसको इस संविधान अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन प्रदान किए गए हों।
- महाधिवक्ता, राज्यपाल के प्रसादपर्यंत पद धारण करेगा और ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेगा, जो राज्यपाल अवधारित करे।
- महाधिवक्ता को उस राज्य की विधान सभा की कार्यवाही में भाग लेने अथवा बोलने का अधिकार है। हालांकि, उसे मतदान का अधिकार नहीं होगा। इसकी सहायता हेतु कई राज्यों में अपर महाधिवक्ता भी नियुक्त किए गए है।

6. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **संवैधानिक रूप से, राज्यपाल और विधानसभा अध्यक्ष दोनों से ही निष्पक्षता बनाए रखने की आशा की जाती है। राज्यपाल और विधानसभा अध्यक्ष की विवेकाधिकारी शक्तियों का सविस्तार वर्णन कीजिए। सरकार के गठन और विश्वासमत जैसी अनिश्चितता के समय वे क्या भूमिका निभाते हैं?**

दृष्टिकोण:

- राज्यपाल और राज्य विधानसभा के अध्यक्ष दोनों से तटस्थता रखने के पीछे निहित औचित्य का उल्लेख करते हुए परिचय दीजिए।
- इन पदों के लिए निहित विवेकाधिकारी शक्तियों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
- उत्तर के अंतिम भाग में विश्वासमत और सरकार गठन जैसी स्थितियों में संवैधानिक स्थिति को रेखांकित किया जाना चाहिए और इन पदों की भूमिका को उनके संबंधित कार्यक्षेत्र में स्पष्ट किया जाना चाहिए।
- राज्यों में संवैधानिक शासन के कार्यकरण के लिए इन पदों की ओर से तटस्थता निष्पक्षता की आवश्यकता पर बल देते हुए उत्तर समाप्त कीजिए।

उत्तर:

राज्यपाल और विधानसभा अध्यक्ष के पद राज्यों में महत्वपूर्ण संवैधानिक पद हैं और इसलिए इनसे तटस्थ और गैर-पक्षपाती होने की आशा की जाती है। राज्यपाल राज्य विधायिका का अभिन्न अंग होता है जिसकी अध्यक्षता विधानसभा अध्यक्ष द्वारा की जाती है।

जहां राज्यपाल के पद से संबंधित शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह के माध्यम से किया जाता है, वहीं विधानसभा अध्यक्ष की शक्तियां विधानसभा तक ही सीमित होती हैं। हालांकि, ऐसी कुछ महत्वपूर्ण परिस्थितियां हैं जहां इन दो पदधारियों को निर्णय लेते समय स्वतंत्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है; ये परिस्थितियां विवेकाधिकरी शक्तियों से संबंधित हैं। इनका संवैधानिक आधार अनुच्छेद 163(2) और 212 में निहित किया जा सकता है।

राज्यपाल की स्थिति:

- यदि विधानसभा में किसी भी राजनीतिक दल या गठबंधन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है, तो वह मुख्यमंत्री बनाने के लिए किसी व्यक्ति को आमंत्रित करने में अपने विवेकाकधकार का प्रयोग कर सकता है।
- राज्यपाल केंद्र और राज्य के मध्य एक कड़ी के रूप में कार्य करता है। वह राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को भारत के राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता है।
- यदि उसे प्रतीत होता है कि राज्य सरकार संविधान के अनुसार कार्य नहीं कर रही है, तो राष्ट्रपति को सूचित कर सकता है जिससे अनुच्छेद 356 का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

अध्यक्ष की स्थिति:

- वह कार्य संचालन के नियमों की व्याख्या करता है और उन्हें लागू करता है।
- वह विधायकों के अधिकारों की रक्षा करता है और सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन करने वाले लोगों को दंडित करता है।
- वह दल-बदल विरोधी अधिनियम, 1985 के अंतर्गत 'दल-बदल' को अभिनिर्धारित करता है।
- वह बराबरी की स्थिति में अपना मत देता है (जब प्रस्ताव के समर्थकों और विरोधियों का बराबर वोट होता है)।

गठबंधनों सरकारों में दल-बदल, विभाजन और भंग होने संबंधी मामलों ने बहुमत प्राप्त सरकारों के समक्ष प्रश्न उत्पन्न किए हैं और इन परिस्थितियों में इन दोनों पदों की महत्वपूर्ण भूमिका हो जाती हैं।

- राज्यपाल को इस संबंध में पूर्णत: आश्वस्त किया जाना होता है कि सरकार को विधायिका का विश्वास प्राप्त है। वह सरकार को विधायिका में अपना बहुमत सिद्ध करने का निर्देश दे सकता है।
- विधानसभा अध्यक्ष विश्वास मत या अविश्वास मत के दौरान कार्यवाही का संचालन करता है और बराबरी की स्थिति में निर्णायक मत दे सकता है। विधायी समूहों में विभाजन या दल-बदल के आधार पर सदस्यों की अयोग्यता के मामलों में न्याय निर्णय करने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

इस प्रकार, इन दोनों पदों का तटस्थ एवं निष्पक्ष आचरण राज्यों में संवैधानिक शासन के लिए महत्वपूर्ण होता है।

2. कई संवैधानिक विशेषज्ञों ने राज्यपाल की नियुक्ति व पदच्युति की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक परंपराओं की मूल भावना और संवैधानिक मर्यादा के विरुद्ध पाया है। इस पद से जुड़े हाल के विवादों को देखते क्या आप इस प्रक्रिया की समीक्षा की आवश्यकता महसूस करते हैं?

दृष्टिकोण :

प्रश्न का मुख्य भाव राज्यपालों की नियुक्ति तथा उनकी पदच्युति का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन करना है। अतः उत्तर में निम्नलिखित बिंदु समाहित होने चाहिए:

- वर्तमान में राज्यपाल की नियुक्ति तथा उन्हें पद से हटाए जाने की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।
- वर्तमान परिचर्चा को प्रेरित करने वाली हाल की प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

- आधिकारिक निर्णय या समिति की रिपोर्टों के आधार पर इस प्रक्रिया को बेहतर बनाए जाने वाले सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर :

संविधान के प्रावधानों के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति अनुच्छेद 155 के अंतर्गत राष्ट्रपति के द्वारा मंत्रिपरिषद् के परामर्श के आधार पर की जाती है। किसी राज्यपाल के विरुद्ध महाभियोग चलाए जाने का कोई प्रावधान नहीं है, वह राष्ट्रपति की इच्छापर्यंत पद पर बना रहता है। किन्तु उसे रिश्वतखोरी आदि गंभीर अपराधों के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है।

हमारे देश में, ऐसी परिपाटी बन गयी है कि केंद्र में सत्ता परिवर्तित होते ही राज्य के राज्यपालों को केंद्र की इच्छानुसार हटाया या नियुक्त किया जाता है। हाल ही में, जब वर्तमान सरकार ने कुछ राज्यपालों को तत्काल प्रभाव से त्यागपत्र देने को कहा तो कई विवाद उत्पन्न हो गए।

2010 में, मुख्य न्यायधीश न्यायमूर्ति के. जी. बालाकृष्णन ने इस बात पर बल दिया कि किसी भी राज्यपाल को "केंद्र में संघीय सरकार की नीतियों या विचारधाराओं से ताल-मेल न रखने के कारण" हटाया नहीं जा सकता। इस निर्णय में यह भी कहा गया कि राज्यपालों को हटाया भी जा सकता है, किन्तु इसके लिए "बाध्यकारी" कारण उपलब्ध होने चाहिए। इस निर्णय ने एक अपवाद को जन्म दिया कि सरकार किसी राज्यपाल को हटाने के लिए उचित कारण सुझाते हुए उसके विरुद्ध मामलों की एक फ़ाइल तैयार कर राज्यपाल को हटाने की प्रक्रिया का आरम्भ कर सकती है। नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अवश्य पालन किया जाना चाहिए अर्थात् राज्यपाल को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर अवश्य प्रदान किया जाना चाहिए।

केंद्र-राज्य संबंधों पर आधारित सरकारिया आयोग ने सुझाया कि:

- एक राज्यपाल को जीवन के किसी क्षेत्र का प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए,
- उसे "राज्य की स्थानीय राजनीति से घनिष्ठ रूप से संबंधित नहीं होना चाहिए", तथा
- उसे ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने "विशेषतः हाल के दिनों में राजनीति में अत्यधिक सक्रिय भागीदारी न की हो"। इसमें सुझाव दिया गया था कि केंद्र में सत्तासीन दल के किसी राजनीतिज्ञ को किसी अन्य दल द्वारा शासित किसी राज्य में राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए।

यदि इन मानदंडों का पालन किया जाए तो असुविधाकारी राज्यपालों को हटाए जाने की आवश्यकता उत्पन्न ही नहीं होगी।

पूंछी आयोग ने, स्वयं संविधान में भी राज्यपालों की नियुक्ति/पदच्युति के संबंध में विशिष्ट प्रक्रिया अपनाए जाने पर बल दिया है।

इसलिए, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय तथा सरकारिया आयोग की अनुशंसाओं के आधार पर राज्यपालों की नियुक्ति तथा पदच्युति की वर्तमान प्रणाली को परिवर्तित करने का यह उचित समय है।

7. विगत वर्षों में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा पूछे गए प्रश्न (Past Year UPSC Questions)

1. Who is eligible to the appointed Governor of a State in India? (83/II/8f(B)/3)
   भारत में किसी राज्य के राज्यपाल के पद पर नियुक्ति हेतु कौन अहर्य होता है?
2. How is the Governor of a State appointed in India? Does the manner of his appointment ensure his independent functioning? (150 words) (84/II/4d/20)
   भारत में किसी राज्य का राज्यपाल किस प्रकार नियुक्त किया जाता है? क्या उसकी नियुक्ति की विधि उसका स्वतंत्र काम-काज सुनिश्चित करती है?
3. When can the Governor of a State reserve a bill for consideration by the President? (84/II/8f(B)/3)
   कब किसी राज्य का राज्यपाल किसी विधेयक (बिल) को भारत के राष्ट्रपति के विचारणार्थ आरक्षित कर सकता है?
4. Examine the role and functions of the State Governors as set out in the Constitution of India. (88/II/4c/20)
   भारतीय संविधान में यथा निर्दिष्ट राज्य के राज्यपाल की भूमिका और उसके कार्यों का परीक्षण कीजिए।
5. Explain the nature and extent of discretionary powers and special responsibilities of the Governor in the Indian Constitution? (150 words) (90/II/4b/20)
   भारतीय संविधान में राज्यपाल को प्राप्त वैवेकिक शक्तियों तथा विशेष दायित्वों का स्वरूप और विस्तार समझाइए?
6. When can the Governor of a State reserve a Bill for consideration by the President of India? (91/II/8c(B)/3)
   कब किसी राज्य का राज्यपाल किसी विधेयक (बिल) को भारत के राष्ट्रपति के विचारणार्थ आरक्षित कर सकता है?
7. "In India, though the Governor is the constitutional head of a state just as the President of the country, the former may be enjoying more powers than the latter." Do you agree? Give reasons. (About 250 words) (94/II/1a/40)
   यद्यपि भारत में राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है जैसे राष्ट्रपति देश का होता है, फिर भी हो सकता है कि राज्यपाल के अधिक अधिकार हो। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? कारण बताइए।
8. Is there any provision to impeach the Governor of a State? (25 words) (99/II/9b/3)
   क्या किसी राज्य के राज्यपाल के विरूद्ध महाभियोग लगाने का कोई प्रावधान है?
9. What were the two major considerations to have the Governor appointed and not elected? (08/I/7e/2).
   राज्यपाल की नियुक्ति करने न कि उनको चुनने के पीछे दो प्रमुख विचार क्या थे ?

मंत्रालयों का संघटनात्मक ढांचा एवं कार्य आबंटन तथा सरकार के विभिन्न विभाग

विषय सूची

मंत्रालय एवं कार्य आबंटन: एक परिचय

- संविधान के अनुच्छेद 77 के खंड (3) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति द्वारा 'भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियमावली' {The Government of India (Allocation of Business) Rules} निर्मित की गई है। इस खंड में प्रावधान है कि राष्ट्रपति भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए और मंत्रियों के मध्य उक्त कार्य के आबंटन के लिए नियम बनएगा। ये नियम निर्धारित करते हैं कि भारत सरकार का कार्य इन नियमों की पहली अनुसूची में विहित मंत्रालयों, विभागों, सचिवालयों और कार्यालयों द्वारा संपादित किया जाएगा।

- इस प्रकार, कार्य आबंटन नियमावली वस्तुतः भारत सरकार के कार्यों को विभागों के मध्य ऐसे कार्यों के कार्यात्मक विभाजन (बंटवारे) को निर्दिष्ट करते हुए भारत सरकार के संरचनात्मक आधार को निर्मित करते हैं। इस प्रकार इन नियमों के अंतर्गत भारत सरकार के विभिन्न विभागों के कार्यकलापों और विषयों की एक विस्तृत सूची बनाई गई है। यह सूची संलग्न एवं अधीनस्थ कार्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों सहित अन्य संगठनों को भी सूचीबद्ध करती है।
- इस विस्तृत सूची का लाभ यह है कि यह अलग-अलग विभागों के कार्य क्षेत्रों का स्पष्टत: विभाजन करती है, जिससे उनके उत्तरदायित्व के संबंध में कोई अस्पष्टता नहीं रहती है। कार्य आबंटन सूची को विभिन्न संशोधनों द्वारा अद्यतित रखा गया है।

1. केन्द्रीय मंत्रालयों की संरचना

केन्द्र सरकार के मंत्रालयों की संरचना त्रि-स्तरीय है:

- **राजनीतिक स्तर:** प्रत्येक विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष एक मंत्री होता है। विभागीय कार्यों में उसकी सहायता हेतु राज्य-मंत्री, उप-मंत्री एवं संसदीय सचिव होते हैं। ये सभी, संसद के सदस्य भी होते हैं। मंत्री के प्रमुख कार्यों में, अपने विभाग से संबंधित नीतियों के निर्माण, क्रियान्वयन तथा निष्पादन पर निगरानी रखना आदि सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त एक मंत्री अपने विभाग द्वारा किए गए समस्त कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है।
- **सचिवालय:** सचिवालय संपूर्ण प्रशासनिक क्रियाकलापों का संचालन एवं नियंत्रण करता है। सचिव, सचिवालय का प्रमुख होता है। इसका प्रमुख कार्य मंत्री को विभाग से संबंधित समस्त क्रियाकलापों तथा नीतियों पर परामर्श देना है। अतः वह मंत्री के प्रमुख परामर्शदाता के रूप में भी कार्य करता है। सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ सदस्य होता है। अधिकारी वर्ग के अंतर्गत सचिव, उप-सचिव तथा अवर सचिव होते हैं। विभाग का आकार बड़ा होने की स्थिति में संयुक्त सचिव अथवा अतिरिक्त सचिव भी होते हैं। अधीनस्थ कर्मचारियों के अंतर्गत अनुभाग अधिकारी, सहायक तथा लिपिक वर्ग के कार्मिक सम्मिलित होते हैं।
- **विभाग अथवा कार्यकारी संगठन:** नीति-निर्माण के संबंध में सचिवालय का कार्य जहां केवल परामर्श देना है वहीं निर्मित नीतियों के कार्यान्वयन का दायित्व विभिन्न संगठनों का होता है। इसे विभाग अथवा मंत्रालय का कार्यकारी संगठन कहा जाता है। विभाग, मंत्रालय का कार्यात्मक तंत्र होता है।

2. विभागों की आतंरिक संरचना

प्रत्येक विभाग आबंटित विषयों के संबंध में सरकार की नीतियों को तैयार करने तथा उन नीतियों के कार्यान्वयन और समीक्षा करने हेतु भी उत्तरदायी है।

- आबंटित कार्यों के कुशल निपटान के लिए, प्रत्येक विभाग को विंग (Wings), प्रभागों (Divisions), शाखाओं (Branches) और अनुभागों (Sections) में बांटा गया है।

- सामान्यतया प्रत्येक विभाग का नेतृत्व भारत सरकार के एक सचिव (Secretary) द्वारा किया जाता है, जोकि उक्त विभाग का प्रशासनिक प्रमुख होता है और विभाग की नीति एवं प्रशासन संबंधी सभी मामलों पर संबंधित मंत्री का मुख्य सलाहकार होता है।
- **विंग:** सामान्यत: प्रत्येक विभाग में कार्यों को विंग में बांटा जाता है और प्रत्येक विंग का प्रभारी विशेष सचिव (Special Secretary) / अपर सचिव (Additional Secretary) / संयुक्त सचिव (Joint Secretary) होता है। इस स्तर के पदाधिकारी को अपने विंग के अधीन आने वाले कार्यों के संबंध में स्वतंत्र कार्यपद्धति और जिम्मेदारी के अधिकतम अवसर प्राप्त होते हैं और विभाग के समग्र प्रशासन के लिए सचिव का संपूर्ण उत्तरदायित्व होता है।
- **प्रभाग:** एक विंग सामान्यतः कई प्रभागों में बंटा होता है और प्रत्येक प्रभाग का प्रभारी अधिकारी, निदेशक (Director) /संयुक्त निदेशक (Joint Director) /उप-सचिव (Deputy Secretary) स्तर का अधिकारी होता है।
- **शाखायें:** एक प्रभाग कई शाखाओं में बंटा हो सकता है और इसका प्रभारी अवर सचिव (Under Secretary) या समकक्ष अधिकारी होता है।
- **अनुभाग:** अनुभाग पूर्णतः स्पष्ट कार्य क्षेत्रों के साथ विभाग की सबसे छोटी संगठनात्मक इकाई होती है। सामान्यतया इसमें एक अनुभाग अधिकारी की देखरेख में कुछ सहायक और क्लर्क कार्य करते हैं। आम तौर पर, विभिन्न मामलों का प्रारंभिक प्रबंधन (नोटिंग और ड्राफ्टिंग सहित) सहायकों और क्लर्कों द्वारा होता है, जिन्हें संबंधित कर्मचारी (dealing hands) कहा जाता है।

2.1. डेस्क अधिकारी प्रणाली (Desk Officer System)

जहाँ उपर्युक्त प्रणाली एक विभाग के संगठन में अपनायी जाने वाली सामान्य प्रणाली है, वहीं इसके कुछ अपवाद भी हैं जिनमें, डेस्क अधिकारी प्रणाली सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इस प्रणाली में एक विभाग के सबसे निचले स्तर पर कार्य का विभाजन विशिष्ट कार्यात्मक डेस्कों में किया जाता है और प्रत्येक डेस्क पर उचित रैंक के दो पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती है, जैसे- अवर सचिव (Under Secretary) या अनुभाग अधिकारी (Section Officer)। प्रत्येक डेस्क पदाधिकारी अपने अधीन आने वाले मामलों को स्वयं निपटाता है और उन्हें पर्याप्त आशुलिपिकीय (stenographic) और लिपिकीय (clerical) सहायता प्रदान की जाती है।

2.2. संबद्ध या अधीनस्थ कार्यालय (Attached or Subordinate Offices)

प्रत्येक विभाग में एक या अधिक संबद्ध या अधीनस्थ कार्यालय हो सकते हैं। इन कार्यालयों की निम्नलिखित भूमिका होती है:

- **संबद्ध कार्यालय** जिस विभाग से संबद्ध होते हैं, वे उससे जुड़ी नीतियों के कार्यान्वयन में अपेक्षित व्यापक कार्यकारी निर्देश देने के लिए उत्तरदायी होते हैं। वे तकनीकी सूचना के संग्रह केंद्र के रूप में भी कार्य करते हैं तथा संबंधित मामलों के तकनीकी पहलुओं के संबंध में विभाग को सलाह भी देते हैं।
- **अधीनस्थ कार्यालय** सामान्यतया फील्ड संस्थाओं (field establishments) अथवा ऐसी एजेंसियों के रूप में कार्य करते हैं जो सरकारी नीतियों को व्यापक रूप में लागू करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। ये संबद्ध कार्यालयों के निर्देशन में कार्य करते हैं अथवा यदि अपेक्षित कार्यकारी निर्देशन पर्याप्त न हो तो ये कार्यालय प्रत्यक्ष रूप से विभाग के अधीन भी कार्य करते हैं।

3. भारत सरकार के प्रमुख मंत्रालय

3.1. संसदीय कार्य मंत्रालय (Ministry of Parliamentary Affairs)

- सरकार की संसदीय प्रणाली में संसद के समय एवं संसाधनों का अधिकांश भाग दैनिक कार्यों पर व्यय होता है। इन संसदीय कार्यों के कुशलतापूर्वक निर्वहन की जिम्मेदारी संसदीय कार्य मंत्रालय

को सौंपी गयी है। संसदीय कार्य मंत्रालय, केंद्र सरकार का एक महत्वपूर्ण मंत्रालय है। यह संसद में सरकारी कार्य के संबंध में सरकार एवं संसद के दोनों सदनों के मध्य एक महत्वपूर्ण समन्वय कड़ी के रूप में कार्य करता है। मई, 1949 में एक विभाग के रूप में इसकी स्थापना की गई थी परन्तु वर्तमान में यह एक पूर्ण मंत्रालय है।

- भारत के संविधान के अनुच्छेद 77(3) के अधीन बनाए गए भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम, 1961 के अधीन इस मंत्रालय को सौंपे गए कार्य निम्नलिखित हैं:
    - यह मंत्रालय, संसदीय कार्य से संबंधित मंत्रिमंडल की समिति को सचिवालय सम्बन्धी सहायता प्रदान करता है जो कि अन्य बातों के साथ-साथ संसद के दोनों सदनों के सत्रावसान तथा गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों और संकल्पों पर सरकार के अभिमत की सिफारिश करता है।
    - यह मंत्रालय सरकार के मंत्रालयों/विभागों से, संसद में लंबित विधेयकों, पुर:स्थापित किए जाने वाले नए विधेयकों और अध्यादेशों के प्रतिस्थापक विधेयकों के संबंध में, निकट सम्पर्क बनाए रखता है।
    - यह मंत्रालय विधेयकों की प्रगति पर निरंतर निगरानी रखता है। यह निगरानी विधेयकों के मंत्रिमंडल द्वारा अनुमोदन की अवस्था से लेकर विधेयक के संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होने तक रखी जाती है। संसद में विधेयकों के पारित होने संबंधी कार्रवाई के सुचारु संचालन को सुनिश्चित करने के लिए इस मंत्रालय के अधिकारी विधेयक प्रस्तुत करने वाले मंत्रालयों/विभागों तथा विधि और न्याय मंत्रालय (जोकि विधेयकों का प्रारूपण तैयार करता है) के अधिकारियों से सतत सम्पर्क बनाए रखते हैं।
    - यह मंत्रालय संसद सदस्यों की परामर्शदात्री समितियाँ गठित करता है तथा सत्रावधि और अन्त:सत्रावधि दोनों ही के दौरान इनकी बैठकें आयोजित करने के लिए व्यवस्था करता है।
    - यह मंत्रालय संसद में मंत्रियों द्वारा दिए गए आश्वासनों के शीघ्र और उपयुक्त कार्यान्वयन के लिए अन्य मंत्रालयों के साथ कार्रवाई करता है।
    - यह मंत्रालय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने तथा विद्यार्थी समुदाय में अनुशासन और सहनशीलता जैसे गुणों को विकसित करने और संसद के कार्य संचालन की पूर्ण जानकारी देने के लिए राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सरकार के विद्यालयों; पूरे देश के केन्द्रीय विद्यालयों; जवाहर नवोदय विद्यालयों और विश्वविद्यालयों/कॉलेजों में युवा संसद प्रतियोगिताओं का आयोजन करता है।

3.2. गृह मंत्रालय (Ministry of Home Affairs)

गृह मंत्रालय (MHA) को अनेक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:

- आंतरिक सुरक्षा,
- अर्ध-सैनिक बलों का प्रबंधन,
- सीमा प्रबंधन,
- केन्द्र-राज्य संबंध,
- संघ शासित प्रदेशों का प्रशासन,
- आपदा प्रबंधन।

हालांकि, भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची के सूची II (राज्य-सूची) की प्रविष्टियों 1 और 2 के तहत, 'लोक व्यवस्था' एवं 'पुलिस' के संबंध में राज्यों का उत्तरदायित्व निर्धारित किया गया है, परन्तु संविधान का अनुच्छेद 355 संघ को यह निर्देश देता है, कि वह बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करे तथा प्रत्येक राज्य की सरकार का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे।

भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम, 1961 के तहत गृह मंत्रालय के निम्नलिखित विभाग हैं: -

- **आंतरिक सुरक्षा विभाग (Department of Internal Security)**: यह विभाग भारतीय पुलिस सेवा, केंद्रीय पुलिस बल, आंतरिक सुरक्षा और कानून-व्यवस्था, उग्रवाद, आतंकवाद, नक्सलवाद, विदेशी एजेंसियों की प्रतिकूल गतिविधियों, पुनर्वास, वीजा देना और अन्य आप्रवासी मामलों, सुरक्षा मंजूरी, आदि से संबंधित कार्यों को संभालता है।
- **राज्य विभाग (Department of States)**: केन्द्र-राज्य संबंध, अंतर्राज्यीय संबंध, संघ शासित प्रदेशों का प्रशासन, स्वतंत्रता सेनानियों की पेंशन, मानवाधिकार, जेल सुधार, पुलिस सुधार, आदि से संबंधित कार्य इसी के अधीन आते हैं।
- **गृह विभाग (Department of Home)**: यह विभाग राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति द्वारा कार्यभार ग्रहण करने की अधिसूचना, प्रधानमंत्री, मंत्री, राज्यपाल की नियुक्ति/पद-त्याग की अधिसूचनाएँ, राज्य सभा और लोकसभा के लिए नाम-निर्देशन,जनगणना, जन्म और मृत्यु का पंजीकरण आदि से संबंधित मामलों की देख-रेख करता है।
- **जम्मू-कश्मीर कार्य विभाग {Department of Jammu and Kashmir (J&K) Affairs}** जम्मू-कश्मीर राज्य की सन्दर्भ में संवैधानिक उपबंधों, विदेश मंत्रालय से संबंधित मामलों को छोड़ कर जम्मू-कश्मीर से संबंधित सभी विषय इस विभाग के अंतर्गत आते हैं।
- **सीमा प्रबंधन विभाग (Department of Border Management)**: तटीय सीमाओं सहित अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं का प्रबंधन, सीमा सुरक्षा को सुदृढ़ करना और संबंधित अवसंरचनाओं का सृजन, सीमा क्षेत्र विकास आदि मामले इसके तहत आते हैं; तथा
- **राजभाषा विभाग (Department of Official Language)**, यह विभाग संविधान के राजभाषा से संबंधित उपबंधों और राजभाषा अधिनियम,1963 के उपबंधों के कार्यान्वयन से संबंधित मामलों को संभालता है।

3.3. रक्षा मंत्रालय (Ministry of Defence)

रक्षा मंत्रालय (सचिवालय) में निम्नलिखित विभाग शामिल हैं:

1. रक्षा विभाग (Department of Defence: DoD),
2. रक्षा उत्पादन विभाग (Department of Defence Production: DDP),
3. पूर्व सेनानी कल्याण विभाग (Department of Ex-Servicemen Welfare: DESW), और
4. रक्षा अनुसंधान एवं विकास विभाग (Department of Defence Research & Development: DDR&D) एवं
5. वित्तीय प्रभाग (Finance Division)।

- उपरोक्त प्रथम 4 विभागों में से प्रत्येक का प्रमुख एक सचिव होता है। रक्षा मंत्रालय के वित्तीय प्रभाग (फाइनेंस डिवीज़न) का प्रमुख सचिव (डिफेंस फाइनेंस) / वित्तीय सलाहकार (रक्षा सेवा) होता है। फाइनेंस डिवीज़न का प्रमुख रक्षा बजट से जुड़े व्ययों के प्रस्तावों पर वित्तीय नियंत्रण रखने, और रक्षा व्यय के लेखांकन (accounting) एवं आंतरिक लेखा परीक्षा के लिए जिम्मेदार होता है।

3.4. वित्त मंत्रालय (Ministry of Finance)

वित्त मंत्रालय में पाँच विभाग शामिल हैं, यथा:

1. आर्थिक कार्य विभाग (Department of Economic Affairs)
2. व्यय विभाग (Department of Expenditure)

3. राजस्व विभाग (Department of Revenue)
4. निवेश और लोक परिसंपत्ति प्रबंधन विभाग; (Department of Investment and Public Asset Management (DIPAM;दीपम)* और
5. वित्तीय सेवा विभाग (Department of Financial Services)

*विनिवेश विभाग की स्थापना 10 दिसम्बर, 1999 को एक अलग विभाग के रूप में की गई थी और बाद में 06 सितम्बर, 2001 को इसे विनिवेश मंत्रालय बना दिया गया था। 27 मई, 2004 से विनिवेश विभाग वित्त मंत्रालय के अधीन एक विभाग था। 14 अप्रैल, 2016 से विनिवेश विभाग का नाम बदलकर **निवेश और लोक परिसंपत्ति प्रबंधन विभाग (दीपम)** कर दिया गया है।

3.5. मानव संसाधन विकास मंत्रालय (Ministry of Human Resource Development)

- भारत में शिक्षा राज्य और केन्द्र दोनों का सम्मिलित दायित्व है। इसके लिए हर राज्य में एक शिक्षा विभाग है और देश के सभी राज्यों के शिक्षा विभागों के समन्वय से शिक्षा नीतियाँ और शिक्षा व्यवस्थाएँ लागू करने के लिए केन्द्र सरकार का मानव संसाधन विकास मंत्रालय है।
- यह मंत्रालय मुख्यत: दो स्तरों पर काम करता है, पहला- स्कूली शिक्षा एवं दूसरा- उच्चतर शिक्षा। इसके माध्यम से यह देश के सामाजिक-आर्थिक ढांचे के संतुलन में एक महत्वपूर्ण और उपचारात्मक भूमिका निभाता है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय दो विभागों के माध्यम से कार्य करता है:
    - स्कूली शिक्षा और साक्षरता विभाग (Department of School Education and Literacy)
    - उच्चतर शिक्षा विभाग (Department of Higher Education)

4. मंत्रिमंडल सचिवालय (Cabinet Secretariat)

- भारतीय संविधान के अंतर्गत मंत्रिमंडल को वास्तविक कार्यपालिका के रूप में स्थापित किया गया है। केंद्र सरकार के समस्त प्रशासन का उत्तरदायित्व मंत्रिमंडल का है। मंत्रिमंडल सचिवालय संघीय मंत्रिमंडल की स्टाफ एजेंसी के रूप में कार्य करता है। इसका राजनीतिक प्रमुख प्रधानमंत्री तथा प्रशासनिक प्रमुख मंत्रिमंडल सचिव होता है। इसे 'भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम, 1961' के अंतर्गत एक विभाग का दर्जा प्रदान किया गया है।
- मंत्रिमंडल सचिवालय के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के सफलता पूर्वक संचालन के लिए सचिव से अवर सचिव स्तर के अनेक अधिकारी कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त प्रधानमंत्री को सलाह देने हेतु विभिन्न विषयों से संबंधित विशिष्ट अधिकारी भी होते हैं। मंत्रिमंडल सचिवालय के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं -
    - मंत्रिमंडल की बैठक की कार्यसूची बनाना एवं इसके लिए आवश्यक सूचना और सामग्री उपलब्ध करना।
    - विभिन्न मंत्रालयों के मध्य समन्वय स्थापित करते हुए और मंत्रालयों के बीच मतभेदों को दूर करते हुए सरकार की निर्णय निर्माण प्रक्रिया में सहायता करना।
    - सचिवालय की स्थाई/तदर्थ समितियों के माध्यम से परस्पर सहमति बनाना।
    - सभी मंत्रालयों/विभागों की गतिविधियों के मासिक सारांश के माध्यम से राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और मंत्रियों को सूचित करना।
    - मंत्रिमंडलीय समितियों को सचिवालय सहायता प्रदान करना।
    - सरकार के कार्यों से संबंधित नियम तैयार करना एवं राष्ट्रपति के अनुमोदन से केंद्र सरकार के मंत्रालयों के कार्यों का बँटवारा करना।

- विभिन्न मंत्रियों की नियुक्ति एवं त्यागपत्र, मंत्रियों को विभागों के बंटवारे, मंत्रालयों के गठन एवं पुनर्गठन से संबंधी विषयों का निपटारा करना।
- मंत्रिमंडलीय सचिवालय को अंतर मंत्रालयी समन्वय को प्रोत्साहन देने के लिए एक उपयोगी तंत्र के रूप में देखा जाता है, क्योंकि मंत्रिमंडलीय सचिव नागरिक सेवाओं के प्रमुख भी होते हैं। विभिन्न विभागों के सचिव मंत्रिमंडलीय सचिव को समय-समय पर विकास संबंधी जानकारी देना आवश्यक समझते हैं। उनके लिए कार्यकरण नियमावली के अनुसार भी मंत्रिमंडल सचिव को नई गतिविधियों के संबंध में जानकारी देना आवश्यक है।

5. मौजूदा संरचना के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्ष (Strengths and Weaknesses of the Existing Structure)

भारत सरकार की मौजूदा संरचना एक लंबी समयावधि में विकसित हुई है। इसमें कुछ निहित शक्तियाँ हैं, जिसने इसे समय की कसौटी पर बनाये रखने में मदद की है। हालांकि, इसमें कमजोरियाँ भी हैं, जिसने व्यवस्था को धीमा, बोझिल और अनुत्तरदायी बनाया है।

5.1. सकारात्मक पक्ष (Strengths)

- **जाँची-परखी पद्धति:** इन संरचनात्मक इकाईयों ने उन नियमों और स्थापित मानदंडों का अनुपालन किया है, जिनसे राष्ट्र निर्माण में तथा एक समावेशी राज्य के निर्माण में सहयोग मिला है। इनसे संकट काल के साथ-साथ सामान्य समय के दौरान भी स्थिरता सुनिश्चित हुई है। इन्होने अधिकार-प्राप्त आयोगों, सांविधिक बोर्डों, स्वायत्त सोसायटियों और संस्थानों के माध्यम से, विशेष रूप से अनुसंधान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी से संबंद्ध क्षेत्रों में, नूतन पद्धतियाँ कायम की हैं।
- **स्थिरता**: स्थायी सिविल सेवकों के रूप में सरकारी स्टाफ़ प्रणाली के कारण एक निर्वाचित सरकार से दूसरी सरकार को शक्ति के हस्तांतरण के दौरान निरंतरता और स्थिरता स्थापित हुई है, जिससे भारतीय लोकतंत्र को परिपक्व बनाने में योगदान मिला है।
- **संविधान के प्रति प्रतिबद्धता - राजनीतिक निष्पक्षता**: सुस्पष्ट रूप से निर्धारित नियमों और प्रक्रियाओं ने सिविल सेवकों की निष्पक्षता कायम रखी है, जिससे सरकारी कार्यक्रमों व सेवाओं के राजनीतिकरण पर अंकुश लगा है। इससे, संविधान में अन्तर्निहित सिद्धांतों के आधार पर संस्थानों का विकास करने में मदद मिली है।
- **नीति निर्माण और इसके कार्यान्वयन में संयोजन**: भारत सरकार के ढाँचे से एक ऐसी स्टाफ पद्धति स्थापित करने में मदद मिली है जिससे नीति निर्माण और कार्यान्वयन के मध्य संयोजन प्रोत्साहित होता है। इससे भारत सरकार और राज्य सरकारों दोनों की प्रणाली को मदद मिली है और सहकारी संघवाद की अवधारणा सुदृढ़ हुई है।
- **राष्ट्रीय दृष्टिकोण**: भारत सरकार और साथ ही संलग्न व अधीनस्थ कार्यालयों में कार्यरत सरकारी सेवकों के मध्य संकीर्ण सीमाओं को पार करके एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है। इससे राष्ट्रीय एकीकरण को मजबूत करने में सहयोग मिला है।

5.2. नकारात्मक पक्ष (Weaknesses)

- **दैनिक कार्यों पर अनुचित जोर:** भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालय प्रायः उन पर लादे गए नेमी कार्यों (routine work) की मात्रा के बहुत अधिक होने के कारण अपने नीति विश्लेषण और नीति निर्माण कार्यों पर विशेष ध्यान केन्द्रित करने में असमर्थ रहते हैं। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय प्राथमिकताओं पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। पुनः इससे केन्द्रीकरण की भी एक प्रणाली

विकसित हुई है। प्रायः राज्य और स्थानीय शासनों द्वारा किये जा सकने अथवा आउटसोर्स किये जा सकने वाले कार्यों को भी संघ सरकार द्वारा अपने पास बनाए रखा गया है।

- **मंत्रालयों/विभागों का अति विस्तार:** कभी-कभी गठबंधन राजनीति की अनिवार्यताओं के कारण सरकार को बड़ी संख्या में मंत्रालयों/विभागों का सृजन करना पड़ जाता है, जिससे कार्यों का तर्कसंगत विभाजन नहीं हो पाता है तथा परस्पर संबद्ध विषयों के प्रति एकीकृत दृष्टिकोण में कमी देखने को मिलती है।
- **अत्यधिक स्तरों के साथ एक विस्तारित पदानुक्रम:** भारत सरकार की एक विस्तारित ऊर्ध्वाधर संरचना है, जिसकी वजह से विभिन्न मुद्दों की बहुत से स्तरों पर जाँच की जाती है, जिससे प्रायः एक ओर निर्णय निर्माण में देरी होती है और तो दूसरी ओर जवाबदेही में कमी आती है।
- **जोखिम से सुरक्षा:** बहुस्तरीय संरचना का एक नकारात्मक परिणाम यह है कि विपरीत प्रत्यायन और निर्णय-निर्माण में जोखिम से बचने की प्रवृत्ति देखी गई है। विद्यमान संरचना निर्णय लेने के स्थान पर केवल एक सलाहकार के रूप में फाइलों को संचालन के माध्यम से परामर्शों पर अधिकाधिक बल देती है। इससे कार्यों में अनावश्यक बहुलता होती है, देरी और अकुशलता पैदा होती है।
- **टीम वर्क का अभाव:** वर्तमान कठोर पदानुक्रम संरचना, एक टीम वर्क की भावना के विकसित होने की स्थिति को क्षीण करती है जो वर्तमान संदर्भ में अत्यावश्यक है। वर्तमान में अंतर-विषयक दृष्टिकोण उभरती चुनौतियों पर प्रभावी ढंग से प्रतिक्रिया करने के लिए जरूरी है।
- **कार्यों का बिखराव:** प्रचालन स्तर पर भी, कार्यों को विभाजित और उपविभाजित करने की एक सामान्य प्रवृत्ति है, जिससे सेवाएँ प्रदान करने में देरी होती है, अकुशलता आती है और समय अधिक लगता है।
- **परिकल्पित स्वायत्तता में कमी**; कुछ समितियों और बोर्डों के मामलों को छोड़कर, उनके गठन के समय परिकल्पित स्वायत्तता में पर्याप्त कमी आई है।

6. सरकार की संरचना में सुधार के लिये अनुशंसाएँ

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग का स्पष्ट मत है, कि भारत सरकार का पुनर्गठन निम्नलिखित कोर सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए तथा इनके अनुसार ही इसके कार्य संचालित होने चाहिए:

- केंद्र सरकार को प्रमुख रूप से निम्नलिखित **कोर क्षेत्रों** पर ध्यान देना चाहिए:
  - रक्षा, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, राष्ट्रीय सुरक्षा, न्याय और कानून का शासन
  - प्रत्येक नागरिक के लिए उत्तम कोटि की शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल की सुलभता के जरिए मानव विकास
  - अवस्थापना तथा संधारणीय प्राकृतिक संसाधन विकास
  - सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय
  - आर्थिक प्रबंधन तथा राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन
  - अन्य क्षेत्रकों के संबंध में राष्ट्रीय नीतियाँ
- कार्यों को राज्य और स्थानीय शासन पर विकेंद्रीकृत करने के लिए **सहायिकता के सिद्धांत** (principle of subsidiarity) का पालन किया जाना चाहिए।

समनुषंगिता/सहायिकता का सिद्धांत (principle of subsidiarity)

- इसकी कल्पना एक ऐसे सिद्धांत के रूप में की गयी कि एक केंद्रीय प्राधिकारी का कार्य सहायक होना चाहिए जो केवल ऐसे कार्यों का निष्पादन करे जिन्हें मात्र स्थानीय स्तर पर निष्पादित नहीं किया जा सकता।
- इसके अंतर्गत सभी कार्य संभव अधिशासन के लघुतम यूनिट पर नागरिकों के निकटतम आयोजित किए जाने चाहिए और इन्हें ऊपरी स्तर पर केवल तभी संपादित किया जाना चाहिए जब स्थानीय यूनिट कार्य निष्पादित करने में असमर्थ हो।

- **परस्पर जुड़े हुए विषयों पर एक साथ विचार किया जाना चाहिए।** सरकार में मंत्रालयों और विभागों की पुनर्संरचना करते समय, कार्यात्मक विशेषज्ञता और एकीकृत दृष्टिकोण अपनाने के साथ-साथ एक सर्वमान्य समन्वय आवश्यक है। इसके अंतर्गत सभी सरकारी कार्यों का एक गहन विश्लेषण करना और उसके बाद मंत्रालय से जुड़े कतिपय प्रमुख वर्गों का सामूहीकरण किया जाना सम्मिलित है।
- **नीति निर्माण कार्य एवं कार्यान्वियन कार्य का पृथक्करण** : मंत्रालयों द्वारा नीति निर्माण कार्यों पर अधिक बल दिए जाने की आवश्यकता है तथा कार्यान्वियन कार्यों का प्रत्यायोजन प्रचालन इकाईयों और स्वतंत्र संगठनों/एजेंसियों को कर दिया जाए। यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि वर्तमान में नीति निर्माण एक विशेषज्ञतापूर्ण कार्य है जिसके लिए व्यापक परिप्रेक्ष्य, कार्यक्षेत्र की वैचारिक समझ और बाह्य परिवेश की उचित समझ आवश्यक है। दूसरी ओर नीतियों के कार्यान्वियन के लिए विषय के गहन ज्ञान और प्रबंधकीय दक्षताओं की आवश्यकता होती है।
- **समन्वित कार्यान्वयन:** नीति निर्माण की तरह कार्यान्वयन के स्तर पर भी बेहतर समन्वय जरुरी है। ऊर्ध्वाधर विभागों के विस्तार से यह एक असंभव कार्य हो जाता है, सिवाय उन मामलों के जहाँ अधिकार प्राप्त आयोगों, सांविधिक निकायों, स्वायत्त सोसाइटी आदि की स्थापना की गई है। महत्वपूर्ण क्षेत्रकों में ऐसे और अधिक अंतर-विषयक निकायों की काफी संभावना है।
- **संरचनाओं को सरल बनाना - स्तरों की संख्या में कमी लाना और उन्हें टीम कार्य के लिए प्रोत्साहित करना:** किसी संगठन की संरचना, सरकारी संगठनों सहित, उन विशिष्ट उद्देश्यों हेतु उपयुक्त बनाने के लिए तैयार की जानी चाहिए, जिसकी प्राप्ति की जानी है। भारत सरकार में पारस्परिक दृष्टिकोण एकसमान ऊर्ध्वाधर पदानुक्रम अपनाने का रहा है (जैसा कि कार्यालय प्रक्रिया नियमावली में निर्धारित है)। टीम-वर्क पर बल देते हुए सरल एवं क्षैतिज संगठनों का निर्माण करने की आवश्यकता है।
- **सुपरिभाषित उत्तरदायित्व:** वर्तमान बहुस्तरीय संगठनात्मक संरचना के कारण अलग-थलग निर्णय निर्माण के साथ गैर निष्पादन की प्रवृति में वृद्धि हुई है। बड़ी संख्या में फाइलों पर परामर्श प्राप्त करने की प्रकृति से प्रसारित उत्तरदायित्व की स्थिति देखने को मिलती है। संगठनात्मक जिम्मेदारियों के स्पष्ट सीमांकन से, एक बेहतर निष्पादन प्रबंधन पद्धति विकसित करने में भी सहायता मिल सकती है।
- **समुचित प्रत्यायोजन (Appropriate delegation):** समुचित प्रत्यायोजन के अभाव से अनावश्यक विलम्ब होता है, कार्यकुशलता में कमी आती है और अधीनस्थ कर्मचारियों के मनोबल में ह्रास होता है।
- **प्रचालन इकाईयों का महत्व:** सरकारी संगठनों की प्रवृत्ति वस्तुतः प्रचालन स्तरों पर अंशों और प्राधिकारों, जनशक्ति और संसाधनों के साथ शीर्ष पर हावी होने की है, जिनका नागरिकों के जीवन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। नागरिकों की जरूरतों के अनुरुप सरकारी स्टाफ ढाँचे का युक्तिकरण अति आवश्यक है।

7. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **मंत्रिमंडल सचिवालय, मंत्रिमंडल के कामकाज में एक रचनात्मक, कार्यात्मक, सूचनात्मक और समन्वयकारी भूमिका निभाता है। विस्तार से बताएं।**

दृष्टिकोण:

उत्तर में केवल कैबिनेट सचिवालय के कार्यों को सूचीबद्ध नहीं करना है,बल्कि कथन में दिये गये मुख्य शब्दों (रचनात्मक, प्रकार्यात्मक आदि) से उनका संबंध स्थापित करना है।

उत्तरः

- केन्द्रीय प्रशासनिक सरंचना में कैबिनेट सचिवालय एक बहुत महत्वपूर्ण संस्था है। वह कैबिनेट को सचिवालयी सहायता, इसकी समितियों व मंत्रियों के तदर्थ समूह को सहायता तथा उनके अभिलेख, निर्णय और कार्यवाहियों के संरक्षण के लिए उत्तरदायी है। प्रधानमंत्री इसके राजनीतिक अध्यक्ष तथा कैबिनेट सचिव इसके प्रशासनिक अध्यक्ष होते हैं।
- कैबिनेट सचिवालय की प्रक्रिया इस अर्थ में रचनात्मक है कि यह कैबिनेट की बैठकों की रूपरेखा बनाता है .इसका प्राथमिक उत्तरदायित्व कैबिनेट में विचार विमर्श के लिए ऐसी सूचनायें व साधन उपलब्ध कराना जो कैबिनेट समितियों, मंत्रिसमूह व समिति के सचिवों के लिए आवश्यक हों।
- कार्य-आवंटन और कार्य-वितरण नियमों के सुनिश्चित अनुपालन द्वारा कैबिनेट सचिवालय मंत्रालयों तथा विभागों के कार्यवाही सुचारू रूप से करवाता है।
- कैबिनेट सचिवालय का एक महत्वपूर्ण कार्य यह सुनिश्चित करना है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और मंत्रियों को मंत्रालयों व विभागों की मुख्य गतिविधियों की सूचना, मासिक संक्षिप्तिकी द्वारा दी जाये। अतः केन्द्रीय सरकार के क्रियान्वयन में इसकी मुख्य भूमिका सूचनात्मक है।
- कैबिनेट सचिवालय अंतर्मन्त्रालयीय समन्वय सुनिश्चित करके सरकार की निर्णयन क्षमता में सहायता करता है। यह विभिन्न मंत्रालयों के बीच मतभेदों का समाधान करने और सहमति विकसित करने में मदद करता है और इसके लिए सचिवों की तदर्थ अथवा स्थायी समितियों की मदद लेता है। अतः यह मुख्य समन्वयकारक की भूमिका का भी निर्वहन करता है।
- कैबिनेट बैठकों की रूपरेखा तैयार करना, कार्य विवरण लेकर, निर्णय को सभी तक पहुँचाना तथा यह देखना कि उचित कार्यवाही की गई कि नहीं यह सुनिश्चित करने के कारण कैबिनेट सचिवालय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

2. **"संविधि पुस्तकों का आवधिक शुद्धीकरण कानूनी व्यवस्था में दबे पाँव घुसने वाले टकरावों और अस्पष्टताओं को रोकने में सहायता करता है।" पुराने कानूनों को निरस्त करने के लिए सरकार द्वारा की गई पहल के प्रकाश में इस कथन की विवेचना कीजिए।**

दृष्टिकोण:

इस प्रश्न का उत्तर तीन अलग-अलग भागों में दिए जाने की आवश्यकता है। सुस्पष्ट और कुशल कानूनी प्रणाली के लाभों के साथ उत्तर आरंभ कीजिए। वर्तमान भारतीय प्रणाली और इसके परिणामों पर प्रकाश डालिए। कानूनों को निरस्त करने के लिए सूचीबद्ध क्षेत्रकों पर विस्तृत चर्चा के साथ विधि आयोग जैसी संस्थाओं द्वारा की गई पहलों की व्याख्या कीजिए। इस संबंध में हाल के सरकारी प्रयासों के साथ उत्तर समाप्त कीजिए।

उत्तर:

कानून का शासन भलीभांति कार्य करने वाली आधुनिक लोकतांत्रिक राजव्यवस्था का परिभाषित सिद्धांत है। सुशासन का सार बाजार, राज्य और समाज की मांगों के अनुसार संविधि पुस्तकों का उन्नयन करना है; कानून के शासन के कार्य करने के लिए, संविधि पुस्तकों को अस्पष्टता, दोहराव और अनावश्यकता से मुक्त होना चाहिए। भारत में बोझिल संविधि पुस्तकों का प्रायः दुरुपयोग किया जाता है और परिणाम हानिकारक कानूनी व्यवस्था के रूप में सामने आता है।

- कानूनी व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने की आवश्यकता को देखते हुए, सरकार ने अप्रचलित कानूनों को निरस्त करने की घोषणा की है। यह देखा गया कि इन कानूनों

को तीन कारणों से निरस्त कर दिया जाना चाहिए- वे अनावश्यक हैं जो अपने उद्देश्य से अधिक समय तक बने रहे हैं, अधिक वर्तमान कानूनों द्वारा अधिक्रमित हो गए हैं, या वृद्धि, विकास, शासन और स्वतंत्रता के लिए बड़ी बाधा खड़ी करते हैं।

- सरकार की घोषणा के बाद, 20वें विधि आयोग ने **कानूनी अधिनियमों का सरलीकरण और सुचारूकरण शीर्षक** वाली परियोजना आरंभ की जिसका उद्देश्य कानूनों, नियमों, विनियमों पर विभिन्न रिपोर्टें तैयार करना है, जिन्हें निरस्त या संशोधित किए जाने की आवश्यकता है।

विधि आयोग ने पाया कि -

- भारत में 300 से अधिक औपनिवेशिक युग के अधिनियम प्रवर्तित हैं। इनमें से कई अनावश्यक हैं, कार्यान्वित नहीं किए जाते हैं, और कभी-कभी इनका दुरुपयोग भी किया जता है। इन अधिनियमों की विषयवस्तु अब स्वतंत्रता के बाद अधिनियमित कानूनों द्वारा शासित होती है, जो समकालीन वास्तविकताओं के काफी अधिक अनुरूप हैं।
- ब्रिटिश युग के कई उदग्रहणों का स्थान अब नए करों ने ले लिया है, इससे प्रायः राजस्व में पर्याप्त वृद्धि के बिना दोहरा कराधान होता है। जैसे कि गंगा टोल अधिनियम, 1867।
- वर्तमान में, केंद्र सरकार द्वारा अधिनियमित 44 श्रम संबंधी कानून हैं जो मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा, कल्याण, व्यावसायिक सुरक्षा और स्वास्थ्य, और औद्योगिक संबंधों से संबंधित हैं । भारत के श्रम कानूनों की स्पष्ट लागत भ्रष्टाचार है, क्योंकि, इनमें से 10% का उल्लंघन किए बिना 100% कानूनों का पालन करना असंभव है।
- राजद्रोह कानून जैसे भाषण और अभिव्यक्ति से संबंधित कानून हैं। ये कानून व्यापक शब्दों वाले पदों में अपराधों को परिभाषित करते हैं, भ्रम और अस्पष्टता कायम रखते हैं, और प्रायः उत्पीड़न के साधन के रूप में उपयोग किए जाते हैं। उन्हें सार्वजनिक प्राधिकारियों की मनमानी व्याख्या के लिए छोड़ दिया गया है और प्रायः दुरुपयोग किए जाते हैं।

सरकार ने 20वें विधि आयोग द्वारा उठाए गए मुद्दों पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देते हुए 36 कानूनों को निरस्त करने के लिए संसद में एक विधेयक प्रस्तुत किया है। सरकार श्रम बाजार और वित्तीय प्रणाली से संबंधित 287 विभिन्न कानूनों को निरस्त करने की योजना बना रही है। हालांकि, सरकार को अपने दृष्टिकोण में सतर्क रहने की आवश्यकता है। इसे कानूनों की पूर्णतया काट-छांट करके नहीं किया जाना चाहिए बल्कि प्रभावी कानूनी ढांचे की आवश्यकता को उचित महत्व देते हुए सही आकार देकर किया जाना चाहिए।

3. सरकार में मंत्रालयों और विभागों का प्रसार न केवल समन्वय और समेकन को कमजोर करता है, बल्कि प्रकार्यों के विखंडन का भी मार्ग प्रशस्त करता है। भारत के संदर्भ में टिप्पणी कीजिए।

दृष्टिकोण:

- भारत में मंत्रालयों और विभागों के प्रसार का कारण और प्रसार के लाभ और हानि के साथ उत्तर आरंभ करें।
- सोदाहरण प्रसार की व्याख्या करें और वक्तव्य के दोनों पहलुओं को संबोधित करें।
- समाधान का सुझाव देते हुए उत्तर समाप्त करें।

उत्तर:

संविधान के कल्याणकारी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मंत्रालयों और सरकारी विभागों का प्रसार होता रहा है। इस के कारण विशेषज्ञता, फ़ोकस और संसाधन चैनलाइजेशन का लाभ

मिलता है, लेकिन साथ ही इसमें समन्वय की कमी और राष्ट्रीय प्राथमिकताओं और समस्याओं के प्रति समन्वित दृष्टिकोण अपनाने की निहित अक्षमता भी है।

उदाहरण के लिए, परिवहन के अलग-अलग पहलुओं से अलग-अलग मंत्रालय संबंधित हैं। नागर विमानन मंत्रालय नागरिक उड्डयन से संबंधित है; जबकि रेल मंत्रालय रेल परिवहन से संबंधित है; जहाजरानी मंत्रालय समुद्री नौवहन से संबंधित ; सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय राजमार्ग और मोटर वाहनों से संबंधित है और शहरी विकास मंत्रालय शहरी परिवहन व्यवस्था से संबंधित है। इस प्रकार, यह कई विभागों में खंडित हो गया है जो इस महत्वपूर्ण क्षेत्र के प्रति आवश्यक समन्वित राष्ट्रीय दृष्टिकोण कठिन बनाता है। उदाहरण के लिए, परिवहन के विभिन्न मोड्स के लिए एकीकृत यात्रा कार्ड लाने प्रस्तावित योजना अभी भी प्रारंभिक अवस्था में है।

इसी प्रकार से 'सब के लिए आवास' जैसी पहलों के लिए अक्सर रक्षा, पर्यावरण तथा वन एवं जलवायु परिवर्तन, नागरिक उड्डयन आदि मंत्रालयों से मंजूरी की आवश्यकता होती है। शहरी क्षेत्रों में निर्माण परियोजनाओं के लिए मंजूरी की प्रकिया को सरलीकृत किया जा रहा है ताकि परियोजनाओं के लिए समयबद्ध और परेशानी से रहित मंजूरी को संभव बनाया जा सके।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि कार्यात्मक विशेषज्ञता की आवश्यकताओं और समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता के बीच संतुलन कायम करने की आवश्यकता है। समन्वित दृष्टिकोण विकसित करने के लिए, सरकार के प्रकार्यों को समूहों की उचित संख्या में वर्गीकृत करना वांछनीय होगा। भारत में संसद की विभागीय स्थायी समितियाँ आपस में जुड़ी विषय समग्रियों के एकीकरण का अच्छा उदाहरण हैं। हानि उठाने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का निजीकरण और विनिवेश भी उदारीकरण पश्चात अवधि में मंत्रालयों और विभागों की संख्या सीमित करने में उपयोगी है। इससे तत्कालीन सरकार के लिए मंत्रालयों और विभागों का युक्तिकरण करना और केवल उन मंत्रालयों और विभागों को बनाए रखना संभव होगा जिनकी शासन के मूलभूत प्रकार्यों के लिए प्रत्यक्ष प्रासंगिकता हो। लेकिन मंत्रिपरिषद का आकार भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के लिए प्रतिनिधित्व दर्शाने वाले लोकतंत्र की आवश्यकताओं को प्रतिबिंबित करता है। इसके साथ ही बहुदलीय लोकतंत्र में मंत्रिपरिषद के आकार में कटौती की आशा करना यथार्थ-संगत नहीं होगा।

इसके बजाय, अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण यह होगा कि मंत्रिपरिषद का वर्तमान आकार बनाए रखते हुए प्रत्येक 20-25 निकट संबंधित विभागों की अध्यक्षता करने के लिए एक वरिष्ठ कैबिनेट मंत्री का प्रावधान करके समन्वय के स्तर में वृद्धि किया जाए। अलग-अलग विभागों की अध्यक्षता राज्य मंत्री द्वारा की जा सकती है। इस व्यवस्था के कार्य करने के लिए, पर्याप्त प्रत्यायोजन और संबंधित मंत्रियों के बीच कार्यों का विभाजन आवश्यक होगा। कैबिनेट सचिव के पद का अधिक से अधिक कुशलता के साथ उपयोग किया जाना चाहिए। सचिवों की समिति अंतर-मंत्रालयी समन्वय लाने के लिए पर्याप्त गुंजाइश प्रदान करने वाला अच्छां मंच है।

इससे प्रसार किए बिना एक बड़े और विविधतापूर्ण देश में संवर्धित समन्वय और पर्याप्त मंत्रालय प्रतिनिधित्व का मार्ग प्रशस्त होगा। गठबंधन राजनीति का युग, जिसने कभी सहयोगी दलों को प्रसन्न करने के लिए मंत्रालयी प्रसार को आवश्यक बनाया था, अब बहुत कुछ हद तक कमजोर हुआ है अत: कम-से-कम वर्तमान में कुछ समय के लिए सरकार इस बोझ से मुक्त है, इस प्रकार यह सुधार आरंभ करने के लिए यह उपयुक्त समय है।

केंद्रीय विधानमंडल

विषय सूची

केंद्रीय विधायिका

संसद केंद्र सरकार का विधायी अंग है। संसदीय प्रणाली (जिसे सरकार का 'वेस्टमिंस्टर मॉडल' भी कहते हैं) अपनाने के कारण भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में संसद एक विशिष्ट व केंद्रीय स्थान रखती है। संविधान के भाग 5 में संसद के गठन, संरचना, अवधि, अधिकारियों, प्रक्रिया, विशेषाधिकार व शक्ति आदि के बारे में विस्तृत वर्णन किया गया है।

1. संसद का गठन

भारत की संसद के तीन अंग हैं:

- भारत के राष्ट्रपति
- उच्च सदन या काउंसिल ऑफ़ स्टेट्स या राज्यसभा (द्वितीय सदन)
- निम्न सदन या हाउस ऑफ़ द पीपल या लोकसभा (प्रथम सदन या लोकप्रिय सदन)

नोट: हाउस ऑफ़ द पीपल और काउंसिल ऑफ़ स्टेट के लिए हिंदी नामों क्रमशः लोकसभा और राज्यसभा को अपनाया गया है।

1.1. राष्ट्रपति: संसद के एक अंग के रूप में

- भारतीय संविधान में अमेरिकी प्रणाली के स्थान पर ब्रिटिश प्रणाली को अपनाया गया है। ब्रिटिश संसद, हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स (उच्च सदन), हाउस ऑफ़ कॉमन्स (निम्न सदन) और क्राउन (राजा या रानी) से मिलकर बनी है। ब्रिटिश क्राउन के समान भारत का राष्ट्रपति भी दोनों में से किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता है। हालाँकि, वह संसद का अभिन्न अंग होता है और निम्नलिखित कार्य संपन्न करता है:
    - दोनों सदनों से पारित कोई भी विधेयक बिना राष्ट्रपति की सहमति के क़ानून नहीं बन सकता है।
    - वह दोनों सदनों के सत्र को आहूत या सत्रावसान करता है।
    - समय-समय पर वह दोनों सदनों को संबोधित करता है।
    - अध्यादेश जारी करता है, आदि।
- सरकार की संसदीय पद्धति में विधायी व कार्यकारी अंगों में परस्पर निर्भरता पर जोर दिया जाता है। वहीं दूसरी ओर अमेरिका में राष्ट्रपति प्रणाली को अपनाया गया है, जहाँ विधायी और कार्यकारी अंगों के विभाजन पर जोर दिया गया है।

1.2. राज्यसभा

- किसी भी संघीय शासन में संघीय विधायिका के उच्च सदन को संवैधानिक बाध्यता के चलते राज्य हितों की संघीय स्तर पर रक्षा करने के लिए बनाया जाता है। इसी सिद्धांत के चलते राज्य सभा का गठन हुआ है। भारत में द्वितीय सदन का प्रारम्भ वर्ष 1918 के मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन से हुआ।
- **संरचना:** राज्यसभा में अधिकतम 250 सदस्य होते हैं जिनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। शेष (238 सदस्य) राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों से परोक्ष निर्वाचन के माध्यम से चुने जाते हैं। निर्वाचित सदस्य विभिन्न राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों से, उन राज्यों की जनसंख्या के अनुपात में चुने जाते हैं। प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधित्व हेतु कम से कम एक सदस्य अवश्य निर्वाचित होता है। वर्तमान में, राज्यसभा में राष्ट्रपति द्वारा नामांकित 12 सदस्यों सहित कुल 245 सदस्य हैं जिसमें से राज्यों से 229 तथा संघ शासित क्षेत्रों से 4 सदस्य शामिल हैं।
- **सदस्यों का मनोनयन:** राष्ट्रपति, राज्यसभा में 12 ऐसे सदस्यों को मनोनीत करता है, जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा विषयों के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो। ऐसे सदस्यों को मनोनीत करने का उद्देश्य है कि प्रख्यात व्यक्ति चुनावी प्रक्रिया का सामना किए बिना राज्यसभा की सदस्यता प्राप्त कर सकें।

- **राज्यों का प्रतिनिधित्व :** संविधान के अनुसार विभिन्न राज्यों और संघ शासित क्षेत्रों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात के आधार पर 238 स्थानों का प्रावधान किया गया है। राज्यों के प्रतिनिधि राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा चुने जाते हैं।
- **संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व:** संसद द्वारा निर्धारित रीति से संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को चुना जाता है। इसके तहत संघ राज्य क्षेत्र का प्रत्येक प्रतिनिधि एक निर्वाचक मंडल द्वारा चुना जाता है। यह चुनाव भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होता है। सात संघ शासित प्रदेशों में से सिर्फ दिल्ली और पुदुचेरी को ही राज्यसभा में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। अन्य पांच संघ शासित प्रदेशों की जनसंख्या काफी कम होने के कारण उन्हें प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। (नोट: हाल ही में जम्मू एवं कश्मीर तथा लद्दाख को संघ शासित प्रदेश घोषित किया गया है।)
- इस प्रकार राज्यसभा संघ की इकाई के रूप में देश के संघीय चरित्र को दर्शाती है। राज्यसभा के लिए सीटों का वितरण संविधान की चौथी अनुसूची में वर्णित है। हालाँकि, यह अमेरिका के द्वितीय सदन में अपनाये गये राज्यों की समानता के सिद्धांत के अनुरूप नहीं है। जहाँ नागालैंड के लिए 1 सीट है वहीं उत्तर प्रदेश को 31 सीटें दी गयी हैं। अमेरिका में, सीनेट में प्रत्येक राज्य के दो प्रतिनिधि होते हैं चाहे उनका क्षेत्रफल या जनसंख्या कुछ भी हो। अमेरिका की सीनेट के 100 सदस्य हैं। ऑस्ट्रेलिया में सीनेट के 60 सदस्य हैं, वहाँ प्रत्येक राज्य से 10 सदस्य चुने जाते हैं। "केंद्र-राज्य संबंधों पर पूंछी आयोग" सहित विभिन्न समितियों/आयोगों ने अमेरिकी सीनेट के समान सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व देने की सिफारिश की है।
- **अवधि:** राज्य सभा एक स्थायी सदन है और भारत के संविधान के अनुच्छेद 83(1) के अनुसार राज्य सभा का विघटन नहीं होगा। परन्तु उसके सदस्यों में से यथा संभव निकटतम एक-तिहाई सदस्य, प्रत्येक द्वितीय वर्ष सेवानिवृत्त हो जाएंगे और उन्हें प्रतिस्थापित करने के लिए उतने ही सदस्य निर्वाचित किए जाएंगे।

राज्य	**सीटों की संख्या**
आंध्र प्रदेश	11
अरुणाचल प्रदेश	1
असम	7
बिहार	16
छत्तीसगढ़	5
गोवा	1
गुजरात	11
हरियाणा	5
हिमाचल प्रदेश	3
जम्मू और कश्मीर	4
झारखंड	6

कर्नाटक	12
केरल	9
मध्य प्रदेश	11
महाराष्ट्र	19
मणिपुर	1
मेघालय	1
मिजोरम	1
नागालैंड	1
राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली	3
ओडिशा	10
पुदुचेरी	1
पंजाब	7
राजस्थान	10
सिक्किम	1
तमिलनाडु	18
तेलंगाना	7
त्रिपुरा	1
उत्तराखंड	3
उत्तर प्रदेश	31
पश्चिम बंगाल	16

तालिका: 1 राज्य सभा का संघटन

1.3. लोकसभा

- लोकसभा भारतीय संसद का निम्न सदन तथा लोकप्रिय सदन है। संविधान के अनुच्छेद 81 में इसकी संरचना का वर्णन है। इसके सदस्यों का निर्वाचन सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।

- **संरचना:** संविधान द्वारा लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 552 तय की गयी है। इसमें राज्यों से अधिकतम 530 प्रतिनिधि तथा संघ शासित क्षेत्रों से अधिकतम 20 प्रतिनिधि हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त आंग्ल-भारतीय समुदाय से 2 सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जा सकता है, यदि इस समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व लोकसभा में न हो।
- **राज्यों का प्रतिनिधित्व :** राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन जनता द्वारा प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप से सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार के सिद्धांत के आधार पर होता है। 18 वर्ष से अधिक आयु का प्रत्येक भारतीय नागरिक, जो किसी अन्य कारण से अयोग्य घोषित ना हो, इस तरह के चुनाव में मतदान करने योग्य है।
- **संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व:** संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन संसद द्वारा निर्मित विधि के आधार पर निर्धारित होता है। तदनुसार, संसद ने संघ राज्य क्षेत्र (लोकसभा के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन) अधिनियम, 1965 पारित किया है जिसके तहत प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा इन सदस्यों का चयन होता है।
- **मनोनीत सदस्य:** राष्ट्रपति आंग्ल-भारतीय समुदाय से 2 सदस्यों को मनोनीत कर सकते हैं; यदि उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि इस समुदाय का लोकसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है।

2. निर्वाचन व्यवस्था

2.1. लोकसभा

प्रादेशिक निर्वाचन : लोकसभा के प्रत्यक्ष चुनाव के उद्देश्य से भारत के राज्यक्षेत्र को उपयुक्त प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाना चाहिए। संविधान में दो मामलों में प्रतिनिधित्व की एकरूपता प्रदान की गयी है:

- **विभिन्न राज्यों के बीच:** प्रत्येक राज्य के लिए लोकसभा के सीटों का आवंटन ऐसी रीति से किया जाएगा कि सीटों की संख्या से उस राज्य की जनसंख्या के बीच का अनुपात यथासंभव एक समान हो। (यह प्रावधान 60 लाख से कम जनसंख्या वाले राज्यों पर लागू नहीं होगा)।
- **एक ही राज्य में विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के बीच:** प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में ऐसी रीति से विभाजित किया जाएगा कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या का उसको आवंटित स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त राज्य में यथासंभव एक समान हो।

प्रत्येक जनगणना के पश्चात् पुनः समायोजन: प्रत्येक जनगणना के पश्चात्, लोकसभा में प्रत्येक राज्य की सीटों को पुनःआबंटित तथा राज्य के प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र को पुनः समायोजित किया जाएगा। इसके संबंध में प्राधिकारी की नियुक्ति और नियम बनाने की शक्ति संसद को प्रदान की गयी है।

संविधान के अनु. 82 के तहत, संसद प्रत्येक जनगणना के पश्चात् एक परिसीमन अधिनियम अधिनियमित कर सकती है। अधिनियम के अस्तित्व में आने के बाद, केंद्र सरकार एक परिसीमन आयोग का गठन करती है। यह परिसीमन आयोग, परिसीमन अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों का निर्धारण करता है।

- 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा वर्ष 1971 की जनगणना के आधार पर प्रत्येक राज्य के लिए आवंटित स्थानों की संख्या को 2000 ई. तक के लिए निश्चित कर दिया गया था। इसे 84वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2001 द्वारा वर्ष 2026 तक के लिए बढ़ा दिया गया है।
- इसके अलावा लोकसभा में प्रत्येक राज्य को आवंटित स्थानों की संख्या को बिना परिवर्तित किये प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के युक्तिकरण का अधिकार भी दिया गया है।
- 87वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 के अनुसार वर्ष 2001 की जनगणना के आधार पर प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों को युक्तियुक्त बनाने की अनुमति प्रदान की गयी है।

परिसीमन आयोग के आदेश **बाध्यकारी** प्रकृति के होते हैं तथा इसे किसी भी न्यायालय के समक्ष प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। भारत के राष्ट्रपति द्वारा यह आदेश एक निश्चित तिथि से निर्दिष्ट किया जाता है। इसके आदेश की प्रतियाँ लोकसभा और संबंधित विधानसभा में प्रस्तुत की जाती हैं, लेकिन इसमें

किसी भी तरह के परिवर्तन की संभावना नहीं होती है। अब तक परिसीमन आयोग को 4 बार वर्ष 1952, 1963, 1973 और 2002 में गठित किया गया है।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण: प्रत्येक राज्य में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इस प्रकार, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए उस राज्य में आरक्षित सीटों की संख्या उनके जनसंख्या के अनुपात में रखी गयी है। वर्तमान में लोकसभा में अनुसूचित जातियों के लिए 84 और अनुसूचित जनजातियों के लिए 47 सीटों को आरक्षित किया गया है।

2.2. राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन

- राज्यों के प्रतिनिधि राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा चुने जाते हैं। यह पद्धति छोटे दलों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए अपनायी गयी है। राज्यसभा चुनाव के लिए खुले मतदान का प्रयोग किया जाता है। इस सन्दर्भ में राज्य का निवासी होना अनिवार्य नहीं है।
- उच्चतम न्यायालय के अनुसार, अमेरिकी सीनेट के समान राज्यसभा एक संघीय सदन नहीं है। इसके सदस्य राज्य सिद्धांत के बजाय पार्टी सिद्धांत के आधार पर मतदान करते हैं।

लोकसभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली नहीं अपनाने के कारण

- देश में कम साक्षरता दर होने के कारण इस प्रणाली को समझने में मतदाताओं को होने वाली समस्या (इसकी गूढ़ प्रकृति के कारण) के कारण इसे नहीं अपनाया गया।
- सरकार की संसदीय प्रणाली में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि यह विधायिका को कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देती है। इसी तरह से इसके द्वारा संसद भी कई छोटे समूहों में बंट जायेगी, जिससे सरकार के अस्थायी होने की संभावना बढ़ जाएगी।

3. कार्य संचालन

3.1. दोनों सदनों की अवधि

- राज्यसभा एक स्थायी सदन है और इसका विघटन नहीं होता है। इसके एक तिहाई सदस्य संसद द्वारा बनाए गए प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं। संसद ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष निश्चित किया है। सदस्यों की सेवानिवृत्ति का आदेश राज्यसभा आदेश, 1952 के माध्यम से राष्ट्रपति द्वारा दिया जाता है। पहले बैच के सदस्यों के सेवानिवृत्ति का निर्धारण लॉटरी के माध्यम से किया गया था।
- लोकसभा का सामान्य कार्यकाल 5 वर्ष है, लेकिन राष्ट्रपति पहले भी इसका विघटन कर सकते हैं। इसके अलावा लोकसभा के सामान्य कार्यकाल को आपातकाल के दौरान संसद द्वारा बनायी गयी विधि के तहत एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है। हालाँकि, आपातकाल की घोषणा की समाप्ति के बाद इस विस्तार को छह महीने की अवधि के बाद जारी नहीं रखा जा सकता है।

3.2. संसद के सत्र

- **आहूत करना:** संसद के प्रत्येक सदन को राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर आहूत किया जाता है। लेकिन संसद के दोनों सत्रों के बीच अधिकतम अंतराल 6 माह से ज्यादा नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, दो अधिवेशनों (दोनों सत्रों) का अंतराल 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिए। सामान्यतः वर्ष में तीन सत्र होते हैं:
    - **बजट सत्र** (फरवरी से मई तक),

- **मानसून सत्र** (जुलाई से सितम्बर तक) और
- **शीतकालीन सत्र** (नवम्बर से दिसम्बर तक)

संसद के एक सत्र की अवधि सदन की पहली बैठक से सत्रावसान तक होती है। सत्र के दौरान सदन प्रत्येक दिन अपना कार्य करता है। सदन के सत्रावसान और दूसरे सत्र के प्रारम्भ होने की मध्यावधि को **'अवकाश'** कहते हैं। सदन के सत्र को विघटन या सत्रावसान के माध्यम से समाप्त किया जा सकता है।

- **स्थगन:** सत्र के दौरान कई बैठकें होती हैं। प्रत्येक बैठक के दो हिस्से होते हैं: सुबह की बैठक (11 बजे से 1 बजे तक) और दोपहर के भोजन के बाद बैठक (2 बजे से 6 बजे तक)। स्थगन के द्वारा सदन को एक निश्चित समय के लिए - कुछ घंटे, कुछ दिन या कुछ सप्ताह के लिए निलंबित किया जा सकता है।
- **अनिश्चित काल के लिए स्थगन (Adjournment Sine Die)** का तात्पर्य है कि अनिश्चित अवधि के लिए सदन को स्थगित कर दिया जाना। अनिश्चित काल के लिए सदन को स्थगित करने का अधिकार सदन के पीठासीन अधिकारी के पास होता है।
- **सत्रावसान:** सत्रावसान (राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है) द्वारा सदन के सत्र को समाप्त कर दिया जाता है। यद्यपि, इंग्लैंड में सत्रावसान की तारीख से सभी लंबित कार्य समाप्त हो जाते हैं, परंतु भारत में, अनु. 107(3) के तहत सभी लंबित विधेयक स्वतः समाप्त होने से बच जाते हैं। परंतु सत्रावसान के प्रभाव से सभी लंबित नोटिसों, प्रस्तावों और संकल्पों की समाप्ति हो जाती है।
- **लेम-डक सत्र:** यह नई लोकसभा के चुनाव के उपरांत निवर्तमान लोकसभा के अंतिम सत्र को दर्शाता है। लोकसभा के निवर्तमान सदस्य जो नई लोकसभा में निर्वाचित होकर नहीं आ पाते हैं, उन्हें लेम-डक के नाम से जाना जाता है।
- **विघटन:** जैसा कि पहले बताया गया है, केवल लोकसभा का ही विघटन होता है। लोकसभा का विघटन वस्तुतः लोकसभा के जीवनकाल की समाप्ति है। लोकसभा का विघटन दो विधियों से हो सकता है:
  - प्रत्येक 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति पर या आपातकाल के दौरान बढ़ाई गयी अवधि की समाप्ति पर स्वतः विघटन।
  - राष्ट्रपति के द्वारा अनु. 85 (2) के तहत शक्ति का प्रयोग करने पर।

अपनी शक्तियों के प्रयोग के तहत राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद् की सलाह पर विघटन और सत्रावसान किया जाता है। जबकि, लोकसभा और राज्यसभा की दैनिक बैठकों को स्थगित करने का अधिकार क्रमशः अध्यक्ष और सभापति को प्राप्त है।

लोकसभा के विघटन से इस सदन के समक्ष उपस्थित सभी मामले (विधेयक, प्रस्ताव, संकल्प, नोटिस, याचिकाएँ आदि) समाप्त हो जाते हैं। इन मामलों को फिर से लाने के लिए नई गठित लोकसभा में पुनः प्रस्तुत करना होता है। हालाँकि, कुछ लम्बित विधेयकों और सभी लम्बित आश्वासनों की सरकार द्वारा बनायी गयी एक समिति के माध्यम से जांच कर उन्हें समाप्त नहीं होने दिया जाता है। विधेयकों की समाप्ति (व्यपगत) के संबंध में स्थिति कुछ इस प्रकार है:

- लोकसभा में लंबित कोई विधेयक (लोकसभा में आरंभ या राज्यसभा से प्रेषित) समाप्त हो जाता है।
- लोकसभा द्वारा पारित और राज्यसभा में विचाराधीन विधेयक समाप्त हो जाता है।
- कोई विधेयक दोनों सदनों की असहमति के कारण यदि पारित नहीं हो पाया हो और यदि राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा के विघटन से पूर्व संयुक्त बैठक की अधिसूचना जारी नहीं की गयी हो तो वह समाप्त हो जाता है।
- राज्यसभा में लंबित कोई ऐसा विधेयक जो लोकसभा द्वारा पारित न हो, समाप्त नहीं होता है।
- दोनों सदनों से पारित कोई विधेयक राष्ट्रपति के पास विचाराधीन हो, तो समाप्त नहीं होता है।
- ऐसा विधेयक जो दोनों सदनों से पारित हो लेकिन राष्ट्रपति द्वारा पुनर्विचार के लिए लौटा दिया गया हो, समाप्त नहीं होता है।

3.3. गणपूर्ति या कोरम

यह सदस्यों की वह न्यूनतम संख्या है जिनकी उपस्थिति के बाद ही सदन का कार्य संपादित होता है। यह कुल सदस्यों (पीठासीन अधिकारी सहित) का दसवां हिस्सा होता है। तात्पर्य यह है कि किसी कार्य को संपादित करने के लिए लोकसभा में कम से कम 55 और राज्यसभा में कम से कम 25 सदस्य अवश्य उपस्थित होने चाहिए।

4. संसद की सदस्यता

4.1. अर्हताएं

किसी भी व्यक्ति को संसद सदस्य चुने जाने के लिए, उसे:

(a) भारत का नागरिक होना चाहिए;

(b) राज्यसभा के लिए न्यूनतम आयु 30 वर्ष और लोकसभा के लिए न्यूनतम आयु 25 वर्ष होनी चाहिए;

(c) संविधान की तीसरी अनुसूची के तहत निर्वाचन आयोग द्वारा निर्धारित किसी प्राधिकारी के सामने शपथ या प्रतिज्ञान लेना चाहिए।

संसद विधि द्वारा कुछ अन्य अतिरिक्त योग्यताओं का निर्धारण कर सकती है (अनु. 84)। फलस्वरूप, जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के तहत संसद ने निम्नलिखित अतिरिक्त योग्यताओं का निर्धारण किया है:

a. उसे किसी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक निर्वाचक के रूप में पंजीकृत होना चाहिए।
b. उसे किसी राज्य या संघ शासित प्रदेश में अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य होना चाहिए, यदि वह उनके लिए आरक्षित सीट से चुनाव लड़ना चाहता है।

राज्यसभा की सदस्यता हेतु किसी व्यक्ति को उस राज्य विशेष का निवासी होना आवश्यक नहीं है।

4.2. निरर्हताएं

संविधान के अनु. 102 के तहत कोई व्यक्ति संसद सदस्य नहीं बन सकता यदि:

- वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर, जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना संसद ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है।
- वह विकृत चित्त हो और सक्षम न्यायालय द्वारा ऐसी घोषणा की गयी हो।
- वह घोषित दिवालिया हो।
- वह भारत का नागरिक न हो, या उसने स्वेच्छापूर्वक किसी विदेशी राष्ट्र की नागरिकता अर्जित कर ली हो, या वह किसी विदेशी राष्ट्र के प्रति निष्ठा स्वीकार करता हो;
- वह संसद द्वारा बनाई किसी विधि द्वारा अयोग्य घोषित किया गया हो।

संसद ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के तहत निम्नलिखित निरर्हताएं निर्धारित की हैं:

- वह चुनावी अपराध या चुनाव में भ्रष्ट आचरण के तहत दोषी करार न दिया गया हो।
- उसे किसी अपराध में दो वर्ष या उससे अधिक की सजा न हुई हो। परन्तु, प्रतिबंधात्मक निषेध विधि के अंतर्गत किसी व्यक्ति का बंदीकरण निरर्हता नहीं है।
- वह निर्धारित समय के अंदर चुनावी खर्च का ब्यौरा देने में असफल न रहा हो।
- वह ऐसे निगम में लाभ के पद या निदेशक या प्रबंध निदेशक के पद पर न हो, जिसमें सरकार का 25 प्रतिशत हिस्सा हो।
- उसे भ्रष्टाचार या निष्ठाहीन होने के कारण सरकारी सेवाओं से बर्खास्त न किया गया हो।

- उसे विभिन्न समूहों में शत्रुता बढ़ाने या रिश्वतखोरी के लिए दंडित न किया गया हो।
- उसे छूआछूत, दहेज व सती प्रथा जैसे सामाजिक अपराधों का प्रसार और इनमें संलिप्त न पाया गया हो।

किसी सदस्य में उपरोक्त निरर्हताओं संबंधी प्रश्न पर राष्ट्रपति का फैसला अंतिम होगा, यद्यपि राष्ट्रपति को निर्वाचन आयोग से राय लेकर उसी के तहत कार्य करना चाहिए।

- अनु. 102 (1) के तहत, कोई व्यक्ति, संसद के किसी भी सदन के सदस्य होने या चुने जाने के लिए अयोग्य घोषित कर दिया जाएगा यदि वह संसद द्वारा बनाए गए किसी क़ानून के तहत अयोग्य घोषित कर दिया जाता है।
- अनु. 191 के तहत ऐसा ही प्रावधान राज्य विधानपरिषद/विधानसभा के लिए भी किया गया है।
- हालाँकि, न्यायालय ने यह स्पष्ट किया है कि कोई व्यक्ति चाहे वह सदस्य हो या गैर-सदस्य तब तक अयोग्य नहीं हो सकता जब तक उसे सजा ना मिली हो।

दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हता

- संविधान यह उल्लेख करता है कि 10वीं अनुसूची के प्रावधानों के तहत दल परिवर्तन के आधार पर किसी भी व्यक्ति को संसद की सदस्यता से निरर्ह (अयोग्य) घोषित किया जाएगा। किसी सदस्य को 10वीं अनुसूची के तहत निम्नलिखित कारणों से अयोग्य घोषित किया जाता है:
  - यदि वह स्वेच्छा से उस राजनीतिक दल की सदस्यता को छोड़ देता है जिसके टिकट पर उसने संसद सदस्यता प्राप्त की है।
  - यदि वह राजनीतिक दल के निर्देशों के विपरीत मत देता है या मतदान में अनुपस्थित रहता है।
  - यदि कोई व्यक्ति किसी राजनीतिक दल से निष्कासित कर दिया जाता है और पीठासीन अधिकारी इसकी पुष्टि करते हुए उसे निरर्ह घोषित करता है।
  - यदि कोई निर्दलीय सदस्य, किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करता है।
  - यदि किसी सदन का मनोनीत सदस्य, स्थान ग्रहण करने के छह माह के पश्चात् किसी राजनीतिक दल की सदस्यता धारण करे।

लोक सभा ने दल परिवर्तन से संबंधित मुद्दों पर विचार करने के लिए एक समिति गठित की थी। किंतु उसके प्रतिवेदन को भुला दिया गया। वर्ष 1984 में जब कांग्रेस को अभूतपूर्व विजय प्राप्त हुई तब राजीव गांधी ने विपक्ष से परामर्श करके दल परिवर्तन की समस्या को रोकने के लिए विधि बनाने पर विचार किया। इसके परिणामस्वरूप् वह विधेयक आया जो पारित होकर संविधान 52वां संशोधन अधिनियम बना। इस अधिनियम द्वारा अनु. 101, 102 और 191 में परिवर्तन किए गए और 10वीं अनुसूची जोड़ी गई। ये संशोधन 1 मार्च 1985 से लागू हुए।

अपवाद (दल बदल विरोधी क़ानून के तहत)

- यदि एक राजनीतिक दल का किसी अन्य दल में विलय हो जाता है और कोई सदस्य नए राजनीतिक दल का सदस्य बन जाता है या कोई सदस्य विलय को स्वीकार नहीं करके पृथक् गुट के रूप में कार्य करने का विनिश्चय करता है, तो इन दोनों दशाओं में निरर्हता लागू नहीं होगी। हालांकि विलय के लिए विधान-दल के **दो तिहाई** सदस्यों की सहमति आवश्यक है।
- दल परिवर्तन की विधि लोक सभा या विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को या राज्य सभा के उपसभापति को या विधान परिषद् के सभापति या उप सभापति पर लागू नहीं होगी, यदि वह उस पद पर निर्वाचित होने के पश्चात् अपने राजनीतिक दल की सदस्यता छोड़ देता है और पद पर न रह जाने के पश्चात् अपने राजनीतिक दल में पुनः लौट आता है।

हालांकि विभाजन अपवाद नहीं है:

- संविधान के 52वें संशोधन अधिनियम के अंतर्गत यह उपबंध किया गया था कि यदि कोई व्यक्ति अपने मूल राजनीतिक दल को, अन्य सदस्यों के साथ छोड़ देता है और ऐसे सदस्यों की संख्या उस विधायी दल की संख्या के एक तिहाई से कम नहीं है तब यह माना जाएगा कि मूल राजनीतिक

दल का विभाजन हो गया है। ऐसा विभाजन वैध माना जाएगा। विभाजन करके दल से जो समूह बाहर आएगा उसके सदस्य निरर्हित नहीं होंगे।

- इस प्रकार यह विधि थोक में दल पविर्तन की अनुमति देती थी किंतु, फुटकर दलबदल पर रोक लगाती थी। कुछ छोटे राज्यों में जहां सदस्यों की संख्या कम थी वहां विभाजन को अपवाद मानने के कारण एक बाजार बन गया जहां सदस्यों की निष्ठा पद या नकदी के बदले क्रय की जाने लगी।
- निर्वाचन सुधार समिति ने वर्ष 1990 में दिए गए अपने प्रतिवेदन में, भारत के विधि आयोग ने अपने 170वें प्रतिवेदन में (वर्ष 1999) और संविधान के कार्यकरण का पुनर्विलोकन करने के लिए नियुक्त राष्ट्रीय आयोग ने वर्ष 2002 में अपने प्रतिवेदन में यह सिफारिश की थी कि दसवीं अनुसूची का पैरा 3 जिसमें दल विभाजन को छूट दी गई है, निरसित कर दिया जाए।
- 91वें संशोधन ने वर्ष 2003 से विभाजन को अमान्य घोषित कर दिया। पैरा 3 निरसित कर दिया गया है। दल का विभाजन करके बाहर जाने वाला सदस्य निरर्हित हो जाएगा।

इस संबंध में निर्णय कौन करेगा?

- कोई सदस्य निरर्हित हो गया है या नहीं इस प्रश्न का निर्णय उस सदन का सभापति या अध्यक्ष करेगा। यह विनिश्चय अंतिम होगा।

न्यायालयों की भूमिका

- न्यायालय इस बात की परीक्षा कर सकते हैं कि क्या प्राधिकारी का कार्य शक्ति बाह्य है। कोई भी कार्य निम्नलिखित कारणों से **शक्ति बाह्य** हो सकता हैः

  (i) वह विधि के किसी आज्ञापक उपबंध (mandatory Provision) का उल्लंघन करता है।

  (ii) वह असद्भावपूर्वक किया गया है और इसलिए दूषित है।

  (iii) वह शक्ति का आभासी प्रयोग है।

  (iv) वह बाहरी या असंगत कारणों पर आधारित है।

  (v) वह नैगर्सिक न्याय के नियमों का उल्लघंन करता है।

अध्यक्ष/सभापति अधिकरण है

- किहोतो होलोहन मामले में न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया कि 10वीं अनुसूची के अधीन अध्यक्ष या सभापति अधिकरण के रूप में कार्य करता है। इस हैसियत में वह उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता के अधीन है। इस उपबंध का एक मुख्य दोष यह है कि सामान्यतः प्रत्येक अध्यक्ष राजनीतिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होता है। अध्यक्ष की पदावधि सदन के बहुमत पर आश्रित होती है इसलिए पूर्वाग्रह का संदेह निराधार नहीं कहा जा सकता।

नियम बनाने की शक्ति

- अध्यक्ष और सभापति को 10वीं अनुसूची को प्रभावी करने के लिए नियम बनाने की शक्ति दी गई है।

दल-बदल क़ानून के लाभ

- राजनीतिक स्थिरता लाता है।
- दल में अनुशासन को बढ़ावा देता है।
- मतदाताओं के साथ विश्वास के सेतु को सुदृढ़ करता है।

आलोचना

- यह सांसदों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को कम कर देता है ।
- यह पार्टी व्हिप के द्वारा जनता के प्रति सांसदों की जवाबदेहिता को कम कर देता है।
- भारतीय कानूनों में अभी भी कई ऐसी खामियां हैं जिसके कारण अभी तक दल बदल पर पूरी तरह से रोक नहीं लग पायी है।

सुधार के लिए सुझाव

- बांग्लादेश में, इस तरह के मामले को अध्यक्ष द्वारा तटस्थ निकाय के सम्मुख भेज दिया जाता है।
- केन्या में, उच्च न्यायालय में अपील के माध्यम से अध्यक्ष के निर्णय को बदला जा सकता है।
- सिंगापुर में, अंतिम निर्णय पूरी संसद द्वारा लिया जाता है।
- **दिनेश गोस्वामी समिति** के अनुसार, निर्वाचन आयोग की सलाह पर मामले का निर्णय राष्ट्रपति या राज्यपाल के द्वारा किया जाना चाहिए।
- दल के भीतर असंतोष को दल बदल के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।
- अध्यक्ष पद की व्यवस्था ब्रिटेन के तर्ज पर की जानी चाहिए।
- अंततः यह एक साधारण विधि का मामला नहीं है जहाँ मनुष्य इसके प्रावधानों का निर्णय करे। यह नैतिकता का विषय अधिक है।

सदन के अधिकारियों (अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, और उपसभापति) के संबंध में इस संबंध में प्रावधान

- यदि वे स्वेच्छा से अपनी पार्टी की सदस्यता का त्याग करते हैं, तो उन्हें अयोग्य घोषित नहीं किया जाएगा। यदि अध्यक्ष अपने पद के दौरान अपनी पार्टी को छोड़ किसी अन्य पार्टी की सदस्यता स्वीकार करता है, तो यह अयोग्यता के अधीन होगा। अध्यक्ष अपने पद से त्यागपत्र के बाद एक सामान्य सदस्य बन जाता है और केवल अपने मूल दल में ही शामिल हो सकता है न कि किसी अन्य दल में।
- साधारण सदस्यों की अयोग्यता से सम्बंधित मामलों में, अध्यक्ष या सभापति का निर्णय अंतिम होता है। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष या उपसभापति की अयोग्यता से संबंधित मामले में, सदन इस उद्देश्य के लिए किसी व्यक्ति को चुन सकता है। इस व्यक्ति के द्वारा लिया गया निर्णय अंतिम होगा।

स्थानों का रिक्त होना

संसद का कोई सदस्य निम्नलिखित मामलों में अपने स्थान को रिक्त करेगा:

(a) दोहरी सदस्यता:

- यदि कोई व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे परिणाम घोषित किए जाने के 10 दिन के भीतर यह संसूचित करना होगा कि वह किस सदन में कार्य करना चाहता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो दोनों में से एक सदन में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा। इसी तरह,
- कोई व्यक्ति यदि संसद और राज्य विधानमंडल का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे 14 दिनों के भीतर राज्य विधानमंडल से अवश्य त्यागपत्र देना होगा; अन्यथा संसद में उसका स्थान रिक्त माना जाएगा।

(b) निरर्हता: यदि कोई व्यक्ति संविधान के अनु. 102 में वर्णित प्रावधानों के तहत अयोग्य पाया जाता है तो उसका स्थान तुरंत रिक्त हो जाएगा।

(c) त्यागपत्र : कोई सदस्य अध्यक्ष या सभापति (सदन के अनुसार) को लिखित रूप में अपना त्यागपत्र सौंप सकता है। त्यागपत्र स्वीकार होते ही उसका स्थान रिक्त हो जाता है। हालाँकि, अध्यक्ष/सभापति यदि त्यागपत्र को स्वैच्छिक या वास्तविक नहीं पाता है तो वह त्यागपत्र अस्वीकृत भी कर सकता है।

(d) बिना अनुमति के अनुपस्थित: अध्यक्ष किसी स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है, यदि सदस्य बिना अनुमति के सदन की सभी बैठकों से लगातार 60 दिनों तक अनुपस्थित रहा हो। इन 60 दिनों की अवधि की गणना में, सदन के स्थगन या सत्रावसान की लगातार चार दिनों से अधिक अवधि, को शामिल नहीं किया जाता है।

(e) वेतन और भत्ते: संसद के सदस्यों को संसद द्वारा निर्धारित वेतन व भत्ते प्राप्त करने का अधिकार है। यद्यपि संविधान में पेंशन का कोई प्रावधान नहीं किया गया है, लेकिन संसद ने सदस्यों के लिए पेंशन का प्रावधान किया है। लोकसभा अध्यक्ष और राज्यसभा सभापति के वेतन और भत्तों का निर्धारण भी संसद द्वारा किया जाता है। ये भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं और संसद में मतदान योग्य नहीं होते हैं।

5. संसद के पीठासीन अधिकारी

5.1. लोक सभा अध्यक्ष

- लोकसभा अध्यक्ष का पद संसदीय लोकतंत्र में एक आधारभूत पद होता है। इस पद के विषय में यह कहा जाता है कि संसद के सदस्य अपने संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि अध्यक्ष सदन के पूर्ण प्राधिकार का प्रतिनिधित्व करता है।
- अध्यक्ष को संसदीय लोकतंत्र की परंपराओं के सच्चे अभिभावक के रूप में देखा जाता है। उसकी अनोखी स्थिति इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि उसे देश के वरीयता क्रम में अत्यंत उच्च स्थान दिया गया है। उसे भारत के मुख्य न्यायधीश के साथ सातवें स्थान पर रखा गया है। भारत में, संसदीय कार्यवाहियों एवं पद की स्वतंत्रता व निष्पक्षता की रक्षा करने हेतु देश के संविधान के माध्यम से, लोकसभा के प्रक्रिया एवं कार्य संचालन नियमों के माध्यम से तथा संसदीय परम्पराओं व प्रथाओं के माध्यम से लोकसभा अध्यक्ष को पर्याप्त शक्तियां दी गयी हैं।

चुनाव

- संसद के प्रत्येक सदन के अपने अधिकारी होते हैं जो उसके अधिवेशनों की अध्यक्षता करते हैं। लोक सभा की दशा में अनु. 93 में दो अधिकारियों (अध्यक्ष और उपाध्यक्ष) का उल्लेख हैं। लोक सभा के सदस्य अपने में से एक को अध्यक्ष और एक को उपाध्यक्ष चुनते हैं। जब कभी अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त होता है तब सदन उस स्थान को भरने के लिए अपने सदस्यों में से किसी एक को पीठासीन आधिकारी के रूप में चुनता है।
- प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा नियत दिन को लोक सभा अध्यक्ष का निर्वाचन करती है (नियम 7)। उपाध्यक्ष का निर्वाचन अध्यक्ष द्वारा नियत तारीख को होता है। लोक सभा के विघटन पर अध्यक्ष अपना पद रिक्त नहीं करता है। वह विघटन के पश्चात् होने वाले लोक सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पूर्व तक अध्यक्ष बना रहता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का पद निम्नलिखित परिस्थितियों में रिक्त हो जाता है:
    - जब वह लोक सभा का सदस्य न रहे।
    - अध्यक्ष, उपाध्यक्ष को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकता है। इसी प्रकार उपाध्यक्ष, अध्यक्ष को संबोधित त्यागपत्र देकर अपना पद त्याग सकता है।
    - अपने पद से लोक सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा हटाया जा सकता है।

अध्यक्ष का हटाया जाना

- अध्यक्ष को हटाने का संकल्प प्रस्तावित करने के 14 दिन पहले संकल्प प्रस्तावित करने के आशय की सूचना दी जानी चाहिए। जब अध्यक्ष को हटाने के संकल्प पर विचार चल रहा हो तब अध्यक्ष पीठासीन नहीं होगा किंतु उसे सभा में बोलने और कार्यवाहियों में अन्यथा भाग लेने का अधिकार होगा। उसे संकल्प पर प्रथमतः मत देने का अधिकार होगा। यदि मत बराबर हों तो उसे निर्णायक मत देने का अधिकार नहीं होगा (अनु. 96)।
- अध्यक्ष को तभी हटाया जा सकता है जब लोक सभा के तत्कालीन सदस्यों का बहुमत (सामान्य बहुमत से नहीं) एक संकल्प पारित करे।
- अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित होने के लिए कोई विशेष योग्यता निर्धारित नहीं की गयी है। संविधान के अनुसार लोकसभा अध्यक्ष का केवल सदन का सदस्य होना आवश्यक है।
- एक नव गठित सदन का पहला कार्य अध्यक्ष का चुनाव करना है। सामान्यतः सत्ताधारी दल से जुड़ा सदस्य अध्यक्ष के रूप में चुना जाता है।
- हालांकि गत वर्षों में एक स्वस्थ परंपरा विकसित हुई है जिसके तहत सत्तारूढ़ दल सदन में अन्य दलों तथा समूहों के साथ अनौपचारिक विचार- विमर्श के पश्चात् अपने उम्मीदवार को मनोनीत करता है। यह परंपरा सुनिश्चित करती है कि एक बार निर्वाचित होने के पश्चात् अध्यक्ष को सदन के सभी वर्गों का सम्मान प्राप्त हो। ऐसे उदाहरण भी मौजूद हैं जब अध्यक्ष सत्तारूढ़ दल या गठबंधन का सदस्य नहीं था।

- किसी नवगठित सदन में **प्रोटेम स्पीकर** (तात्कालिक/सामयिक अध्यक्ष) उस बैठक की अध्यक्षता करता है जिसमें लोकसभा अध्यक्ष का चुनाव किया जाता है।

भूमिका और कार्य

- अध्यक्ष का मुख्य कार्य सदन की अध्यक्षता करना तथा व्यवस्थित तरीके से सदन की बैठकें संचालित करना है। कोई भी सदस्य बिना उसकी अनुमति के सदन में भाषण नहीं दे सकता है। अध्यक्ष किसी सदस्य से उसके भाषण को समाप्त करने के लिए कह सकता है और यदि सदस्य उसकी बात नहीं मानता तो वह भाषण को रिकॉर्ड न करने का आदेश दे सकता है।
- सभी विधेयक, प्रतिवेदन, प्रस्ताव और संकल्प अध्यक्ष की अनुमति से ही सदन में पेश किये जाते हैं। वह प्रस्ताव या विधेयक को मतदान के लिए सदन के समक्ष रखता है।
- वह प्रथमतः मतदान में भाग नहीं लेता है, किन्तु दोनों पक्षों के बीच मतों की बराबरी (टाई) की स्थिति उत्पन्न होने पर वह अपने निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता है।
- सभी संसदीय मामले में उसका निर्णय अंतिम हैं। वह सदस्यों द्वारा उठाये गए पॉइंट्स ऑफ़ ऑर्डर (औचित्य प्रश्न) पर भी अपना निर्णय देता है और उसका निर्णय अंतिम होता है।
- वह सदस्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का संरक्षक है।
- वह सदन को स्थगित करता है या गणपूर्ति के अभाव में बैठक को निलंबित करता है।
- वह 10वीं अनुसूची के प्रावधानों के तहत दलबदल के मामले में किसी सदस्य को उसकी सदस्यता के लिए अयोग्य ठहरा सकता है। इस सन्दर्भ में अध्यक्ष का निर्णय न्यायिक समीक्षा के अधीन है।
- वह सदस्यों के त्यागपत्र को स्वीकार करता है और त्यागपत्र की यथार्थता के बारे में निर्णय करता है।
- लोक सभा और राज्य सभा के संयुक्त अधिवेशन के मामले में लोकसभा अध्यक्ष ही बैठक की अध्यक्षता करता है।
- जब धन विधेयक निम्न सदन से उच्च सदन के लिए प्रेषित किया जाता है, तो लोकसभा अध्यक्ष विधेयक को प्रमाणित करता है कि यह धन विधेयक है। कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं इस सन्दर्भ में लोकसभा अध्यक्ष का निर्णय अंतिम है।
- वह अंतर संसदीय संघ के भारतीय संसदीय समूह के पदेन अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। वह देश में विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन के पदेन अध्यक्ष के रूप में भी कार्य करता है।
- वह लोकसभा की सभी संसदीय समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति और उनके कामकाज की देख रेख करता है।
- वह कार्य मंत्रणा समिति, नियम समिति और सामान्य प्रयोजन समिति का अध्यक्ष होता है।

5.2. प्रोटेम स्पीकर (सामयिक अध्यक्ष)

- अंतिम लोकसभा का अध्यक्ष नवगठित लोकसभा की पहली बैठक से ठीक पूर्व अपना पद त्याग देता है। अतः राष्ट्रपति द्वारा आमतौर पर लोकसभा के वरिष्ठतम सदस्य को प्रोटेम स्पीकर के तौर पर नियुक्त किया जाता है। राष्ट्रपति द्वारा उसे शपथ दिलवाई जाती है।
- प्रोटेम स्पीकर के पास लोकसभा अध्यक्ष की सभी शक्तियां होती हैं। वह नव निर्वाचित लोकसभा की पहली बैठक की अध्यक्षता करता है। वह नए अध्यक्ष का चुनाव करने के लिए सदन को सक्षम बनाता है। सामान्यतः प्रोटेम स्पीकर का केवल एक ही कार्य होता है और वह है नवनिर्वाचित सदस्यों को शपथ दिलाना।

5.3. उपाध्यक्ष

- उपाध्यक्ष लोकसभा का सदस्य होता है जिसे सदन उपाध्यक्ष के रूप् में निर्वाचित करता है। उपाध्यक्ष का निर्वाचन अध्यक्ष के निर्वाचन के पश्चात् होता है। 11वीं लोक सभा (1996) के बाद से सभी दल इस बात पर सहमत हुए कि उपाध्यक्ष का पद विपक्षी दल के सदस्य को दिया जाना चाहिए। इसके पहले अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों ही सत्ताधारी दल के सदस्य होते थे। उपाध्यक्ष, अध्यक्ष को संबोधित त्याग-पत्र देकर अपना पद त्याग सकता है। यदि वह लोक सभा का सदस्य नहीं रहता तो उसका पद रिक्त हो जाएगा।

- उपाध्यक्ष को, लोक सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। जब अध्यक्ष का पद रिक्त होता है या अध्यक्ष बैठक में अनुपस्थित होता है तो उपाध्यक्ष सदन में पीठासीन होता है। जब अध्यक्ष का पद रिक्त होता है तो उपाध्यक्ष अध्यक्ष के पद से जुड़े हुए सभी कृत्यों का निर्वहन करता है और कर्तव्यों का पालन करता है। जब उपाध्यक्ष सदन में पीठासीन होता है तो प्रथमतः मत देने का हकदार नहीं होता। किंतु बराबर मत होने की दशा में निर्णायक मत दे सकता है।
- सदन के पीठ पर रहते हुए उपाध्यक्ष को व्यवस्था बनाए रखना होता है और नियमों का निर्वचन करना पड़ता है। जब भी वह किसी संसदीय समिति के सदस्य के रूप में नियुक्त किया जाता है, तो वह स्वतः इसका अध्यक्ष बन जाता है।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों की अनुपस्थिति में लोक सभा की अध्यक्षता

लोकसभा के प्रक्रिया तथा कार्यसंचालन नियम में उपबंध किया गया है कि सभा के आरंभ में अथवा समय-समय पर जैसा मामला हो, अध्यक्ष सदस्यों के बीच से दस सभापतियों से अनधिक एक तालिका नामनिर्दिष्ट करेगा जिसमें से कोई एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों की अनुपस्थिति में अध्यक्ष अथवा उसकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष द्वारा अनुरोध किए जाने पर सभा की अध्यक्षता करेगा।

5.4. राज्य सभा का सभापति

- भारत का उप-राष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। वह राज्यसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है। उसकी अनुपस्थिति में उपसभापति सदन की बैठक की अध्यक्षता करता है। उपसभापति को सदन के सदस्यों द्वारा स्वयं में से ही चुना जाता है। उपसभापति को राज्य सभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा हटाया जा सकता है।
- किन्तु सभापति (उप-राष्ट्रपति) को उसके पद से, केवल राज्य सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प (जिससे लोकसभा सहमत हो) द्वारा ही हटाया जा सकता है। दोनों मामलों में, पदधारक को 14 दिनों की पूर्व सूचना दी जानी आवश्यक है।
- वह तब तक राज्य सभा का सभापति बना रहता है जब तक उसे राष्ट्रपति पद की आकस्मिक रिक्ति के दौरान राष्ट्रपति के रूप में पद ग्रहण न करना पड़े। ऐसी दशा में राज्य सभा का उपसभापति राज्य सभा के सभापति के कर्तव्यों का निर्वहन करता है।
- यदि संविधान द्वारा लोक सभा अध्यक्ष को प्रदत्त कुछ विशेष अधिकारों (जैसे एक विधेयक को धन विधेयक के रूप में प्रमाणित करना, दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता करना) को छोड़ दिया जाए तो राज्य सभा के सभापति के कार्य लोकसभा अध्यक्ष के कार्यों के लगभग समान ही होते हैं।

सभापति और उप-सभापति, दोनों की अनुपस्थिति में राज्य सभा की कार्यवाही के दौरान पीठासीन अधिकारी

राज्य सभा की प्रक्रिया तथा कार्य संचालन विषयक नियम के नियम 8 के अधीन राज्य सभा के सभापति, उपसभाध्यक्ष के पैनल के लिए छः सदस्यों को नामनिर्देशित करते हैं, जिनमें से एक सदस्य सभापति और उपसभापति दोनों की अनुपस्थिति में सभा की अध्यक्षता करता है। जब सभापति, उपसभापति और उपसभाध्यक्ष में से कोई भी अध्यक्षता करने के लिए उपस्थित नहीं होता है तब सभा किसी अन्य उपस्थित सदस्य के अध्यक्षता करने के बारे में निर्णय कर सकती है।

6. संसदीय सचिव

वेस्टमिंस्टर प्रणाली में संसदीय सचिव संसद का एक सदस्य होता है जो अपने कार्यों द्वारा अपने से वरिष्ठ मंत्रियों की सहायता करता है। मूल रूप से इस पद का उपयोग भावी मंत्रियों के प्रशिक्षण के लिये किया जाता था।

- इस पद का सृजन समय-समय पर अनेक राज्यों जैसे पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान आदि में किया गया है।
- हालाँकि उच्च न्यायालय में विभिन्न याचिकाओं द्वारा संसदीय सचिवों की नियुक्तियों को चुनौती दी गई है।
- जून 2015 में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने पश्चिम बंगाल में 24 संसदीय सचिवों की नियुक्ति को असंवैधानिक ठहराते हुए रद्द कर दिया था।
- इसी प्रकार के कदम बंबई उच्च न्यायालय, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, दिल्ली उच्च न्यायालय आदि द्वारा भी उठाए गए थे।

इस पद के साथ समस्या क्या है?

- संसदीय सचिव, मूल रूप से **कार्यपालिका और विधायिका के बीच शक्ति-पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन करता है।**
- सैद्धांतिक रूप से विधायिका सरकार को नियंत्रित करती है किन्तु वास्तविकता में प्रायः यह देखा गया है कि सरकार जब तक सदन में बहुमत में होती है तब तक वह विधायिका को नियंत्रित करती है। विधायकों को खुश करने एवं लाभ पहुँचाने के लिए उन्हें निगमों के अध्यक्ष के पद, विभिन्न मंत्रालयों के संसदीय सचिवों के पद तथा लाभ के अन्य पद प्रदान कर दिये जाते हैं ताकि वे सरकार से सहयोगात्मक रुख बनाये रखें।
- संसदीय सचिवों की नियुक्ति, शक्ति-पृथक्करण के सिद्धांत से संबंधित **दो महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रावधानों के विपरीत है:**
    - **लाभ के पद की धारा:** संविधान के **अनुच्छेद 102(1)(क) और अनुच्छेद 191(1)(क)** के अधीन, किसी व्यक्ति को संसद या किसी विधानसभा/परिषद के सदस्य के रूप में अयोग्य घोषित किया जाएगा यदि वह केंद्रीय या किसी राज्य सरकार के तहत 'लाभ का पद' धारण करता है (ऐसा तब नहीं होगा यदि संसद या राज्य विधायिका क़ानून बनाकर उक्त पद को धारण करने वाले को अयोग्य घोषित न किए जाने का उपबंध कर दे)।
    - इसके पीछे मूलभूत विचार विधायकों के विधायी कार्यों और उन्हें मिले पद के कर्तव्यों के बीच हितों के टकराव को टालना था।
- **मंत्रियों की संख्या बल की सीमाओं की धारा:** संसदीय सचिव का पद संविधान के **अनुच्छेद 164 (1A)** से असंगत है। इसके अनुसार राज्य मंत्रिमंडल में मंत्रियों की संख्या राज्य विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या का अधिकतम 15 प्रतिशत होनी चाहिए। क्योंकि संसदीय सचिव भी राज्य मंत्री का पद होता है, अतः इस पद के सृजन से इस सीमा का उल्लंघन हो सकता है।

पदों के समर्थन में तर्क

- संविधान विधायिका को लाभ के किसी भी पद को धारण करने वाले को छूट प्रदान करने हेतु कानून पारित करने की अनुमति प्रदान करता है। पहले भी राज्यों और संसद द्वारा ऐसा किया जा चुका है। यू.सी. रमण मामले में सुप्रीम कोर्ट ने इसे बरकरार रखा है।
- मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति/राज्यपाल द्वारा की जाती है। वे उन्हें पद और गोपनीयता की शपथ दिलाते हैं। इन संवैधानिक आवश्यकताओं को पूरा किए बिना किसी व्यक्ति को मंत्री नहीं माना जा सकता। अनुच्छेद 239AA(4) के तहत संसदीय सचिव मंत्री नहीं माने जाते हैं, क्योंकि उन्हें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त नहीं किया जाता और उनके द्वारा उन्हें पद और गोपनीयता की शपथ भी नहीं दिलाई जाती।

7. लोकसभा महासचिव

- लोकसभा महासचिव सदन का महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। वह सभी संसदीय क्रिया-कलापों, प्रक्रियाओं तथा प्रथाओं के सन्दर्भ में अध्यक्ष का, सदन का तथा सदस्यों का सलाहकार होता है। एक स्थायी अधिकारी के रूप में वह सभापटल का प्रमुख अधिकारी होता है। वह संसदीय परंपराओं और प्रथाओं का रक्षक होता है।
- महासचिव का राजनीतिक मामलों से कोई संबंध नहीं होता है। इससे अपेक्षा की जाती है कि उसका दृष्टिकोण दलगत राजनीति से रहित तथा निष्पक्ष हो, क्योंकि सदन संबंधी क्रियाकलापों में

उसकी भूमिका बहुत ही व्यापक होती है। इसे उन अधिकारियों में से चुना जाता है जिसने सदन के सचिवालय में विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए सराहनीय कार्य किया हो। महासचिव के रूप में इसकी नियुक्ति अध्यक्ष द्वारा होती है।

- इसके पद की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए कई रक्षोपाय किए गए हैं जिससे कि वह अपना कार्य निष्पक्ष एवं निर्भीक होकर कर सके। सदन में उसकी आलोचना नहीं की जा सकती है तथा सदन के बाहर उसके सदन संबंधी क्रिया-कलापों पर चर्चा नहीं की जा सकती है। वह सीधे अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होता है।
- महासचिव राष्ट्रपति की ओर से सदन के अधिवेशन में उपस्थिति होने के लिए सदस्यों को आमंत्रण जारी करता है। वह अध्यक्ष की अनुपस्थिति में विधेयकों को प्रमाणित करता हैं, सदन की ओर से संदेश भेजता है तथा प्राप्त करता है। वह अध्यक्ष की ओर से सदस्यों, मंत्रियों तथा अन्य के साथ पत्र व्यवहार करता है।
- वह सदन और इसके सचिवालय के वित्त एवं लेखाओं पर नियंत्रण रखता है। वह सदन का कार्यवाही वृतांत तैयार करवाता है।
- महासचिव का यह कर्तव्य है कि वह सचिवालय के सांगठनिक स्वरूप् को हमेशा इस प्रकार बनाए रखे जिससे कि संसदीय कार्य कुशलतापूर्वक किया जा सके।
- वह संसदीय कार्यों के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं की जानकारी रखता है।
- महासचिव अपने अधिकार से कई सारे विधायी, प्रशासनिक एवं कार्यपालिका कृत्यों का निर्वहन करता है। वह सदस्यों को सेवाएं एवं सुविधाएं उपलब्ध कराता हैं। वह सदन के परिसर में सुरक्षा को भी सुनिश्चित करता है।
- संसदीय संग्रहालय और अभिलेखागार के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में वह संसद की विरासत का रक्षक होता है।
- वह लोकसभा के अध्यक्ष के नाम से बहुत से ऐसे कार्य करता है जो अध्यक्ष का कार्यक्षेत्र है। इस प्रकार का कार्य वह अध्यक्ष की ओर से उसकी सहमति से ही करता है।
- चूंकि महासचिव को संसदीय क्रियाकलापों एवं प्रथाओं के बारे में बहुत अनुभव होता है, अतः वह कई विधेयकों के निर्माण के संदर्भ में तकनीकी जानकारी प्राप्त करने एवं संसदीय गतिविधियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के एक स्रोत के रूप में भी होता है।

लोक सभा सचिवालय के कार्यकरण का संक्षिप्त विवरण

- लोक सभा सचिवालय एक स्वतंत्र निकाय है जो लोक सभा अध्यक्ष के पूर्ण नियंत्रण और मार्गनिर्देशन में कार्य करता है। लोक सभा अध्यक्ष को उनके संवैधानिक और सांविधिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन में लोक सभा के महासचिव (जिनका वेतन, पद और दर्जा आदि भारत सरकार के सर्वोच्च रैंक के अधिकारी अर्थात् मंत्रिमंडल सचिव के बराबर होता है), अपर सचिव, संयुक्त सचिव स्तर के अधिकारियों और सचिवालय के विभिन्न स्तर के अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी सहयोग प्रदान करते हैं।
- अपर सचिव/संयुक्त सचिव स्तर के अधिकारी को निदेशक अथवा उप-सचिव और समकक्ष रैंक के अधिकारी सहयोग प्रदान करते हैं। बीच के स्तर पर अवर सचिव या सहायक निदेशक और समकक्ष रैंक के अधिकारी होते हैं और सबसे निचले स्तर पर कार्यकारी अधिकारी/वरिष्ठ कार्यकारी सहायक/कार्यकारी सहायक और समकक्ष अधिकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त, परिचारक सेवा के साथ-साथ लिपिकीय और सचिवालयीय सहायता भी उपलब्ध कराई जाती है।
- वर्तमान में, कुल दस सेवाएं हैं जिनका वर्गीकरण कार्यों के आधार पर किया गया है और जो सदन और उसके सचिवालय की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। प्रत्येक सेवा के कार्य एक-दूसरे के पूरक हैं और प्रत्येक सेवा की विशिष्ट और भिन्न प्रकृति के कारण उनके अधिकारियों तथा कर्मचारियों की अदला-बदली सामान्यतः नहीं की जाती है।

8. संसद में नेता

8.1. सदन का नेता

- लोकसभा के नियमों के अनुसार 'सदन के नेता' से आशय प्रधानमंत्री से है, यदि वह लोकसभा का सदस्य हो। प्रधानमंत्री के लोकसभा का सदस्य न होने की स्थिति में प्रधानमंत्री द्वारा नामित कोई मंत्री जो लोकसभा का सदस्य हो, सदन के नेता के रूप में कार्य करता है। इसी प्रकार राज्यसभा में सदन का नेता प्रधानमंत्री द्वारा नामित कोई ऐसा मंत्री होता है जो राज्यसभा का सदस्य हो। अमेरिका में भी यही पद्धति प्रचलित है और वहां इसे 'बहुमत का नेता (Majority Leader) कहा जाता है।

8.2. विपक्ष का नेता

- संसद के किसी सदन में उसकी कुल सदस्य संख्या से कम से कम 10 प्रतिशत सीटें हासिल करने वाली सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी का नेता, सदन में विपक्ष का नेता कहा जाता है। इसका मुख्य कार्य सरकार की नीतियों की रचनात्मक आलोचना करना तथा वैकल्पिक सरकार का गठन करना है।
- लोकसभा और राज्यसभा में विपक्ष के नेता को वर्ष 1977 में वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। विपक्ष के नेता को कैबिनेट मंत्री के समकक्ष वेतन, भत्ते तथा सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अमेरिका में भी यह प्रणाली प्रचलित है और वहां इसे 'अल्पमत के नेता (minority leader)' के नाम से जाना जाता है।

8.3. व्हिप (whip)

- प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का अपना व्हिप (सचेतक) होता है, जिसे पार्टी द्वारा सहायक नेता के रूप में नियुक्त किया जाता है।
- अपनी पार्टी के सदस्यों की अधिक संख्या में उपस्थिति सुनिश्चित करना एवं किसी विशेष मुद्दे के पक्ष या विपक्ष में उनका समर्थन प्राप्त करना, उसका उत्तरदायित्व होता है।
- वह संसद में उनके व्यवहार का विनियमन एवं निगरानी करता है।
- वह पार्टी के नेता का निर्णय सदस्यों को एवं पार्टी के सदस्यों की राय पार्टी के नेता तक पहुंचाता है।
- सदस्यों से व्हिप द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है। ऐसा करने में विफल रहने में पार्टी की सदस्यता से अयोग्यता या दल-बदल विरोधी कानून के अंतर्गत पार्टी से निष्कासन जैसी अनुशासनात्मक कार्रवाईयाँ की जा सकती हैं।
- भारत में व्हिप के पद का उल्लेख संविधान में नहीं है। फिर भी, सदन के नियमों और संसदीय कानून में क्रमशः इसका उल्लेख है।
- यह संसदीय सरकार के कन्वेंशनों पर आधारित है। भारत में, व्हिप की अवधारणा औपनिवेशिक ब्रिटिश शासन से ली गई थी।

हाल ही में, राजनीतिक पार्टियों द्वारा अनेक मुद्दों पर व्हिप जारी किए जाने पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में व्हिप

- संयुक्त राज्य अमेरिका में, पार्टी के व्हिप का कार्य, यह पता लगाना है कि विधेयक के पक्ष में कितने विधायक है और कितने इसके विपक्ष में एवं जहाँ तक संभव हो, उन्हें इस मुद्दे पर पार्टी की विचारधारा के अनुसार मतदान करने के लिए सहमत करना।
- ब्रिटेन में, सामान्यतया व्हिप के उल्लंघन को गंभीरतापूर्वक लिया जाता है। कभी-कभी इसके परिणामस्वरूप सदस्य को पार्टी से निष्कासित कर दिया जाता है। इस प्रकार का सदस्य पार्टी द्वारा पुन: स्वीकार किए जाने तक संसद में स्वतंत्र सदस्य के रूप में बना रह सकता है।

समस्या

- आलोचकों का मानना है कि व्हिप संबंधी विवादों में वृद्धि के कारण, राजनीतिक दलों ने पार्टी के आंतरिक लोकतंत्र को सीमित कर दिया हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत सदस्यों को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करने की अनुमति नहीं होती है। यह पार्टी के सदस्यों की भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रभावित करता है।
- यह विभिन्न मुद्दों पर 'विवशतापूर्ण सर्वसम्मति' निर्मित करता है और लोकतंत्र के उद्देश्य को निरर्थक बना देता है, क्योंकि व्हिप द्वारा पार्टी सदस्यों के लिए पार्टी के निर्णय का पालन करना अनिवार्य बना दिया जाता है। यह पार्टी के सदस्यों को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या अपने निर्वाचन क्षेत्र की जनता के दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की क्षमता को प्रतिबंधित करता है।
- इस विषय पर राजनीतिक आम सहमति निर्मित करने की आवश्यकता है, ताकि संसद में व्यक्तिगत सदस्य के लिए राजनीतिक और नीतिगत अभिव्यक्ति के अवसरों का विस्तार किया जा सके। यह कार्य कई रूपों में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, व्हिप जारी किया जाना केवल ऐसे विधेयकों तक सीमित किया जा सकता है जो सरकार के अस्तित्व के लिए खतरा बन सकते हैं, जैसे कि धन विधेयक या अविश्वास प्रस्ताव।
- सरकार द्वारा देश में ऐसे मुद्दों पर व्यापक बहस करवाई जानी चाहिए, जो लंबे समय में लाभदायक जन भागीदारी को प्रोत्साहित करेगी।

व्हिप का महत्व

संभव है कि संसद के सभी सदस्यों के दृष्टिकोण भिन्न हों, चाहे उनकी किसी भी पार्टी से संबद्धता हो (यहाँ तक कि ये दृष्टिकोण संबंधित पार्टी के नेतृत्व के दृष्टिकोण से भी भिन्न हो सकते हैं)। ऐसे मामले में, वह मतदान के समय पार्टी के दृष्टिकोण का उल्लंघन कर सकता/सकती है।

9. संसदीय कार्यवाही के साधन

9.1. प्रश्न काल

प्रश्नकाल किसी संसदीय बैठक के पहले घंटे में संसद सदस्यों द्वारा किसी प्रशासनिक क्रियाकलाप के सन्दर्भ में प्रश्न पूछे जाने के लिए नियत समय होता है। इस दौरान सम्बंधित मंत्री पूछे गए प्रश्नों की प्रकृति के अनुसार लिखित या मौखिक रूप में उत्तर देने के लिए बाध्य होते हैं। ये प्रश्न कार्यपालिका की जवाबदेहिता के लिए आवश्यक उपकरण हैं। ये प्रश्न निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं:

- **तारांकित प्रश्न:** तारांकित प्रश्न वह होता है, जिसका मौखिक उत्तर सदस्य सभा में चाहता है और उसे तारे के चिन्ह द्वारा विशेषांकित किया जाता है। ऐसे प्रश्न के उत्तर के पश्चात् सदस्यों द्वारा पूरक प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनका उत्तर मंत्री सभा में देता है।
- **अतारांकित प्रश्न:** अतारांकित प्रश्न वह होता है जिसका सदस्य लिखित उत्तर चाहता है और इसका उत्तर मंत्री द्वारा सभा पटल पर रखा गया माना जाता है। इस पर पूरक प्रश्न नहीं पूछे जा सकते हैं।
- **अल्पसूचना के प्रश्न:** अल्प सूचना प्रश्न का संबंध किसी सदस्य द्वारा लोक महत्व के मामले पर मौखिक उत्तर के लिए दस दिनों से कम समय में दी गयी सूचना से है। यदि अध्यक्ष/सभापति की राय में प्रश्न अविलंबनीय महत्व का है तो संबंधित मंत्री से यह पूछा जाता है कि क्या वह उसका उत्तर कम समय में देने की स्थिति में है और यदि हां तो किस तारीख को। यदि संबंधित मत्री उत्तर देने को सहमत हो जाता है तो ऐसे प्रश्न का उत्तर उसके द्वारा बताए गए दिन को उस दिन की सूची के मौखिक उत्तर हेतु प्रश्नों के निपट जाने के तुरंत बाद किया जाता है।
- **गैर सरकारी सदस्यों से प्रश्न:** कोई प्रश्न किसी गैर-सरकारी सदस्य को भी संबोधित किया जा सकता है परंतु यह तब होता है जब उस प्रश्न की विषय-वस्तु किसी विधेयक, संकल्प अथवा सभा के कार्य से संबंधित किसी अन्य मामले, जिसके लिए वह सदस्य उत्तरदायी है, से संबंध रखती है।

ऐसे प्रश्नों के मामले में प्रक्रिया वही है जो किसी मंत्री को ऐसे परिवर्तनों के साथ, जैसा कि अध्यक्ष/सभापति आवश्यक समझे, संबोधित प्रश्नों के मामले में अपनायी जाती है। ऐसे प्रश्न पर अनुपूरक प्रश्न नहीं पूछा जा सकता।

एक दिन विशेष के लिए ग्राह्य प्रश्नों की अधिकतम सीमा:

- एक दिन की तारांकित प्रश्न सूची में प्रश्नों की कुल संख्या 20 होती है। उन सभी गृहीत तारांकित प्रश्नों को, जो तारांकित प्रश्न सूची में सम्मिलित होने से रह जाते हैं, उस दिन की अतारांकित प्रश्न सूची में रखने पर विचार किया जा सकता है।
- किसी एक दिन की अतारांकित प्रश्न सूची में सामान्यतया 230 से अधिक प्रश्न नहीं होते हैं। तथापि, इनमें अधिक से अधिक 25 प्रश्न और जोड़े जा सकते हैं, जो राष्ट्रपति शासन वाले राज्य/राज्यों से संबंधित हों।

किसी सदस्य द्वारा दी जाने वाली प्रश्नों की सूचनाओं की संख्या पर निर्बंधन:

- तारांकित और अतारांकित प्रश्नों की सूचनाओं, जो कोई सदस्य नियमों के अधीन दे सकता है, की संख्या पर कोई निर्बंधन नहीं है। परंतु किसी दिन की तारांकित प्रश्न सूची में एक सदस्य का एक से अधिक प्रश्न शामिल नहीं किया जा सकता है। एक सदस्य के गृहीत किए गए एक से अधिक तारांकित प्रश्नों को अतारांकित प्रश्न-सूची में शामिल किया जाता है, लेकिन साथ ही किसी भी सदस्य के नाम से किसी एक दिन तारांकित तथा अतारांकित दोनों सूचियों में पाँच से अधिक प्रश्न गृहीत न करने की सीमा भी है। तथापि यदि किसी सदस्य के तारांकित प्रश्न-सूची में शामिल किए गए प्रश्न को अंतरित करने के बाद किसी दिन की तारांकित प्रश्न-सूची में शामिल किया जाता है, तो उस अंतरित प्रश्न के अतिरिक्त उसी सदस्य का एक और प्रश्न उसी दिन की तारांकित प्रश्न-सूची में शामिल किया जा सकता है।

9.2. शून्य काल

- प्रश्नकाल की तरह प्रक्रिया के नियमों में इसका उल्लेख नहीं है। प्रश्नकाल के ठीक बाद के समय को शून्यकाल के नाम से जाना जाता है। यह करीब दोपहर 12:00 बजे (नाम के अनुसार) प्रारंभ होता है और इसके दौरान सदस्य पीठासीन अधिकारी को पूर्व सूचना दिए बिना लोकहित के महत्वपूर्ण मुद्दों को उठा सकते हैं। वस्तुतः यह भारतीय संसदीय व्यवस्था द्वारा विकसित किया गया एक नवाचार है तथा यह वर्ष 1962 से जारी है।

9.3. प्रस्ताव

- सदन में किसी भी मुद्दे पर चर्चा के लिए पीठासीन अधिकारी की पूर्व सहमति से एक प्रस्ताव लाना आवश्यक है। सदन मंत्रियों या निजी सदस्यों द्वारा लाये गए प्रस्तावों को स्वीकृत या अस्वीकृत कर विभिन्न मुद्दों पर अपने निर्णयों या अपनी राय को सामने रखता है। प्रस्ताव **तीन** मुख्य श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं:
    - **मूल प्रस्ताव (Substantive Motion):** यह अपने आप में पूर्ण स्वतंत्र प्रस्ताव है जिसके माध्यम से अत्यधिक महत्वपूर्ण मामले यथा राष्ट्रपति के महाभियोग या मुख्य चुनाव आयुक्त को हटाने पर विचार किया जाता है।
    - **स्थानापन्न प्रस्ताव (Substitute Motion):** जो प्रस्ताव मूल प्रस्ताव के स्थान पर और उसके विकल्प के रूप में प्रस्तुत किये जाएं, उन्हें स्थानापन्न प्रस्ताव कहते हैं। यदि यह सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाए तो यह मूल प्रस्ताव को प्रतिस्थापित कर देता है।
    - **सहायक प्रस्ताव (Subsidiary Motion):** यह एक ऐसा प्रस्ताव है, जिसका स्वयं में कोई महत्व नहीं होता है। मूल प्रस्ताव या सदन की कार्यवाही के सन्दर्भ के बगैर इसपर सदन के द्वारा कोई निर्णय नहीं दिया जाता। यह निम्नलिखित तीन उप-श्रेणियों में विभाजित हैं:

- **अनुषंगी प्रस्ताव** (Ancillary Motion): यह विभिन्न कार्यवाहियों के नियमित रूप से चलते रहने के तरीके के रूप में प्रयोग में लाये जाते हैं।
- **प्रतिस्थापक प्रस्ताव (superseading Motion):** यह किसी अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर वाद-विवाद के लिए लाया जाता है तथा वर्तमान चर्चा के मुद्दे को अन्य मुद्दे से प्रतिस्थापित करने का प्रयास करता है।
- **संशोधन (Amendment):** यह मूल प्रस्ताव का केवल एक हिस्सा संशोधित या स्थानापन्न करना चाहता है।

समापन प्रस्ताव

- सदन के किसी सदस्य द्वारा लाए गए समापन प्रस्ताव का उद्देश्य सदन में चल रही चर्चा को बीच में ही रोकना होता है। यदि यह प्रस्ताव पारित हो जाता है तो चर्चा को बीच में ही रोक कर संबंधित विषय पर मतदान करा लिया जाता है।

विशेषाधिकार प्रस्ताव

- यह प्रस्ताव किसी सदस्य द्वारा सदन में तब प्रस्तुत किया जाता है जब उसे लगता है कि किसी मंत्री या मंत्रियों ने संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों का उल्लंघन किया है। यदि मंत्री ने सही तथ्यों को छिपाया हो या सदन को गलत सूचना दी हो तो मंत्री के इस व्यवहार की निंदा करने के उद्देश्य से यह प्रस्ताव लाया जाता है।

ध्यानाकर्षण प्रस्ताव

- ध्यानाकर्षण प्रस्ताव के माध्यम से सदन का कोई सदस्य अध्यक्ष या सभापति की अनुमति से किसी मंत्री का ध्यान एक ऐसे विषय की ओर आकर्षित करता है जो अविलंबनीय लोक महत्व का है। इस प्रस्ताव के माध्यम से संबंधित मंत्री से अपेक्षा की जाती है कि वह इस मुद्दे पर संक्षिप्त वक्तव्य दे। शून्यकाल की तरह संसदीय प्रक्रिया में यह भारतीय नवाचार है, जो 1954 से अस्तित्व में है। शून्यकाल के विपरीत प्रक्रिया नियमों में इसका उल्लेख है।

स्थगन प्रस्ताव

- यह किसी अविलंबनीय लोक महत्व के मामले पर सदन में चर्चा करने के लिए, सदन की कार्यवाही को स्थगित करने का प्रस्ताव है। इसके लिए 50 सदस्यों का समर्थन आवश्यक है। यह प्रस्ताव, केवल लोकसभा में पेश किया जा सकता है। सदन का कोई भी सदस्य इस प्रस्ताव को पेश कर सकता है। स्थगन प्रस्ताव पर चर्चा ढाई घंटे से कम की नहीं होती है। सदन की कार्यवाही के लिए स्थगन प्रस्ताव की निम्नलिखित सीमायें भी हैं:
    - इसके माध्यम से ऐसे मुद्दों को ही उठाया जा सकता है, जो कि निश्चित, तथ्यात्मक, अत्यंत जरूरी एवं लोक महत्व के हों।
    - इसमें एक से अधिक मुद्दों को शामिल नहीं किया जाता है।
    - इसके माध्यम से वर्तमान घटनाओं के किसी महत्वपूर्ण विषय को ही उठाया जा सकता है न कि साधारण महत्व के विषय को।
    - इसके माध्यम से विशेषाधिकार के प्रश्न को नहीं उठाया जा सकता है।
    - इसके माध्यम से ऐसे किसी भी विषय पर चर्चा नहीं कि जा सकती है, जिस पर उसी सत्र में चर्चा हो चुकी है।
    - इसके माध्यम से किसी ऐसे विषय पर चर्चा नहीं कि जा सकती है, जो न्यायालय में विचाराधीन हो।
    - इसे किसी पृथक प्रस्ताव के माध्यम से उठाये गये विषयों को पुनः उठाने की अनुमति नहीं होती है।
- स्थगन प्रस्ताव का उद्देश्य किसी गंभीर चूक या कृत्य की स्थिति में सरकार को कार्यवाही के लिए बाध्य करना है। इसका क्रियान्वयन एक प्रकार से सरकार की निंदा मानी जाती है, अतः राज्यसभा को इस प्रस्ताव का उपयोग करने की अनुमति नहीं है।

अविश्वास प्रस्ताव

- भारत में अविश्वास प्रस्ताव केवल लोकसभा (लोकसभा के नियम 198 के अंतर्गत) में लाया जा सकता है। इस प्रस्ताव पर तभी चर्चा की जा सकती है जब कम से कम लोकसभा के 50 सदस्यों द्वारा इसे समर्थन दिया गया हो। यदि प्रस्ताव आगे बढ़ता है तो लोकसभा इस पर वाद-विवाद एवं मतदान करती है। यदि लोक सभा के सदस्यों का बहुमत प्रस्ताव के समर्थन में होता है तो प्रस्ताव पारित हो जाता है तब सरकार को अनिवार्य तौर पर इस्तीफा देना पड़ता है।

निंदा प्रस्ताव

- यह प्रस्ताव सिर्फ लोकसभा में विपक्ष के द्वारा लाया जा सकता है। यह मंत्रिपरिषद् अथवा किसी मंत्री विशेष अथवा मंत्रियों के समूह के खिलाफ उनके किसी कृत्य के करने, किसी कृत्य के न करने, उनकी किसी नीति अथवा मंत्री या मंत्रियों के समूह की विफलता पर सदन की ओर से अफसोस, आक्रोश या आश्चर्य व्यक्त करने के लिए लाया जाता है।
- इसमें यह बताना जरुरी होता है कि सरकार की किन नीतियों या कार्यों के विरुद्ध इसे लाया जा रहा है। (अविश्वास प्रस्ताव में ऐसे किसी कारण को बताने की आवश्यकता नहीं होती)। निंदा प्रस्ताव के लिए सदन की कार्यवाही स्थगित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि प्रस्ताव लोकसभा में पारित हो जाता है तो मंत्रिपरिषद् के लिए इस्तीफा देना जरूरी नहीं होता किंतु उस पर यह दबाव आ जाता है कि वह जल्दी से जल्दी विश्वास प्रस्ताव या किसी अन्य माध्यम से लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करे।

धन्यवाद प्रस्ताव

- प्रत्येक आम चुनाव के पहले सत्र एवं वित्तीय वर्ष के पहले सत्र में राष्ट्रपति सदन को संबोधित करता है। अपने संबोधन में राष्ट्रपति पूर्ववर्ती वर्ष और आने वाले वर्ष में सरकार की नीतियों एवं योजनाओं का खाका खींचता है। राष्ट्रपति के इस संबोधन को 'ब्रिटेन के राजा का भाषण' से लिया गया है। दोनों सदनों में इस पर चर्चा होती है। इसी को धन्यवाद प्रस्ताव कहा जाता है। बहस के बाद प्रस्ताव को मत विभाजन के लिए रखा जाता है। इस प्रस्ताव का सदन में पारित होना आवश्यक है, नहीं तो इसका तात्पर्य सरकार का पराजित होना माना जाता है। राष्ट्रपति का यह प्रारंभिक भाषण सदस्यों को चर्चा तथा वाद-विवाद के मुद्दे उठाने और त्रुटियों एवं कमियों हेतु सरकार और प्रशासन की आलोचना का अवसर उपलब्ध कराता है।

आधे घंटे की बहस

- यह पर्याप्त लोक महत्व के मामलों आदि पर चर्चा के लिए है। अध्यक्ष ऐसी बहस के लिए सप्ताह में तीन दिन निर्धारित कर सकता है। इसके लिए सदन में कोई औपचारिक प्रस्ताव या मतदान नहीं होता।

अल्पकालिक चर्चा

- इसे दो घंटे का चर्चा भी कहते हैं क्योंकि इस तरह की चर्चा के लिए दो घंटे से अधिक का समय नहीं लगता। संसद सदस्य किसी जरूरी सार्वजनिक महत्व के मामले को बहस के लिए रख सकते हैं। अध्यक्ष एक सप्ताह में इस पर बहस के लिए तीन दिन उपलब्ध करा सकता है।

विशेष उल्लेख

- ऐसा मामला जो औचित्य प्रश्न नहीं है, उसे प्रश्नकाल के दौरान नहीं उठाया जाता। आधे घंटे की बहस जिसमें कई सारे मामले शामिल हैं, इसे विशेष उल्लेख के तहत राज्यसभा में उठाया जाता है। इसे लोकसभा में नियम 377 के अधीन 'नोटिस' कहा जाता है।

9.4. संकल्प (Resolution)

- संकल्प, साधारण लोक महत्व के विषय पर सदन में चर्चा आरम्भ करने के लिए प्रक्रियात्मक साधनों में से एक है। नियमों के उपबंधों के अधीन कोई मंत्री या सदस्य संकल्प ला सकता है। किसी सदस्य द्वारा प्रस्तावित संकल्प या संकल्प के संशोधन को सभा की अनुमति के बिना वापस नहीं किया जा सकता। संकल्पों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:
  - **गैर सरकारी सदस्यों का संकल्प:** यह संकल्प गैर सरकारी सदस्य द्वारा लाया जा सकता है।

- **सरकारी संकल्प:** यह एक मंत्री द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।
- **सांविधिक संकल्प:** यह एक गैर सरकारी सदस्य या एक मंत्री द्वारा लाया जा सकता है। इसे ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसे संविधान के उपबंध या अधिनियम के तहत लाया जा सकता है।

9.4.1 प्रस्ताव और संकल्प के बीच अंतर

- सभी संकल्प महत्वपूर्ण प्रस्ताव होते हैं किन्तु यह अनिवार्य नहीं कि सभी प्रस्ताव महत्वपूर्ण हो।
- यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रस्तावों को सदन में मतदान के लिए रखा जाए जबकि सभी संकल्पों पर मतदान आवश्यक है।
- स्थानापन्न प्रस्ताव, मूल प्रस्ताव को स्थानांतरित नहीं कर सकता है। उसी प्रकार स्थानापन्न प्रस्ताव को संकल्प के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर, स्थानापन्न प्रस्ताव को एक प्रस्ताव के रूप में लाया जा सकता है, जो मूल प्रस्ताव न हो।

9.5. औचित्य प्रश्न

- औचित्य प्रश्न वस्तुतः संचालन नियमों या संविधान के कुछ अनुच्छेदों जो सदन की कार्यवाही का विनियमन करते हैं, आदि की व्याख्या या प्रवर्तन से संबंधित प्रश्न होते हैं। ऐसे प्रश्न निर्णय हेतु पीठासीन अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं।
- यदि सदन संचालन के सामान्य नियमों का पालन नहीं करता है तो एक सदस्य सदन में औचित्य प्रश्न के माध्यम से ध्यान आकर्षित कर सकता है। यह एक असाधारण युक्ति है क्योंकि यह सदन की कार्यवाहियों को समाप्त कर सकती है। औचित्य प्रश्न में यद्यपि किसी तरह की बहस की अनुमति नहीं होती है।

10. संसद में विधायी प्रक्रिया

संसद में प्रस्तुत विधेयकों को निम्नलिखित **चार श्रेणियों** में वर्गीकृत किया जा सकता है:

1. **साधारण विधेयक,** जो वित्तीय विषयों के अलावा अन्य विषयों से सम्बद्ध होते हैं।
2. **धन विधेयक**, जो वित्तीय विषयों (अनु. 110) से सम्बंधित होते हैं।
3. **वित्तीय विधेयक,** जो वित्तीय विषयों से सम्बंधित होते हैं (किन्तु धन विधेयकों से अलग होते हैं)।
4. **संविधान संशोधन विधेयक**, जो संविधान के विभिन्न उपबंधों में संशोधन से सम्बंधित होते हैं।

10.1. साधारण विधेयक

संसद में साधारण विधेयकों के संबंध में विधायी प्रक्रिया के विभिन्न चरण निम्नलिखित हैं:

10.1.1 प्रथम पाठन

- साधारण विधेयकों के संबंध में विधायी प्रक्रिया संसद के किसी भी सदन लोकसभा या राज्यसभा में विधेयक की प्रस्तुति के साथ आरम्भ होती है। यह विधेयक मंत्री या गैर सरकारी सदस्य किसी के भी द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।
- मंत्री द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर यह एक सरकारी विधेयक जबकि गैर सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुति पर यह गैर सरकारी सदस्य विधेयक के रूप में जाना जाता है। जब कोई सदस्य सदन में विधेयक प्रस्तुत करना चाहता है तो पहले उस सदस्य को सदन की अनुमति लेनी आवश्यक होती है। अनुमति के बाद ही इसे प्रस्तुत किया जा सकता है। यह चरण विधेयक के प्रथम पाठन के रूप में जाना जाता है।
- यदि विधेयक को अनुमति देने के प्रस्ताव का विरोध किया जाता है तो उस दशा में पीठासीन अधिकारी अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर विधेयक को प्रस्तुत करने वाले सदस्य और उसका विरोध करने वाले सदस्य दोनों को संक्षिप्त व्याख्यात्मक विवरण देने की अनुमति दे सकता है। यदि विधेयक प्रस्तुत करने की अनुमति मांगने वाले प्रस्ताव का विरोध इस आधार पर हो कि विधेयक

ऐसे विधायन का सूत्रपात करता है जो सदन के विधायी सामर्थ्य के अंतर्गत नहीं है, तो पीठासीन अधिकारी उस पर पूर्ण चर्चा की अनुमति दे सकता है। तत्पश्चात् प्रश्न सदन के समक्ष मतदान हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

- **राजपत्र में प्रकाशन:** विधेयक की प्रस्तुति के बाद इसे भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है। यदि विधेयक सदन में प्रस्तुत करने से पहले ही राजपत्र में प्रकाशित हो जाये तो विधेयक के संबंध में सदन की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती है।

विधेयक को स्थायी समिति को भेजना:

- विधेयक की प्रस्तुति के बाद सम्बंधित सदन का अध्यक्ष उस विधेयक के मूल्यांकन तथा उस पर प्रतिवेदन तैयार करने हेतु सम्बद्ध स्थायी समिति को प्रेषित कर सकता है। यदि कोई विधेयक स्थायी समिति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है तो समिति विधेयक के सामान्य सिद्धांतों तथा प्रावधानों पर विचार करेगी और उस पर प्रतिवेदन (रिपोर्ट) तैयार करेगी। समिति, विशेषज्ञों या जनता की राय भी ले सकती है। विधेयक पर विचार करने के पश्चात् समिति प्रतिवेदन सदन को सौंप देती है। इस प्रतिवेदन को समिति द्वारा दिए गए सुविचारित परामर्श के रूप में देखा जाता है।

10.1.2. द्वितीय पाठन

इस चरण में विधेयक की विस्तृत समीक्षा की जाती है जो दो चरणों में होती है:

- **प्रथम चरण:** प्रथम चरण में सम्पूर्ण विधेयक पर चर्चा की जाती है। इसमें विधेयक में अन्तर्निहित उद्देश्यों पर चर्चा की जाती है। इस चरण में इसे सदन द्वारा प्रवर समिति या दोनों सदनों की संयुक्त समिति को भेजा जा सकता है अथवा जनता के विचार जानने के लिए इसे सार्वजनिक किया जा सकता है या इस पर तुरंत चर्चा की जा सकती है।
    - कोई विधेयक प्रवर/संयुक्त समिति के पास भेजा जाता है तो समिति सदन की ही भांति विधेयक पर खंडवार चर्चा करती है। समिति के सदस्य विधेयक की विभिन्न धाराओं में संशोधन भी कर सकते हैं। समिति विभिन्न संघों, सार्वजनिक निकायों या विशेषज्ञों से, जिनकी इसमें रूचि हो, राय ले सकती है। विधेयक पर इस प्रकार विचार करने के पश्चात् समिति अपनी रिपोर्ट सदन को सौंपती है जो विधेयक पर पुनर्विचार करता है।
- **दूसरा चरण:** द्वितीय पाठन के दूसरे चरण में विधेयक पर प्रवर/संयुक्त समिति के प्रतिवेदन के आधार पर खंडवार विचार-विमर्श किया जाता है। विधेयक के प्रत्येक खंड पर चर्चा होती है। इस चरण में विभिन्न प्रावधानों में संशोधन भी किया जा सकता है। किसी प्रावधान में प्रस्तावित संशोधन को सदन के समक्ष मतदान के लिए रखा जाता है। उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर वे संशोधन विधेयक का भाग बन जाते हैं।

10.1.3. तृतीय पाठन

- उपर्युक्त प्रक्रिया के पश्चात्, सदस्य विधेयक को पारित कराने के लिए उसे सदन में ला सकते हैं। यह चरण विधेयक के तृतीय पाठन के रूप में जाना जाता है। इस चरण में केवल विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करने के संबंध में चर्चा होती है तथा विधेयक में कोई संशोधन नहीं किया जा सकता है। एक साधारण विधेयक को पारित करने के लिए उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों का साधारण बहुमत अनिवार्य है। यदि सदन का बहुमत इसे पारित कर देता है तो विधेयक को दूसरे सदन में भेजा जाता है।

10.1.4. दूसरे सदन में विधेयक

एक सदन से पारित होने के उपरान्त दूसरे सदन में भी विधेयक का प्रथम-द्वितीय एवं तृतीय पाठन होता है। इस संबंध में दूसरे सदन के पास निम्नलिखित विकल्प होते हैं:

- यह विधेयक को पूरी तरह अस्वीकार कर सकता है। ऐसी स्थिति में अनुच्छेद 108(1) के तहत राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है।

- यह विधेयक को संशोधनों के साथ पारित करके प्रथम सदन को पुनः विचारार्थ भेज सकता है। यदि प्रथम सदन, जहाँ विधेयक सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया था, उसे संशोधित रूप में स्वीकार कर लेता है तो उसे राष्ट्रपति की सहमति (अनुच्छेद 111) के लिए भेजा जाएगा।
- यदि प्रारंभिक सदन दूसरे सदन द्वारा किए गए संशोधनों पर सहमत नहीं है और इस सन्दर्भ में दोनों के बीच अंतिम रूप से असहमति है तो राष्ट्रपति इस गतिरोध को दूर करने के लिए संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है।
- यह विधेयक पर किसी भी प्रकार की कार्यवाही न करके उसे लंबित कर सकता है। ऐसे मामले में यदि विधेयक पर दूसरा सदन विधेयक की प्राप्त करने की तिथि से 6 माह तक कोई कार्यवाही नहीं करता है तो राष्ट्रपति संयुक्त बैठक का आह्वान कर सकता है।

10.1.5. राष्ट्रपति की स्वीकृति

- जब विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पृथक रूप से पारित या संयुक्त बैठक (अनुच्छेद 108 के प्रावधान के तहत) में पारित कर दिया गया हो तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। यदि राष्ट्रपति अपनी सहमति नहीं देता है, तो विधेयक निरस्त या समाप्त हो जाता है। यदि वह सहमति दे देता है तो उस तिथि से वह विधेयक अधिनियम बन जाता है।
- विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करने के बजाय राष्ट्रपति उसे पुनर्विचार हेतु सदन को वापस लौटा सकता है। हालांकि यदि सदन संशोधन के साथ या बिना संशोधन किये उसे राष्ट्रपति को दोबारा भेजता है तो राष्ट्रपति इस पर सहमति देने हेतु बाध्य होता है।

10.1.6. दोनों सदनों की संयुक्त बैठक

किसी विधेयक को पारित करने के संदर्भ में गतिरोध की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब:

- दूसरे सदन द्वारा विधेयक को अस्वीकार कर दिया गया हो, या
- यदि विधेयक में किये जाने वाले संशोधनों के संबंध में दोनों सदन अंतिम रूप से असहमत हो गए हों, या
- यदि दूसरे सदन ने विधेयक प्राप्त होने की तारीख से 6 महीने पूरे होने तक विधेयक को पारित न किया हो।

10.1.7. दोनों सदनों की संयुक्त बैठक के संबंध में सीमाएं

- धन विधेयकों के मामले में संयुक्त बैठक का आयोजन नहीं हो सकता है, क्योंकि लोकसभा में इसे पारित करने की अंतिम शक्ति है। यदि धन विधेयकों के मामले में कोई असहमति होती भी है तो लोकसभा के पास राज्यसभा के संशोधनों को नकार कर विधेयक उसी रूप में पारित कर देने की शक्ति होती है।
- संविधान संशोधन विधेयक के मामले में, संयुक्त बैठक का कोई प्रावधान नहीं है। यह दोनों सदनों में अलग अलग पारित होना चाहिए। {अन्य सभी विधेयकों (वित्तीय विधेयक भी शामिल) की स्थिति में यदि कोई गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तो संविधान के अनुच्छेद 108 के तहत संयुक्त बैठक आहूत किये जाने का प्रावधान है।}

10.1.8. संयुक्त बैठक के संबंध में अन्य प्रावधान

- संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार राष्ट्रपति दोनों सदनों के बीच असहमति होने पर उसकी संयुक्त बैठक आहूत करने के अपने आशय की अधिसूचना दे सकता है। यदि विधेयक लोकसभा का विघटन होने के कारण व्यपगत हो गया है, तो राष्ट्रपति द्वारा ऐसी अधिसूचना नहीं निकाली जाएगी। किन्तु यदि राष्ट्रपति ने संयुक्त बैठक करने के अपने आशय की अधिसूचना जारी कर दी है तो लोकसभा के पश्चात्वर्ती विघटन से संयुक्त बैठक में कोई बाधा नहीं आएगी।

- ऐसी संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा अध्यक्ष करता है। यदि वह अनुपस्थित हो तो बैठक की अध्यक्षता लोकसभा का उपाध्यक्ष करता है। उसके भी अनुपस्थित होने की स्थिति में राज्यसभा का उपसभापति बैठक की अध्यक्षता करता है। यदि वह भी उपस्थित न हो तो उपस्थित सदस्यों द्वारा चुना गया कोई अन्य सदस्य इस बैठक की अध्यक्षता करता है। यह स्पष्ट है कि किसी भी स्थिति में राज्यसभा का सभापति संयुक्त बैठक की अध्यक्षता नहीं करता, क्योंकि वह सदन का सदस्य नहीं होता।
- संसद के संयुक्त अधिवेशन के लिए गणपूर्ति दोनों सदनों के सदस्यों की कुल संख्या का 1/10 भाग होती है।
- संयुक्त बैठक की कार्यवाहियां लोकसभा की प्रक्रिया की नियमावली के अनुसार होती हैं, न कि राज्यसभा के। सामान्यतः अधिक सदस्य संख्या होने के कारण संयुक्त बैठक की स्थिति में लोकसभा अपनी मांगों को मनवाने में सफल रहती है।
- संयुक्त बैठक के दौरान प्रस्तुत किए जा सकने वाले संशोधनों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाए गए हैं, यथा:
  - यदि विधेयक के एक सदन से पारित होने के बाद वह दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया हो या वापस न किया गया हो, तो संयुक्त बैठक में केवल वे ही संशोधन प्रस्तुत किये जायेंगे जिनके कारण विधेयक के पारित होने में देरी हुई है।
  - अन्य संशोधन जो उन विषयों से संबंधित हैं जिनपर सदन में असहमति है, संयुक्त बैठक के दौरान प्रस्तावित किये जायेंगे।
- देश के संसदीय इतिहास में अब तक केवल तीन बार किसी विवादित विधेयक को पारित करवाने के लिए संसद का संयुक्त अधिवेशन आहूत किया गया है। संयुक्त बैठक में पारित किये गए विधेयक निम्नलिखित हैं:
  - दहेज प्रतिषेध विधेयक, 1960
  - बैंकिंग सेवा आयोग (निरसन) विधेयक, 1978
  - आतंकवाद निवारण विधेयक, 2002

10.2. धन विधेयक

अनुच्छेद 110 (1) में धन विधेयक की परिभाषा दी गयी है, इसके अनुसार कोई विधेयक धन विधेयक समझा जाएगा यदि उसमें निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों से संबंधित उपबंध होंगे:

a. किसी कर का अधिरोपण, उत्सादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन।
b. भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का या कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन अथवा भारत सरकार द्वारा अपने ऊपर ली गई या ली जाने वाली किन्हीं वित्तीय बाध्यताओं से संबंधित विधि का संशोधन।
c. भारत की संचित निधि या आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन जमा करना या उसमें से धन निकालना।
d. भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग; किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना या ऐसे किसी व्यय की रकम को बढ़ाना।
e. भारत की संचित निधि या भारत की लोक लेखा में किसी प्रकार के धन की प्राप्ति या ऐसे धन की अभिरक्षा या उसका व्यय अथवा संघ या राज्य के लेखाओं की संपरिक्षा; या
f. उपखंड (a) से उपखंड (e) में निर्दिष्ट किसी विषय का आनुषंगिक कोई विषय।

- कोई भी विधेयक केवल इस कारण धन विधेयक नहीं माना जाएगा कि उसमें:
  - जुर्माना या अन्य आर्थिक दण्ड (शास्तियों) के अधिरोपण का, या,
  - अनुज्ञप्तियों या की गई सेवाओं के लिए फीसों का, या,

- किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिए किसी कर के अधिरोपण, उत्सादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन का उपबंध है।

धन विधेयक: कुछ महत्वपूर्ण तथ्य

- धन विधेयक केवल लोकसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है।
- यह केवल राष्ट्रपति की संस्तुति/अनुसंशा से ही पुरःस्थापित किया जा सकता है।
- यह केवल मंत्री द्वारा पुरः स्थापित किया जा सकता है।
- इसमें राज्यसभा कोई संशोधन नहीं कर सकती लेकिन संशोधन की सिफारिश कर सकती है।
- राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि विधेयक को प्राप्ति की तिथि से 14 दिन की अवधि के भीतर सिफारिश के साथ या सिफारिश के बिना लोकसभा को लौटा दे।
- राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा नहीं सकता है।
- धन विधेयक के लोकसभा में अस्वीकृत होने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है।

धन विधेयकों का प्रमाणन

- यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, तो उस पर लोकसभा अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होता है। अध्यक्ष को किसी विधेयक को धन विधेयक का प्रमाण-पत्र प्रदान करने के अपने निर्णय में किसी से परामर्श लेने की बाध्यता नहीं है।
- धन विधेयक पर अध्यक्ष द्वारा प्रमाण-पत्र प्रदान करने का आशय यह है कि अध्यक्ष को पृष्ठांकित करना होता है कि विधेयक, धन विधेयक है। जब विधेयक राज्यसभा को प्रेषित किया जाता है तथा राष्ट्रपति के समक्ष सहमति हेतु प्रस्तुत किया जाता है, तब अध्यक्ष द्वारा इसे धन विधेयक के रूप में समर्थित (पृष्ठांकन) और हस्ताक्षरित करना होता है।
- धन विधेयक पर अध्यक्ष द्वारा प्रदत्त प्रमाण-पत्र का विनिश्चय अंतिम होता है और उसे चुनौती नहीं दी जा सकती है।
- धन विधेयक हेतु संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं है।

धन विधेयक बनाम वित्तीय विधेयक

- यद्यपि धन विधेयक सम्पूर्ण रूप से संविधान के अनुच्छेद 110(1)(a) से (f) में निर्दिष्ट विषयों के साथ संबंधित है, वहीं वित्तीय विधेयक विशेष रूप से निर्दिष्ट इन सभी विषयों अथवा वर्णित अनुच्छेद के किसी भी एक विषय या इसमें कुछ अन्य प्रावधानों से संबंधित है।
- वित्तीय विधेयकों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी में वह विधेयक जो अन्य विषयों के साथ संविधान के अनुच्छेद 110(1)(a) से (f) के प्रावधानों को भी शामिल करता है। ये संविधान के अनुच्छेद 117(1) के तहत वित्तीय विधेयकों के रूप में वर्गीकृत किए गए हैं। धन विधेयकों की तरह, वे राष्ट्रपति की संस्तुति पर केवल लोकसभा में ही पुरःस्थापित किए जा सकते हैं। हालांकि, धन विधेयकों से सम्बंधित अन्य प्रतिबंध इस श्रेणी के विधेयकों पर लागू नहीं होते हैं। संविधान के अनुच्छेद 117(1) के तहत आने वाले वित्त विधेयक को गतिरोध की स्थिति में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक के समक्ष प्रस्तुत करने का उपबंध है।
- दूसरी श्रेणी में, भारत की संचित निधि पर भारित व्यय से संबंधित उपबंध होते हैं लेकिन उसमें वह कोई मामला नहीं होता, जिसका उल्लेख अनुच्छेद 110 में होता है। इस प्रकार के विधेयक संविधान के अनुच्छेद 117(3) के तहत वित्त विधेयकों के रूप में वर्गीकृत किए जाते हैं। इन वित्त विधेयकों को किसी अन्य साधारण विधेयक की तरह संसद के किसी भी सदन में पुर:स्थापित किया जा सकता है। किंतु विधेयक तभी पारित किया जाएगा जब राष्ट्रपति संबद्ध सदन को उस विधेयक पर विचार करने की सिफारिश करे, हालांकि इसके पुरःस्थापन के लिए उसकी सिफारिश की आवश्यकता नहीं है।

विधेयकों को कई बार निम्नलिखित भागों में भी विभाजित किया जाता है:

मंत्रियों द्वारा लाए गए विधेयक सरकारी विधेयक कहलाते हैं और ऐसे सदस्यों द्वारा, जो मंत्री नहीं हैं, पुर:स्थापित विधेयक गैर-सरकारी विधेयक कहलाते हैं। विधेयकों की विषय-वस्तु के आधार पर विधेयकों को मोटे तौर पर निम्निलिखित वर्गों में भी विभाजित किया जा सकता है:

- मूल विधेयक, जो नये प्रस्तावों से संबंधित होते हैं,
- संशोधनकारी विधेयक, जिनका आशय मौजूदा अधिनियमों का संशोधन करना होता है,
- समेकन विधेयक, जिनका आशय किसी खास विषय पर विद्यमान कानूनों का समेकन करना होता है,
- किसी निर्दिष्ट तिथि को समाप्त हो रहे कानूनों को जारी रखने के लिए विधेयक,
- निरसनकारी विधेयक,
- अध्यादेशों को प्रतिस्थापित करने के लिए विधेयक,
- धन और वित्त विधेयक, तथा
- संविधान संशोधन विधेयक।

10.3. बजट

- संविधान में 'बजट' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके स्थान पर संविधान में **"वार्षिक वित्तीय विवरण"** का प्रयोग किया गया है।
- यह राष्ट्रपति का संवैधानिक उत्तरदायित्व है कि वह बजट को दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करवाएगा।
- बजट केवल एक वर्ष की अवधि के लिए होता है, अतः कार्यपालिका एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए संसद को नजरअंदाज नहीं कर सकती है।
- बजट की प्रस्तुति विपक्ष के लिए सरकार की नीतियों की आलोचना करने का एक अवसर होता है।
- एक बार जब सरकार अनुमान प्रस्तुत करती है, विचार-विमर्श शुरू हो जाता है।

कटौती प्रस्ताव

ये प्रस्ताव केवल लोकसभा में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ये बजटीय प्रक्रिया का हिस्सा हैं।
कटौती प्रस्ताव को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

- **नीति अनुमोदन कटौती (Disapproval of Policy Cut):** यह प्रस्ताव करता है कि "मांग की राशि घटा कर 1 रुपया कर दी जाए"। इसके द्वारा प्रस्तावक मांग की मूल नीति के प्रति असहमति व्यक्त करता है। सदस्य को इस तरह के प्रस्ताव में, सटीक शब्दों में नीति के विशेष बिंदु, जिस पर चर्चा प्रस्तावित है, का संकेत देना होता है। चर्चा, प्रस्ताव में उल्लिखित विशिष्ट बिंदु तक या प्रस्ताव में वर्णित किसी बिंदु तक सीमित होनी चाहिए एवं सदस्य कोई वैकल्पिक नीति का सुझाव भी प्रस्तुत कर सकते हैं।
- **मितव्ययिता कटौती (Economy Cut):** इस प्रस्ताव का उद्देश्य व्यय में मितव्ययिता लाना होता है और यह प्रस्ताव इस रूप में होता है कि "मांग की राशि में ....रुपये की कमी की जाए (उल्लिखित राशि)"। इस तरह उल्लिखित राशि या मांग में एकमुश्त कटौती हो सकती है या फिर पूर्ण समाप्ति या मांग की किसी मद में कटौती हो सकती है।
- **सांकेतिक कटौती (Token Cut):** इस प्रस्ताव का उद्देश्य यह होता है कि ऐसी विशिष्ट शिकायत व्यक्त की जाए जिसके लिए भारत सरकार उत्तरदायी हो और इसमें कहा जाता है कि "मांग की राशि में 100 रुपये की कमी की जाए"।

लेखानुदान (Vote on Account)

- बजट पारित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया बजट पेश किए जाने से लेकर इस पर चर्चा करने, अनुदानों की मांगें स्वीकृत होने तथा विनियोग एवं वित्त विधेयक के पारित होने तक सामान्यतया चालू वित्त वर्ष के आरंभ होने के बाद तक चलती रहती है। अतः संविधान में लोकसभा को सशक्त बनाने के लिए एक प्रावधान किया गया है, जिससे सरकार लेखानुदान के माध्यम से अनुमानित व्यय में से अग्रिम अनुदान प्राप्त कर सके एवं विनियोग विधेयक और वित्त विधेयक के पारित होने तक देश की शासन व्यवस्था बनाये रखने में सक्षम बनी रहे।

- साधारणतया, अनुदानों की विभिन्न मांगों के अंतर्गत सम्पूर्ण वर्ष के लिए अनुमानित व्यय के 1/6वें भाग के बराबर, दो माह हेतु राशि का लेखानुदान प्राप्त किया जाता है। किसी चुनावी वर्ष के दौरान, यदि ऐसी प्रत्याशा हो कि सदन द्वारा मुख्य मांगों और विनियोग विधेयक को पास किए जाने में दो माह से अधिक का समय लगेगा तो लेखानुदान लंबी अवधि के लिए, अर्थात तीन या चार माह के लिए प्राप्त किया जा सकता है।
- परम्परा के अनुसार, लेखानुदान को एक औपचारिकता माना जाता है एवं लोकसभा द्वारा चर्चा के बिना पारित कर दिया जाता है।

अंतरिम बजट

- एक अंतरिम बजट 'लेखानुदान' के समान नहीं होता है। हालांकि 'लेखानुदान' केवल सरकारी बजट के व्यय पक्ष से जुड़ा है, परन्तु एक अंतरिम बजट सम्पूर्ण लेखों का संग्रह होता है, जिसमें व्यय और प्राप्तियां दोनों शामिल होती हैं।
- अंतरिम बजट सम्पूर्ण वित्तीय विवरण प्रदान करता है एवं पूर्ण बजट के समान ही होता है, हालांकि यह एक वर्ष से भी कम अवधि के लिए होता है।
- हालांकि सामान्यतया चुनावी वर्ष के दौरान, यह कानून केंद्र सरकार को कर परिवर्तन करने से वंचित नहीं करता है, फिर भी उत्तरोतर सरकारों द्वारा अंतरिम बजट के दौरान, आयकर कानून में किसी भी बड़े परिवर्तन से परहेज किया जाता रहा है।

विनियोग विधेयक

- बजट प्रस्तावों पर आम बहस और अनुदानों की मांगों पर मतदान प्रक्रिया पूर्ण होने के उपरांत, सरकार विनियोग विधेयक प्रस्तुत करती है। विनियोग विधेयक का प्रयोजन भारत सरकार को संचित निधि में से व्यय के विनियोग हेतु अधिकार प्रदान करना है।
- इस विधेयक को पारित करने की प्रक्रिया वही है जो अन्य धन विधेयकों के मामले में अपनायी जाती है।

10.4. वित्त विधेयक

- वित्त विधेयक सरकार के कराधान प्रस्तावों को प्रभावी बनाने के लिए लाया जाता है और यह आम बजट की प्रस्तुति के तुरंत बाद लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है।
- विनियोग विधेयक के पारित होने के पश्चात् वित्त विधेयक को विचार करने और पारित करने हेतु प्रस्तुत किया जाता है। हालांकि, अनंतिम कर संग्रह अधिनियम (Provisional Collection of Taxes Act), 1931 के तहत की गई एक घोषणा के प्रभावस्वरूप, विधेयक में उल्लिखित करारोपण और नए करों के संग्रह या मौजूदा करों में परिवर्तन से संबंधित कुछ प्रावधान वित्त विधेयक को प्रस्तुत करने की तिथि से संबद्ध दिन की समाप्ति से ही लागू हो जाते हैं।
- वित्त विधेयक के प्रस्तुत किये जाने के पश्चात् संसद को 75 दिनों के भीतर इसे पारित करना होता है।

10.5. भारत सरकार के खाते

सरकार के खातों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है: -

- भारत की संचित निधि
- भारत की आकस्मिकता निधि
- लोक लेखा

10.5.1. भारत की संचित निधि

- यह अनुच्छेद 266(1) के तहत वर्णित भारत सरकार की मुख्य निधि है। इस निधि के लिए धन का प्रवाह आयकर, केंद्रीय उत्पाद शुल्क, सीमा शुल्क इत्यादि से प्राप्त कर राजस्व और सरकार के कार्य-व्यापार के संचालन के परिणामस्वरूप प्राप्त गैर-कर राजस्व से होता है। ट्रेजरी बिलों के प्रयोग द्वारा एकत्रित ऋण भी इसी निधि में संचित होता है। सरकार इस कोष से ऋण के भुगतान सहित अपने सभी व्ययों को पूरा करती है।
- इस निधि में से कोई भी धन केवल तभी निकाला जा सकता है जब संसद में विनियोग अधिनियम या अनुपूरक अनुदान संबंधी अधिनियम पारित किया गया हो।

10.5.2. भारत की आकस्मिकता निधि

- भारत की आकस्मिकता निधि का गठन संविधान के अनुच्छेद 267(1) के तहत एक अग्रिम खाते के रूप में किया गया है। इस निधि में 500 करोड़ की धनराशि उपलब्ध होती है।
- इस निधि का उद्देश्य यह है कि जब तक किसी आकस्मिक खर्च के लिए संसद ने सरकार को प्राधिकृत न किया हो तब तक राष्ट्रपति इसमें से आवश्यक धनराशि सरकार को अग्रिम के तौर पर दे सकते हैं। संसद द्वारा जैसे ही इस व्यय को प्राधिकृत कर दिया जाता है, यह धन पुनः निधि में जमा कर दिया जाता है। राष्ट्रपति की ओर से भारत सरकार का वित्त सचिव इस निधि का संचालन करता है।

10.5.3. लोक लेखा

- लोक लेखा संविधान के अनुच्छेद 266(2) के तहत गठित किया गया है। संचित निधि में शामिल धन के अतिरिक्त सरकार द्वारा या भारत सरकार की ओर से प्राप्त किया गया समस्त सार्वजनिक धन भारत सरकार के लोक लेखा में जमा किए जाते हैं।
- इस भाग के तहत ऋण, जमा और अग्रिमों से संबद्ध वे लेनदेन हैं जिनके संबंध में सरकार प्राप्त किये गए धन को वापस करने का दायित्व या जमा किये गए धन को उगाहने की शक्ति रखती है। लोक लेखा की प्राप्तियां सरकार की नियमित प्राप्तियों से भिन्न हैं। इसीलिए लोक लेखा से धन निकालने के लिए संसद द्वारा कोई विधेयक पारित किये जाने की आवश्यकता नहीं है। यह निधि सिर्फ कार्यपालिका के द्वारा संचालित की जाती है।

10.5.4. भारित व्यय

- कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थानों की स्वायत्तता सुनिश्चित करने के लिए संविधान में उनके खर्चों को भारत की संचित निधि में शामिल करने का प्रावधान किया गया है। इसका अर्थ यह है कि भले ही संसद इन व्ययों पर चर्चा कर सकती है, किन्तु इन पर बजट के दौरान मतदान नहीं किया जाता। अतः सरकार का इन संस्थानों पर प्रत्यक्ष वित्तीय नियंत्रण नहीं है।

ये भारित व्यय निम्नलिखित हैं:

- राष्ट्रपति के वेतन एवं भत्ते तथा उनके कार्यालय के व्यय
- लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष एवं राज्यसभा के सभापति तथा उपसभापति के वेतन एवं भत्ते
- उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की पेंशन
- भारत के नियन्त्रक एवं महालेखापरीक्षक के वेतन, भत्ते तथा पेंशन
- संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन
- भारत के नियन्त्रक एवं महालेखापरीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग तथा उच्चतम न्यायालय के प्रशासनिक व्यय

- ऋण, जिनके लिए भारत सरकार उत्तरदायी है
- किसी निर्णय, डिक्री इत्यादि के प्रवर्तन के लिए आवश्यक धन
- संसद के किसी अधिनियम द्वारा परिभाषित भारत की संचित निधि पर आरोपित अन्य व्यय

10.6. संविधान संशोधन विधेयक

- भारतीय संविधान एक प्रगतिशील प्रलेख है। समय और देश की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार संविधान में भी परिवर्तन लाना आवश्यक होता है। अतः देश में समय समय पर उत्पन्न विभिन्न सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार संविधान में परिवर्तन किया जाता रहा है। संविधान संशोधन की प्रक्रिया का संविधान के भाग 20 के अनुच्छेद 368 में विस्तृत वर्णन किया गया है।
- संविधान संशोधन के लिए नम्य एवं कठोर दोनों प्रक्रियाओं को अपनाया गया है। संविधान संशोधन प्रक्रिया की दृष्टि से भारतीय संविधान के विभिन्न उपबंधों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:
    1. ऐसे उपबंध, जिन्हें संसद में साधारण बहुमत से संशोधित किया जा सकता है।
    2. ऐसे उपबंध, जिन्हें संसद में विशेष बहुमत से संशोधित किया जा सकता है।
    3. ऐसे उपबंध, जिन्हें संसद में विशेष बहुमत के साथ भारत के आधे राज्यों के विधानमंडलों के संकल्पों की स्वीकृति द्वारा संशोधित किया जा सकता है।

साधारण बहुमत द्वारा संशोधन

संविधान के अनेक ऐसे उपबंध हैं, जिनके संशोधन हेतु संसद के दोनों सदनों में केवल साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है। इन्हें दो वर्गों में बांट सकते हैं:

- **जहाँ संविधान का पाठ नहीं बदलता किंतु विधि में परिवर्तन हो जाता है:**
    - अनुच्छेद 11 संसद को नागरिकता के बारे में विधि अधिनियमित करने की शक्ति देता है। इस शक्ति के अनुसरण में जो अधिनियम बनाया जाएगा वह नागरिकता से संबंधित विधि को परिवर्तित कर देगा किंतु अनु. 5 से 10 तक के अनुच्छेद जैसे हैं वैसे ही बने रहेंगे। अनुच्छेद 124 में लिखित है कि उच्चतम न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और सात से अनधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा। किंतु संसद ने न्यायाधीशों की संख्या 7 से बढ़ाकर 31 कर दी है।
- **जहां संविधान का पाठ परिवर्तित हो जाता है:**
    - नए राज्यों की रचना, अनुसूची 1 और 4 का संशोधन आदि सामान्य विधि द्वारा किए जा सकते हैं। संसद विधि बनाकर पांचवीं और छठी अनुसूची को संशोधित कर सकती है।
    - जो उपबंध सामान्य विधि द्वारा बदले जा सकते हैं उनमें (जो ऊपर गिनाए गए हैं उनके अतिरिक्त) शामिल हैंः विधान परिषदों का सृजन और उत्सादन; संघ राज्यक्षेत्रों के लिए मंत्रिपरिषद् का सृजन; अनुच्छेद 343 में अंग्रेजी के प्रयोग के लिए 15 वर्ष की अवधि का विस्तार; संसदीय विशेषाधिकारों को परिनिश्चत करना; राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, न्यायाधीशों आदि के वेतन और भत्ते।

विशेष बहुमत द्वारा संशोधन

- इस संशोधन प्रक्रिया में प्रत्येक सदन के सदस्यों की कुल संख्या का बहुमत तथा उस सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। **प्रथम श्रेणी** (साधारण बहुमत से संशोधित होने वाले उपबंधों) और **तृतीय श्रेणी** (विशेष बहुमत के साथ भारत के आधे राज्यों के विधानमंडलों द्वारा संशोधित होने वाले उपबंधों) में शामिल अनुच्छेदों के अतिरिक्त अन्य सभी अनुच्छेद ऐसे हैं, जिन्हें संसद विशेष बहुमत द्वारा ही संशोधित कर सकती है।

विशेष बहुमत तथा कम से कम आधे राज्य विधान-मंडलों की स्वीकृति द्वारा संशोधन

- इस प्रक्रिया के तहत संविधान के कुछ विशिष्ट अनुच्छेद शामिल हैं, जिन्हें संशोधित करने हेतु कठिन प्रक्रिया अपनायी जाती है। इन अनुच्छेदों में संशोधन करने के लिए संसद के विशेष बहुमत के साथ-

साथ भारत के कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। इस श्रेणी में निम्नलिखित अनुच्छेद सम्मिलित हैं:

- अनुच्छेद 54- राष्ट्रपति का निर्वाचन
- अनुच्छेद 55- राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि
- अनुच्छेद 73–संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार
- अनुच्छेद 162- राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार
- अनुच्छेद 241- संघ राज्य क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय
- संघीय न्यायपालिका (भाग-5 अध्याय-4)
- राज्यों के लिए उच्च न्यायालय (भाग-VI अध्याय-V)
- संघ-राज्य-संबंध (विधायी) (भाग-XI अध्याय-I)
- सातवीं अनुसूची का कोई भी विषय
- संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व
- संविधान-संशोधन से संबंधित अनुच्छेद-368

संविधान संशोधन विधेयक से संबंधित विशेष प्रावधान

- **केवल संसद में प्रारंभ:** ऐसे विधेयक केवल संसद में ही प्रारंभ (प्रस्तुत) किये जा सकते हैं, राज्य विधानसभाओं में नहीं। हालाँकि इन्हें संसद के किसी भी सदन में प्रारंभ किया जा सकता है।
- **संयुक्त अधिवेशन नहीं:** ऐसे विधयक पर दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न होने की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा संयुक्त अधिवेशन नहीं बुलाया जा सकता है।
- **राष्ट्रपति अनुमति देने के लिए बाध्य:** राष्ट्रपति संविधान संशोधन विधेयक पर सहमति देने हेतु बाध्य है। इस हेतु 24वें संविधान (संशोधन) अधिनियम, 1971 के पश्चात् अनुच्छेद 368(2) के अंतर्गत 'अनुमति देगा' वाक्यांश जोड़े गए हैं।
- **संसद की संविधान संशोधन की शक्ति असीम नहीं है :** केशवानंद भारती वाद में संसद की इस शक्ति पर संविधान के आधारभूत ढांचे से संबंधी सीमाएँ आरोपित की गयी हैं'।

लोक सभा में मतदान की प्रणालियां

लोक सभा में मतदान और मत-विभाजन संबंधी प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 100(1) और लोक सभा के प्रक्रिया और कार्य-संचालन नियमों के नियम 367, 367क, 367कक और 367ख द्वारा संचालित होती है। लोक सभा में मतदान हेतु अपनायी गयी विभिन्न प्रणालियां निम्न हैं:

- **ध्वनिमत:** यह किसी सदस्य द्वारा किए गए प्रस्ताव पर पीठ द्वारा रखे गए प्रश्न पर निर्णय लेने की एक सरल प्रणाली है। इस प्रणाली के अंतर्गत सभा के समक्ष रखे गए प्रश्न का निर्धारण 'हां' या 'नहीं', जैसी भी स्थिति हो, द्वारा किया जाता है।
- **मत-विभाजन:** मत-विभाजन कराने की तीन प्रणालियां हैं, अर्थात (एक) स्वचालित मत अभिलेख यंत्र द्वारा (दो) सभा में 'हां' और 'न' पर्चियां वितरित करके और (तीन) सदस्य द्वारा लॉबी में जाकर। तथापि, जबसे स्वचालित मत अभिलेख यंत्र लगा दिया गया है तबसे लॉबी में जाकर मतदान करने की प्रणाली अप्रचलित हो गयी है।
- **गुप्त मतदान:** गुप्त मतदान, यदि कोई हो, उसी प्रकार किया जाता है, सिवाय इसके कि लैम्प-फील्ड तथा मशीन रूप में बोर्ड पर लगा बल्ब केवल सफेद प्रकाश फेंकता है, जिससे यह प्रकट होता है कि मत अभिलिखित कर लिया गया है।
  - 'प्रकट' मतदान अवधि के दौरान व्यक्तिगत परिणाम को, व्यक्तिगत परिणाम डिसप्ले पैनल पर 'A', 'N' और 'O' तीन विशेषताओं द्वारा दर्शाया जाता है, किंतु गुप्त मतदान के दौरान केवल डाले गए मतों को सफेद प्रकाश में 'P' चिन्ह द्वारा दर्शाया जाता है।
- **पर्चियों के वितरण द्वारा मतों का अभिलेखन:** 'हां' या 'नहीं' पर्चियों पर सदस्यों के मतों का अभिलेखन का तरीका सामान्यतया निम्नलिखित परिस्थितियों में अपनाया जाता है:- (एक)

स्वचालित मत अभिलेखन यंत्र का संचालन अकस्मात बंद हो जाने के कारण, तथा (दो) नई लोक सभा के आरंभ होने पर, सदस्यों को स्थानों/विभाजन संख्याओ का आवंटन किए जाने से पूर्व।

- **औपचारिक विभाजन की बजाय सदस्यों की उनके स्थानों पर वास्तविक गणना:** यदि पीठासीन अधिकारी की राय में, विभाजन की अनावश्यक मांग की गयी है, तो वह 'हां' तथा 'नहीं' पक्ष वाले सदस्यों से क्रमश: अपने स्थानों पर खड़े होने के लिए कह सकते हैं और गिनती होने के बाद वह सभा के निश्चय की घोषणा कर सकते हैं। ऐसे मामले में सदस्यों के मतदान के विवरण का अभिलेखन नहीं किया जाता है।
- **निर्णायक मत:** यदि किसी विभाजन में 'हां' तथा 'नहीं' पक्षों के मतों की संख्या समान हो, तो उस का निर्णय पीठासीन अधिकारी के निर्णायक मत द्वारा किया जाता है। संविधान के अंतर्गत, अध्यक्ष अथवा उसके रूप में काम करने वाला व्यक्ति किसी विभाजन में मतदान नहीं कर सकता, उसका केवल निर्णायक मत होता है, जिसका प्रयोग उसे मतों के समान होने पर अनिवार्यत: करना चाहिए।

11. संसद की समितियां

- आधुनिक समय में संसद के कार्य न केवल विविध और जटिल प्रकृति के हैं, बल्कि यह अत्यधिक विस्तृत भी हैं। संसद के पास समय काफी सीमित होता है। अत: यह स्वयं समस्त विधायी उपायों और अन्य मामलों की गहन छानबीन नहीं कर सकती है। इसलिए सदन की समितियों को अधिक मात्रा में कार्य हस्तांतरित किए जाते हैं, जिन्हें संसदीय समितियों के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार संसदीय समितियों से तात्पर्य उन समितियों से हैं:
    - जिसकी नियुक्ति या चुनाव सदन द्वारा किया गया हो अथवा अध्यक्ष/सभापति द्वारा इसको नामनिर्दिष्ट किया गया हो।
    - जो अध्यक्ष/सभापति के निर्देशानुसार कार्य करती है।
    - जो अपनी रिपोर्ट सदन को या अध्यक्ष/सभापति को प्रस्तुत करती है।
    - जिसे लोक सभा/राज्य सभा सचिवालय द्वारा सचिवालय की सुविधा प्रदान की गयी हो।

हाल ही में संसदीय समितियां चर्चा का विषय बनी रहीं जिसके निम्नलिखित कारण थे:

- 16वीं लोकसभा के गठन के बाद से संसदीय समितियों द्वारा अब तक केवल 29% विधेयकों की जांच की गई है, जबकि 14वीं व 15वीं लोकसभा द्वारा इसी अवधि में क्रमशः 60% और 70% विधेयकों की जांच की गई थी।
- इससे संसदीय समितियों के घटते महत्व के संबंध में चिंता उत्पन्न होती है। साथ ही, यह चिंता भी रहती है कि विभिन्न विधेयकों के पारित होने से पहले उचित विचार-विमर्श किया जा रहा है या नहीं।

- प्रकृति के आधार पर संसदीय समितियां दो प्रकार की होती हैं: स्थायी समितियां और तदर्थ समितियां।
- **स्थायी समितियां**, स्थायी और नियमित होती हैं, जो समय-समय पर संसद के किसी अधिनियम या प्रक्रिया एवं कार्य संचालन नियम के प्रावधानों के अनुसार गठित की जाती हैं। इन समितियों के कार्य निरंतर प्रकृति के होते हैं।
- **तदर्थ समितियां** एक विशिष्ट प्रयोजन के लिए गठित की जाती हैं और यह प्रयोजन समाप्त होते ही तथा रिपोर्ट प्रस्तुत करने के साथ ही समाप्त हो जाता है। तदर्थ समितियों को क्रमशः दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है:
    - **जांच समितियां:** विनिर्दिष्ट विषयों की जांच करने एवं प्रतिवेदन तैयार करने हेतु। उदाहरणत: 2G घोटाले, शेयर बाजार घोटाले पर गठित समिति आदि।
    - **सलाहकार समितियां:** विधेयकों के लिए गठित प्रवर या संयुक्त समितियां, जिनका गठन किसी विशिष्ट विधेयकों पर विचार करने तथा प्रतिवेदन देने हेतु किया जाता है।

संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary Committee: JPC)

- यह एक तदर्थ समिति होती है जो किसी विशेष उद्देश्य एवं सीमित अवधि हेतु गठित होती है। यह मुख्य रूप से राष्ट्रीय स्तर पर सुर्ख़ियों में रहने वाले विवादित मुद्दों/विषयों अथवा सरकार पर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच करने हेतु गठित की जाती है। इसके सदस्यों के बारे में विवरण, शक्तियां, जांच के दायरे आदि का निर्धारण संसद द्वारा किया जाता है।
- ये एक सदन में पारित प्रस्ताव एवं इस पर दूसरे सदन के सहमत होने के पश्चात् ही गठित किए जाते हैं। इसके सदस्यों की संख्या का निर्धारण संसद करती है। सामान्यतया इसमें लोकसभा के सदस्यों की संख्या राज्यसभा के सदस्यों की संख्या की दोगुनी होती है। आजादी के बाद से कई संयुक्त समितियां बनाई गई हैं, इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:
    - बोफोर्स संविदा पर संयुक्त समिति;
    - प्रतिभूतियों और बैंकिंग लेनदेन में अनियमितताओं की जांच करने के लिए संयुक्त समिति;
    - शेयर बाजार घोटाले पर संयुक्त समिति;
    - शीतल पेय पदार्थों में कीटनाशक अवशेषों और सुरक्षा मानकों पर संयुक्त समिति;
    - 2G स्कैम पर संयुक्त समिति आदि।

11.1. कार्यपालिका पर संसदीय वाचडॉग की तरह कार्य करने वाली कुछ स्थायी समितियां:

- लोक लेखा समिति,
- प्राक्कलन समिति,
- सरकारी उपक्रमों संबंधी समिति,
- विभाग से संबद्ध स्थायी समितियां आदि।

लोक लेखा समिति

- इस समिति की स्थापना वर्ष 1921 में भारत सरकार अधिनियम, 1919 के तहत की गई और यह अभी भी विद्यमान है।
- इसमें 22 सदस्य (15 लोकसभा से एवं 7 राज्यसभा से) होते हैं। संसद, प्रत्येक वर्ष अपने सदस्यों के बीच से एकल संक्रमणीय सिद्धांत के आधार पर हस्तांतरणीय मत के माध्यम से इनका चयन करती है। इस तरह इसमें सभी दलों का प्रतिनिधित्व रहता है।
- इसके सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष होता है। किसी मंत्री को इसका सदस्य नहीं चुना जा सकता।
- मुख्य रूप से नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत विनियोग लेखों से संबंधित लेखा परीक्षा रिपोर्ट की जांच करना समिति का प्रमुख कार्य है। समिति का मुख्य कर्तव्य यह सुनिश्चित करना भी है कि क्या व्यय किया गया धन सरकार द्वारा "मांग के दायरे के भीतर" संसद द्वारा प्राधिकृत रूप में खर्च किया गया है।
- घाटा, अपव्यय और वित्तीय अनियमितताओं से जुड़े मामलों को प्रकाश में लाने में यह समिति रूचि रखती हैं। हालांकि इस समिति का नीति के प्रश्न से कोई सरोकार नहीं होता। इसका संबंध केवल संसद द्वारा निष्पादित नीति और उसके परिणामों से है। वर्ष 1966-67 तक समिति का अध्यक्ष सत्तारूढ़ दल से होता था, हालांकि वर्ष 1967 से यह परंपरा प्रारंभ हो गयी कि समिति का अध्यक्ष विपक्षी दल से चुना जाये।

प्राक्कलन समिति

- तत्कालीन सरकार आर्थिक नीतियां बनाती है और नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए संसद के समक्ष मांग प्रस्तुत करती है। सरकार द्वारा प्रस्तावित व्यय की समीक्षा करने के लिए एक प्राक्कलन समिति गठित की जाती है। इसका गठन लोक सभा में बजट प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् होता है।

समिति में दल की भावना की छोड़कर अनौपचारिक वातावरण में काम किया जाता है। लोक सभा की यह समिति प्रकरणों की जांच करके निम्नलिखित के बारे में सुझाव देती है:

- किस प्रकार मितव्ययिता की जा सकती है और संगठन में दक्षता लाने के लिए कौन से सुधार या प्रशासनिक सुधार किए जा सकते हैं जो प्राक्कलनों से संबंधित नीति से संगत हों।
- प्रशासन में दक्षता और मितव्ययिता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों का सुझाव।
- यह जांच करना कि प्राक्कलन में जो नीति निर्धारित की गई है, उसकी सीमाओं में रहते हुए धन ठीक से लगाया गया है।
- प्राक्कलन संसद को किस रूप में प्रस्तुत किए जाएंगे।

- समिति के कृत्यों में सरकारी उपक्रम सम्मिलित नहीं है क्योंकि सरकारी उपक्रमों के लिए एक पृथक समिति है।
- इस समिति का उद्भव वर्ष 1921 में स्थायी वित्तीय समिति के गठन से देखा जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तत्कालीन वित्त मंत्री जॉन मथाई की सिफारिश पर वर्ष 1950 में ऐसी पहली समिति गठित की गई थी।
- समिति में 30 से अधिक सदस्य नहीं होंगे। सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है। कोई मंत्री समिति का सदस्य निर्वाचित नहीं हो सकता। यदि निर्वाचन के पश्चात् कोई सदस्य मंत्री नियुक्त हो जाता है तो वह समिति का सदस्य नहीं रहेगा।
- सदस्य अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए नियुक्त किए जा सकते हैं। समिति के प्रतिवेदन पर सदन में बहस नहीं होगी। समिति वर्ष भर कार्य करती है और अपने विचार सदन के समक्ष रखती है। सरकार की अनुदान की मांगें प्राक्कलन समिति के प्रतिवेदन की प्रतीक्षा नहीं करती। प्राक्कलन समिति उपयोगी सुझाव देती है और आगामी वित्तीय वर्ष में सरकार को बढ़ी-चढ़ी मांग करने से रोकती है।

सरकारी उपक्रमों संबंधी समिति

- लोक सभा के नियमों में विनिर्दिष्ट सरकारी उपक्रमों (जैसे- दामोदर घाटी निगम, औद्योगिक वित्त निगम, एयर इंडिया, जीवन बीमा निगम, भारतीय खाद्य निगम आदि) के प्रतिवेदन और लेखाओं की जांच करना, इस समिति के प्रमुख कृत्य हैं।
    - समिति ऐसी सरकारी कंपनी के लेखाओं की भी जांच करती है जिसके लेखा कंपनी अधिनियम के अधीन सदन के पटल पर रखे जाते हैं।
- इस समिति के अन्य कृत्य निम्नलिखित हैं:
    - सरकारी उपक्रमों के संबंध में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदनों की जांच करना।
    - यह देखना कि क्या सरकारी उपक्रम समुचित व्यापारिक सिद्धांतों और विवेकपूर्ण वाणिज्यिक प्रादर्शों के अनुरूप चल रहे हैं या नहीं।
    - ऐसे विषयों की जांच करना जो अध्यक्ष द्वारा समिति को निर्दिष्ट किए जाएं।
- समिति में 22 से अधिक सदस्य नहीं होते। इनमें से 15 सदस्य लोक सभा से (अनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा) और 7 सदस्य राज्य सभा से चुने जाते हैं।
- समिति का कार्यकाल एक वर्ष का होता है।
- अन्य समितियों के समान इस समिति में भी मंत्री सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई सदस्य मंत्री बन जाता है तो वह सदस्य नहीं रह जाता।

कार्य मंत्रणा समिति

- यह समिति सदन के कार्यक्रम तथा सदन की समय सारणी को नियमित रखती है। यह सदन के समक्ष सरकार द्वारा लाए गए विधायी तथा अन्य कार्यों पर चर्चा हेतु समय आवंटित करती है।
- लोकसभा में समिति में अध्यक्ष सहित 15 सदस्य होते हैं। लोकसभा अध्यक्ष इसके पदेन सभापति होते हैं। राज्यसभा में 11 सदस्य होते हैं तथा राज्यसभा सभापति इसके पदेन अध्यक्ष होते हैं।

विभागों से संबद्ध संसदीय स्थायी समितियां (Department-related Parliamentary Standing Committees)

- अप्रैल 1993 में, विभागों से संबंद्ध संसदीय स्थायी समितियों की एक पूर्णांग प्रणाली अस्तित्व में आई।
- विभागों से संबद्ध संसदीय स्थायी समितियों की संख्या 24 है जिनके क्षेत्राधिकार में भारत सरकार के सभी मंत्रालय/विभाग आते हैं।
- प्रत्येक समिति में 31 सदस्य होते हैं। इसमें 21 सदस्यों को लोक सभा से तथा 10 सदस्यों को राज्य सभा से (जिन्हें क्रमशः लोक सभा के अध्यक्ष तथा राज्य सभा के सभापति द्वारा नाम-निर्दिष्ट किया जाता है) चुना जाता है। इन समितियों का कार्यकाल एक वर्ष से अनधिक होता है। इन 24 समितियों के नाम निम्नलिखित हैं:

राज्यसभा के अंतर्गत आने वाली समितियां	लोकसभा के अंतर्गत आने वाली समितियां
1. वाणिज्य संबंधी समिति 2. गृह कार्य संबंधी समिति 3. मानव संसाधन विकास संबंधी समिति 4. उद्योग संबंधी समिति 5. विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, पर्यावरण और वन संबंधी समिति 6. परिवहन, पर्यटन और संस्कृति संबंधी समिति 7. स्वास्थ्य और परिवार कल्याण संबंधी समिति 8. कार्मिक, लोक शिकायत, विधि और न्याय संबंधी समिति	9. कृषि संबंधी समिति 10. सूचना प्रौद्योगिकी संबंधी समिति 11. रक्षा संबंधी समिति 12.ऊर्जा संबंधी समिति 13.विदेशी मामलों संबंधी समिति 14.वित्त संबंधी समिति 15.खाद्य, नागरिक पूर्ति और सार्वजनिक वितरण संबंधी समिति 16.श्रम संबंधी समिति 17.पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस संबंधी समिति 18.रेल संबंधी समिति 19.शहरी विकास संबंधी समिति 20.जल संसाधन संबंधी समिति 21.रसायन और उर्वरक संबंधी समिति 22.ग्रामीण विकास संबंधी समिति 23.कोयला और इस्पात संबंधी समिति 24.सामाजिक न्याय और अधिकारिता संबंधी समिति

- इन 24 समितियों में से 8 समितियां (क्रम सं. 1 से 8) राज्य सभा के अंतर्गत कार्य करती हैं तथा उन्हें राज्य सभा सचिवालय द्वारा सेवाएँ प्रदान की जाती हैं तथा 16 समितियां (क्रम सं. 9 से 24) लोक सभा के अंतर्गत कार्य करती हैं तथा उन्हें लोक सभा सचिवालय द्वारा सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। एक मंत्री, समिति का सदस्य नामांकित किए जाने के पात्र नहीं होता है।
- इन समितियों के सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष होता है। इन समितियों के निम्नलिखित कार्य हैं:
    - संबद्ध मंत्रालय या विभाग की अनुदान मांगों पर विचार करना।
    - राज्य सभा के सभापति या लोकसभा अध्यक्ष द्वारा भेजे गए विधेयकों का निरीक्षण करना, जैसा भी मामला हो।
    - संबद्ध मंत्रालय या विभाग के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार करना।
    - दोनों सदनों में प्रस्तुत राष्ट्रीय मूलभूत दीर्घकालीन नीतिगत दस्तावेजों पर विचार करना और उन पर प्रतिवेदन देना।

- ये समितियां मंत्रालयों/विभागों के दिन-प्रतिदिन के प्रशासन से जुड़े मामलों पर विचार नहीं करती हैं।
- ये समितियां कार्यपालिका को दीर्घकालिक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने एवं व्यापक नीति निर्माण हेतु आवश्यक दिशा-निर्देश, मार्गदर्शन और जानकारी प्रदान करने के मामले में विशेष स्थान रखती हैं।

नोट: राज्य सभा का सभापति कार्य मंत्रणा समिति, सामान्य प्रयोजन समिति और नियम समिति का अध्यक्ष होता है। उपसभापति विशेषाधिकार समिति का अध्यक्ष होता है।

12. संसदीय विशेषाधिकार

- अनुच्छेद 105 संसद और उसके सदस्यों की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियों के बारे में है। इसी प्रकार अनु. 194 राज्य विधान-मंडलों और उनके सदस्यों की शक्तियों, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियों के बारे में है। मूलतः इन अनुच्छेदों के उपअनुच्छेद (3) में इंग्लैंड के हाउस ऑफ़ कॉमन्स के और उसके सदस्यों एवं समितियों के संविधान के प्रारंभ पर विद्यमान विशेषाधिकारों के प्रति निर्देश था। संसद और राज्य विधान-मंडलों को वही विशेषाधिकार और शक्तियां दी गई थीं जो ब्रिटिश संसद और उसके सदस्यों की थीं। संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा ब्रिटिश संसद के प्रति निर्देश हटा दिया गया। इन्हीं अनुच्छेदों द्वारा अर्थात् अनु. 105(3) और 194(3) द्वारा संसद तथा राज्य विधान-मंडलों को यह शक्ति दी गई कि वे अपनी शक्तियां, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियां परिनिश्चित करें।
- ऐतिहासिक दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति यह जानना चाहता है कि 26 जनवरी 1950 के तुरंत पश्चात् संसद की क्या शक्तियां और विशेषाधिकार थे तो उसे यह पता करना होगा कि उस तारीख को ब्रिटिश संसद की क्या शक्तियां और विशेषाधिकार थे। अनुच्छेद 105(3) में संसद को यह सुझाव दिया गया है कि वह सदनों की शक्तियों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों को परिनिश्चित करने वाली विधि बनाए। यदि ऐसी विधि निर्मित की जाती है तो शक्तियां और विशेषाधिकार क्या हैं, यह उस अधिनियम को पढ़कर सरलता से ज्ञात हो सकेगा। अभी तक न तो संसद ने और न 28 राज्य विधान-मंडलों में से किसी ने अपनी शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियों को संहिताबद्ध किया है।

विशेषाधिकारों का वर्गीकरण

संसद के दोनों सदनों की शक्तियों और विशेषाधिकारों के वर्गीकरण को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

- वे जो सामूहिक रूप से सदनों के हैं।
- वे जो व्यक्तिगत रूप से सदस्यों के हैं।

12.1. सामूहिक विशेषाधिकार

संसद के दोनों सदनों के सामूहिक विशेषाधिकार निम्नलिखित हैं:

- इसे सदन में होने वाली सभी बहस और कार्यवाही के प्रकाशन पर नियंत्रण का अधिकार है। 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 ने सदन की पूर्व अनुमति के बिना संसद की कार्यवाही की सही रिपोर्ट के प्रकाशन की प्रेस की स्वतंत्रता को पुनर्स्थापित किया। किन्तु यह सदन की गुप्त बैठकों के मामले में लागू नहीं होता है।
- इसे सदन की कार्यवाही से दूसरों को बाहर करने का अधिकार है। कार्यवाही के नियमों के तहत, लोकसभा अध्यक्ष और सभापति को सदन से किसी अन्य को बाहर करने का अधिकार है।
- इसे सदन के आंतरिक मामलों को विनियमित करने का और सदन के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों के निर्णयन का अधिकार है। संसद के भीतर क्या कहा गया और क्या किया गया, इस पर किसी भी न्यायालय में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है।

- सदस्यों के साथ-साथ बाहरी लोगों को भी इसके विशेषाधिकार के हनन के मामले में दण्डित करने का अधिकार है।
- सदन के परिसर के भीतर पीठासीन अधिकारी की बिना अनुमति के किसी व्यक्ति को न ही गिरफ्तार किया जा सकता है और न ही कोई कानूनी कार्यवाही की जा सकती है।

12.2. व्यक्तिगत विशेषाधिकार

इन विशेषाधिकारों को संसद सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्रयोग किया जाता है। ये निम्नलिखित हैं:

- **सिविल गिरफ्तारी से मुक्ति:** संसद सदस्यों को संसद की कार्यवाही के दौरान, कार्यवाही चलने से 40 दिन पूर्व तथा 40 दिन बाद तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। यह अधिकार केवल दीवानी मामलों में उपलब्ध हैं तथा आपराधिक और प्रतिबंधात्मक निषेध मामलों में नहीं।
- **गवाह के रूप में उपस्थिति से स्वतंत्रता:** संसद सदस्यों को संसद के सत्र के दौरान किसी न्यायालय में लंबित मुकदमे में प्रमाण प्रस्तुत करने या उपस्थिति होने से मना करने का अधिकार प्राप्त है।
- **अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता:** कोई सदस्य संसद या इसकी समिति में दिए गए वक्तव्य या मत के लिए किसी भी न्यायालय की किसी भी कार्यवाही के लिए जिम्मेदार नहीं है। यह स्वतंत्रता हालांकि, सदन के द्वारा बनाये गए क़ानून एवं स्थायी आदेश के संचालन से संबंधित है। इसके अलावा संविधान एक और प्रतिबंध आरोपित करता है अर्थात् संसद में उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश (जब किसी न्यायाधीश को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन हो, को छोड़कर) के कर्तव्यों के निर्वहन में आचरण के संबंध में कोई चर्चा नहीं की जाएगी।

12.3. विशेषाधिकारों का हनन एवं सदन की अवमानना

- सांसदों / संसद की अवमानना ही विशेषाधिकार का उल्लंघन है। अन्य बातों के अलावा, सांसदों, संसद या इसकी समितियों पर कोई भी असद्भावपूर्ण कारवाई को विशेषाधिकारों का उल्लंघन समझा जाएगा। इसमें समाचार, सम्पादकीय, या अखबार / पत्रिका / टीवी साक्षात्कार आदि के माध्यम से किए गए अविवेकपूर्ण प्रकाशन शामिल हो सकते हैं।
- सदन की अवमानना को सामान्यतया इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है, "संसद के किसी भी सदन की कार्यवाही में या इसके किसी सदस्य या अधिकारी के अपने कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बाधा उत्पन्न करना ही सदन की अवमानना कहलाता है।
- विशेषाधिकार के सभी उल्लंघन सदन की अवमानना के तहत आते हैं। कोई व्यक्ति सदन की अवमानना का दोषी हो सकता है यद्यपि उसने सदन के किसी भी विशेषाधिकार का उल्लंघन न किया हो; उदाहरण के लिए जब वह सदन के किसी समिति के सामने उपस्थित होने के निर्णय की अवहेलना करता हो या सदन के किसी सदस्य के आचरण पर कोई लेख प्रकाशित करता हो।

12.4. सदन की अवमानना या विशेषाधिकार के उल्लंघन के मामले में सजा

सदन दोषी व्यक्ति को उपस्थित होने का आदेश दे सकता है। सजा के रूप में चेतावनी, फटकार या कारावास दिया जा सकता है।

संसदीय मंच

संसदीय मंच ऐसे संसद सदस्यों का एक समूह होता है जो संबंधित विषय में विशेष जानकारी/गहरी रूचि रखने वाले विभिन्न राजनीतिक दलों/समूहों के नेताओं अथवा उनके द्वारा नामित व्यक्तियों के बीच से लोक सभा के अध्यक्ष और राज्य सभा के सभापति, जैसा भी मामला हो, द्वारा नाम-निर्देशित किए जाते हैं। प्रत्येक मंच में 31 से अनधिक सदस्य होते हैं (अध्यक्ष और पदेन उपाध्यक्षों को छोड़कर) जिनमें से 21 से अनधिक सदस्य लोक सभा से और 10 से अनधिक सदस्य राज्य सभा से होते हैं। वर्तमान में, लोक सभा के आठ संसदीय मंच है, अर्थात्

- जल संरक्षण और प्रबंधन संबंधी संसदीय मंच;

- बच्चों संबंधी संसदीय मंच;
- युवाओं संबंधी संसदीय मंच;
- जनसंख्या और जन-स्वास्थ्य संबंधी संसदीय मंच;
- वैश्विक तापवर्धन और जलवायु परिवर्तन संबंधी संसदीय मंच;
- आपदा प्रबधन संबंधी संसदीय मंच;
- शिल्पकारों और कारीगरों संबंधी संसदीय मंच; एवं
- सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों (अब सतत विकास लक्ष्य) संबंधी संसदीय मंच।

13. राज्यसभा की भूमिका

- **पुनरीक्षण सदन के रूप में:** पुनरीक्षण सदन के रूप में राज्यसभा की विशेष भूमिका होती है। हालांकि पुनरीक्षण बहुत कम बार किये गए हैं, तथापि पुनरीक्षण की संभावना सदैव बनी रहती है। हमारी संसदीय प्रणाली में, राज्यसभा को विधान पर विचार विमर्श करने तथा उसे स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है परन्तु अनुचित ढंग से अवरोध उत्पन्न करने या समाप्त करने का नहीं। द्वितीय सदन के रूप में, यह जल्दबाजी में बनाए गए विधान पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए अधिकृत है।
- **संघीय सदन के रूप में:** राज्यसभा की एक अन्य महत्वपूर्ण भूमिका, संघीय विधानमंडल में राज्यों को प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता से निर्देशित थी। राज्यसभा एक संघीय सदन है, जहां प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि, राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। संघीय सदन के रूप में, राज्यसभा को संघीय हितों को प्रभावित करने वाली कुछ विशेष शक्तियां सौंपी गयी हैं। राज्यसभा, राज्यों की आकांक्षाओं के प्रति सदैव संवेदनशील और हितबद्ध रहती है। इस प्रक्रिया में, यह देश के संघीय ढांचे को मजबूत बनाती है और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देती है।
- **विचारशील सदन के रूप में:** एक विचारशील सदन के रूप में राज्यसभा की प्रमुख भूमिका, राज्यसभा के 12 सदस्यों का साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा में उनके योगदान के आधार पर नामांकन के प्रावधान से सुदृढ़ होती है। सदन में विचार-विमर्श और चर्चा की प्रमुख परंपराओं ने राज्य सभा के सदस्यों को न केवल जनता के मुद्दों पर प्रभावशाली विचार-विमर्श आयोजित करने के लिए, बल्कि कार्यवाही को जनता के कल्याण के लिए प्रासंगिक बनाने का प्रयास करने के लिए भी पथप्रदर्शन किया है।
- **निरंतर चलने वाले सदन के रूप में:** राज्यसभा एक स्थायी सदन है, इसका विघटन नहीं होता है तथा इसके सदस्यों में से एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष सेवानिवृत होते है। राज्यसभा एक अनवरत सदन के रूप में निरंतरता के सिद्धांत का अनुपालन करती है। चूंकि राज्य सभा एक स्थायी सदन है, अत: लोकसभा का विघटन होने पर राज्यसभा द्वारा आरंभ एवं उसके समक्ष लंबित विधेयकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार, राज्यसभा की निरंतरता, विधायी निरंतरता का एक महत्वपूर्ण उपाय सुनिश्चित करती है।
- **सरकार के गठन से असंबद्ध सदन:** मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। एक परोक्ष रूप से निर्वाचित सदन होने के कारण राज्यसभा की सरकार के गठन या विघटन में कोई भूमिका नहीं होती है। चूंकि इस सदन की सरकारों के गठन में कोई भूमिका नहीं होती है तथा सरकार, राज्य सभा की संख्यात्मक ताकत के आधार पर विघटित भी नहीं होती हैं, अत: यह सदन प्रतिस्पर्धी दलगत राजनीति की बाध्यताओं से अपेक्षाकृत मुक्त होता है। कुछ विशेषज्ञों का तर्क है कि यदि राज्यसभा सरकार नहीं गिरा सकती है, तो राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उसकी भूमिका सीमित है। परन्तु, कई विद्वान यह मानते हैं कि संसद के किसी सदन की भूमिका सरकार गिराने मात्र में ही सीमित नहीं है, इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका राष्ट्रीय मुद्दों पर बहस के लिए एक जीवंत योगदानकर्ता के रूप में है। राज्यसभा ने राष्ट्रीय बहस में योगदान करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

- **प्रभावी लघु सदन के रूप में:** संख्याबल के मामले में राज्यसभा, लोकसभा की तुलना में अपेक्षाकृत लघु सदन है। लघु सदन होने के कारण, यह सदस्यों के मध्य घनिष्ट सौहार्द और अधिक से अधिक आम सहमति के निर्माण हेतु अवसर प्रदान करता है। सभी दलों के सदस्यों के बीच सामंजस्य और समायोजन की भावना, इस सदन की प्रभावशीलता में योगदान करती है।
- **कार्यकारी जवाबदेहिता प्राप्त करने वाले सदन के रूप में:** संसद के एक मूल अंग के रूप राज्यसभा ने इसकी विभिन्न समितियों के माध्यम से कार्यकारी जवाबदेही प्राप्त की है। वर्तमान में, संसद में विभागों से संबंधित 24 संसदीय स्थायी समितियां हैं, जिसमें से 8 राज्यसभा के सभापति के दिशानिर्देश और नियंत्रण के अधीन कार्य करती हैं। ऐसी समितियों द्वारा की गई रचनात्मक आलोचना एवं सुविचारित अनुसंशाओं व सिफारिशों को मंत्रालयों एवं विभागों को उनकी कार्यपद्धति को बेहतर बनाने और लोगों के कल्याण हेतु यथार्थवादी बजट, योजनाओं और कार्यक्रमों को तैयार करने के संबंध में उपयोगी पाया गया है।
- **लोक शिकायतों को प्रस्तुत करने वाले सदन के रूप में:** राज्यसभा, विभिन्न राज्यों द्वारा सामना की जा रही समस्याओं का दर्शाने वाला एक मंच है। राज्यों के प्रतिनिधियों के रूप में इसके सदस्य, अपने से संबद्ध राज्यों और वहां की जनता की समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। पूर्णतया स्थापित प्रक्रियात्मक उपायों यथा प्रश्नों, ध्यानाकर्षण, विशेष उल्लेख, अल्पकालिक चर्चा, आधे घंटे की चर्चा, प्रस्तावों, संकल्पों, आदि के माध्यम से यह सार्वजनिक महत्व के विषयों एवं सरकार की नीतियों को प्रभावित करने वाले मामलों पर ध्यान केंद्रित करने वाले मुद्दे उठाती है तथा जनता की शिकायतों को प्रस्तुत करने के लिए एक मंच प्रदान करती है।

13.1. राज्यसभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व की समानता

अमेरिकी सीनेट में, जहां प्रत्येक राज्य को 2 सीटें आवंटित हैं, के विपरीत भारतीय संसद के उच्च सदन (राज्यसभा) में विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व असमान है। सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व देकर राज्यसभा में सुधार का सुझाव दिया गया है। इस सुझाव के सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष निम्नलिखित हैं:

सकारात्मक पक्ष

- यदि सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व होगा, तो सभी राज्यों के हितों को संसद में समान रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। इस प्रकार, यह हमारी राजव्यवस्था को और अधिक संघीय स्वरुप प्रदान करेगा। वास्तव में संविधान सभा के कुछ सदस्यों (के.टी. शाह, लक्ष्मी नारायण साहू और लोकनाथ मिश्रा) ने इसका सुझाव दिया था।
- छोटे राज्य तब इस बात का आरोप नहीं लगायेंगे कि बड़े राज्य राज्यसभा में हावी रहते हैं।

नकारात्मक पक्ष

- राज्य सभा के सदस्य किसी राज्य के हित के अनुसार मतदान नहीं करते, अपितु पार्टी लाइन के अनुसार मतदान करते हैं। इस प्रकार यह आरोप वास्तव में सच नहीं है कि राज्यसभा में एक राज्य, अन्य राज्य पर हावी होता है।
- फिर भी यदि सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दे भी दिया जाता है, तो यह संदिग्ध ही है कि राज्यसभा के सदस्य राज्यों के हितों का ही प्रतिनिधित्व करेंगे, पार्टी के हितों का नहीं।
- भारत के राज्यों में उनके आकार और आबादी में काफी भिन्नता है। यह बहस का मुद्दा है कि उन सभी को बराबर प्रतिनिधित्व देना, क्या एक सही कदम होगा।

13.2. राज्यसभा की लोकसभा से तुलना

13.2.1 लोकसभा के संबंध में समान शक्तियाँ

संविधान ने कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में संसद के दोनों सदनों को समान अधिकार प्रदान किये हैं। ये विषय निम्नलिखित हैं:

- इसे राष्ट्रपति के चुनाव एवं उसके महाभियोग के सन्दर्भ में लोकसभा के समान अधिकार (अनुच्छेद 54 और 61) प्राप्त हैं।
- उपराष्ट्रपति के चुनाव के मामले में भी इसे लोकसभा के समान अधिकार (अनुच्छेद 66) प्राप्त हैं।
- संसदीय विशेषाधिकारों को परिभाषित करने वाले तथा अवमानना के लिए दण्डित करने वाले क़ानून बनाने के सन्दर्भ में इसे लोक सभा के समान अधिकार (अनुच्छेद 105) प्राप्त हैं।
- आपातकाल की उद्घोषणा की स्वीकृति (अनुच्छेद 352) तथा राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा के सन्दर्भ में (अनुच्छेद 356) भी इसे लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं।
- उच्चतम न्यायालय और संघ लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र में विस्तार के संबंध में।
- राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेश की स्वीकृति।
- निम्नलिखित विभिन्न प्राधिकरणों से रिपोर्ट और दस्तावेज़ प्राप्त करने के मामले में इसे लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं:
    - भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट;
    - संघ लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट;
    - अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए नियुक्त विशेष अधिकारी की रिपोर्ट;
    - पिछड़े वर्गों की दशा की जांच के लिए गठित आयोग की रिपोर्ट;
    - भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए नियुक्त विशेष अधिकारी की रिपोर्ट, आदि।

13.2.2. लोकसभा के साथ असमान स्थिति

- धन विधेयक को केवल लोकसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है, राज्य सभा में नहीं।
- राज्यसभा, धन विधेयक को अस्वीकृत या संशोधित नहीं कर सकती। उसे इस विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ या सिफारिशों के बिना ही 14 दिन के भीतर लोकसभा को लौटाना अनिवार्य होता है। लोकसभा, राज्यसभा की सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। दोनों मामलों में इसे दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाएगा।
- वित्त विधेयक (1) को सिर्फ लोकसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है, हालांकि इसे पारित करने के मामलों में दोनों की शक्तियां समान हैं।
- कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, यह प्रमाणित करने की अंतिम शक्ति लोकसभा अध्यक्ष के पास है।
    - दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोक सभा का अध्यक्ष करता है।
    - सामान्य स्थितियों में संयुक्त बैठक में ज्यादा सदस्य संख्या होने के कारण लोकसभा को विजय प्राप्त होती है। बशर्ते सत्तारूढ़ पार्टी के सदस्यों की संयुक्त संख्या दोनों सदनों में विपक्ष की संयुक्त संख्या से कम न हो।
    - राज्यसभा केवल बजट पर चर्चा कर सकती है, उसके अनुदानों की मांगों पर मतदान नहीं करती।
    - राष्ट्रीय आपातकाल की समाप्ति के लिए संकल्प को लोकसभा द्वारा ही पारित कराया जा सकता है, राज्यसभा द्वारा नहीं।
    - राज्यसभा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर मंत्रिपरिषद् को नहीं हटा सकती। इसका कारण यह है कि मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से केवल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। हालाँकि राज्य सभा सरकार की नीतियों एवं कार्यों पर चर्चा और आलोचना कर सकती है।

13.2.3. राज्य सभा की विशेष शक्तियां

संविधान में भारत के संघीय ढाँचे को ध्यान में रखते हुए राज्य सभा को कुछ विशिष्ट शक्तियां सौंपी गयी हैं। इस तरह की शक्तियां लोकसभा के समक्ष उच्च सदन के रूप में इसकी प्रस्थिति को बल प्रदान करती हैं।

- **राज्य के मामलों पर कानून:** संविधान का अनुच्छेद 249 यह प्रावधान करता है कि यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा घोषित किया है कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि संसद राज्य सूची में प्रगणित ऐसे विषय के संबंध में ,जो उस संकल्प में विनिर्दिष्ट है, विधि बनाए तो जब तक वह संकल्प प्रवृत्त है संसद के लिए उस विषय के संबंध में भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बनाना विधिपूर्ण होगा।
    - अगर इस तरह का कोई प्रस्ताव स्वीकृत होता है तो संसद पूरे या भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग के लिए इस संकल्प में विनिर्दिष्ट विषय पर कानून बनाने के लिए अधिकृत होगी।
    - इस तरह से पारित संकल्प एक वर्ष से अनधिक ऐसी अवधि के लिए प्रवृत्त रहेगा जो उसमें विनिर्दिष्ट की जाए। किन्तु, इसके आगे प्रस्ताव पारित करके एक समय में एक वर्ष के लिए इस अवधि को बढ़ाया जा सकता है।
- **अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन:** अनुच्छेद 312 में राज्य सभा को एक और विशिष्ट शक्ति दी गयी है कि यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित किया है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक या समीचीन है तो संसद, विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के लिए उपबंध कर सकेगी।
- **उद्घोषणा का अनुमोदन:** राज्यसभा की एक और विशेष शक्ति आपातकाल की घोषणा से संबंधित है। अनुच्छेद 352 के खंड(4) के नियम/परंतुक के अनुसार, अन्य बातों के साथ-साथ, यदि आपातकाल की उद्घोषणा उस समय जारी की जाती है जब लोकसभा का विघटन हो गया हो और उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया गया है तो उद्घोषणा उस तिथि से, जब लोकसभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, अधिकतम 30 दिनों की अवधि तक ही प्रभावी रहेगी। अतः यह प्रावधान यह परामर्श देता हुआ प्रतीत होता है कि ऐसा अवसर आ सकता है जब राज्य सभा का सत्र आहूत किया गया हो किन्तु लोकसभा का विघटन हो चुका हो। संविधान के अनुच्छेद 356(3), जो राष्ट्रपति द्वारा राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की दशा में राज्य आपातकाल की उद्घोषणा से सम्बंधित है, में भी कुछ ऐसी ही शर्त रखी गयी है।

राज्यसभा एवं लोकसभा : एक तुलना

राज्यसभा	लोकसभा
राज्यसभा संसद का उच्च सदन अथवा द्वितीय सदन है। इसे वरिष्ठ सदन भी कहा जाता है।	लोकसभा संसद का निम्न सदन अथवा प्रथम सदन है। इसे लोकप्रिय सदन भी कहा जाता है।
राज्यसभा में अधिकतम 250 सदस्य हो सकते हैं, परंतु वर्तमान में सदस्यों की संख्या 245 (233 सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एवं 12 मनोनीत सदस्य) है।	लोकसभा में अधिकतम 552 सदस्य हो सकते हैं, परन्तु वर्तमान में सदस्यों की संख्या 545 (543 सदस्य प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एवं 2 मनोनीत सदस्य) है।
राज्यसभा में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया है। यह राज्यों एवं संघीय क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती है।	यह समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करती है।
राष्ट्रपति द्वारा 12 सदस्यों को मनोनीत किया जाता है।	राष्ट्रपति द्वारा आंग्ल-भारतीय समुदाय के 2 सदस्यों को मनोनीत किया जाता है।
राज्यसभा एक स्थायी सदन है, जिसका विघटन नहीं किया जा सकता। इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्षों का होता है। प्रत्येक दो वर्ष बाद एक-तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं तथा उतने ही नवनिर्वाचित भी हो जाते हैं।	लोकसभा स्थायी सदन नहीं है तथा इसका कार्यकाल पांच वर्षों का होता है; कार्यकाल पूर्ण होने के पहले भी राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर इसे भंग किया जा सकता है।
राज्यों के प्रतिनिधि राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व	लोकसभा के सदस्यों का चुनाव व्यस्क

प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा चुने जाते हैं।	मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से गुप्त मतदान प्रक्रिया द्वारा होता है।
धन विधेयक राज्यसभा में पुरःस्थापित नहीं किए जा सकते।	धन विधेयक केवल लोकसभा में पुरःस्थापित किए जा सकते हैं।
मंत्रिपरिषद् राज्य सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है।	मंत्रिपरिषद् केवल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।
राज्यसभा द्वारा राज्य सूची के किसी विषय को राज्यसभा में उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के कम-से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा राष्ट्रीय महत्व का घोषित किया जा सकता है।	लोकसभा को यह अधिकार प्राप्त नहीं है।
राज्यसभा को अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन करने का अधिकार प्रदान किया गया है।	लोकसभा को यह अधिकार प्राप्त नहीं है।
उपराष्ट्रपति को हटाने हेतु प्रस्ताव का आरम्भ राज्यसभा में ही किया जाता है।	लोकसभा, राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव का अनुमोदन कर सकती है।
लोकसभा के भंग होने की स्थिति में आपातकाल की उद्घोषणा का अनुमोदन राज्यसभा द्वारा किया जा सकता है।	लोकसभा को इस प्रकार के विशेषाधिकार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि राज्यसभा विघटित नहीं होती है।
राज्यसभा का सभापति इसका सदस्य नहीं होता। भारत का उपराष्ट्रपति ही इसका पदेन सभापति होता है। उपसभापति राज्यसभा का सदस्य होता है, जिसका निर्वाचन सदस्यों द्वारा किया जाता है।	लोकसभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष, इसके सदस्य होते हैं तथा इनका निर्वाचन सदस्यों द्वारा किया जाता है।

14. संसद की संप्रभुता

- संसद की संप्रभुता का सिद्धांत ब्रिटिश संसद के साथ संबद्ध है। संसदीय संप्रभुता (इसे संसदीय सर्वोच्चता या विधायी सर्वोच्चता भी कहा जाता है) वस्तुतः कुछ संसदीय लोकतांत्रिक देशों के संविधान में निहित एक अवधारणा है। इसके अनुसार विधायी निकाय को पूर्ण संप्रभुता प्राप्त है तथा यह कार्यपालिका एवं न्यायपालिका समेत सरकार के अन्य संस्थानों की तुलना में यह सर्वोच्च होता है। ब्रिटिश संसद की अधिकारिता एवं न्यायाधिकार क्षेत्र पर कोई विधिक प्रतिबन्ध नहीं है। वहीं दूसरी ओर भारतीय संसद को इन प्रतिमानों के आधार पर एक संप्रभु निकाय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी अधिकारिता एवं न्यायाधिकार क्षेत्र पर कई विधिक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। भारतीय संसद की सर्वोच्चता को सीमित करने वाले कुछ प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं:
  - **लिखित संविधान:** संविधान हमारे देश का सर्वोच्च मौलिक कानून है। संसद संविधान में निर्धारित सीमा के भीतर काम करने हेतु बाध्य है।
  - **सरकार का संघीय ढाँचा:** भारत में सरकार का संघीय ढांचा प्रचलित है, जिसके तहत संवैधानिक रूप से केंद्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन किया गया है। केंद्र एवं राज्य दोनों को अपने-अपने कार्यक्षेत्र के भीतर रहकर कार्य करना होता है। अतः संसद की विधि निर्माण की शक्ति संघीय सूची एवं समवर्ती सूची में वर्णित विषयों तक सीमित रहती है तथा राज्य सूची में वर्णित विषयों तक विस्तारित नहीं होती। इसका अपवाद केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियां हैं।
  - **न्यायिक समीक्षा का तंत्र:** एक स्वतंत्र न्यायपालिका के गठन तथा न्यायिक समीक्षा की प्रणाली ने भी संसद की सर्वोच्चता को सीमित किया है। संसद द्वारा पारित कोई भी ऐसा कानून जो संविधान के किसी प्रावधान का विशेष रूप से मूल ढांचे का उल्लंघन करता है, उसे उच्च न्यायालय एवं उच्चतम न्यायालय द्वारा शून्य अथवा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है।
  - **मूल अधिकार :** संविधान के भाग 3 के तहत प्रदत्त न्यायोचित मूल अधिकारों की व्यवस्था भी संसद के प्राधिकार पर निर्बंधन आरोपित करती है। अनुच्छेद 13 संसद को कोई भी ऐसा कानून बनाने से रोकता है जो किसी मूल अधिकार के किसी अंश या सम्पूर्ण अधिकार को छीनने का प्रावधान करता हो। अतः मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाला कोई भी संसदीय कानून शून्य घोषित किया जा सकता है।

15. संसद के कार्य तथा इसकी भूमिका

हमारे संविधान में सरकार की संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है। यह प्रणाली राज्य के विधायी एवं कार्यपालक अंगों का विशिष्ट सम्मिश्रण है। अतः संसद के कार्यों पर चर्चा करते हुए इस आयाम पर ध्यान देना आवश्यक है। संसद के कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं:

- **कार्यपालिका पर नियंत्रण:** संसद का एक महत्त्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद् को इसके कार्यों के करने या न करने के लिए उत्तरदायी ठहराकर उसपर नियंत्रण बनाये रखना है। अनुच्छेद 75(3) स्पष्ट रूप से कहता है कि मंत्रिपरिषद् केवल तब तक अस्तित्व में होगी जब तक उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त है। संसद के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न पूछकर, स्थगन प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव तथा निंदा प्रस्ताव लाकर अथवा वाद-विवाद द्वारा मंत्रिपरिषद् पर संसद का नियंत्रण सुनिश्चित करते हैं। यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि लोकसभा, मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव ला सकती है जिसके पारित हो जाने की स्थिति में इसे अनिवार्यतः त्यागपत्र देना होता ह। अतः संसद मंत्रियों पर व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से नियंत्रण रखती है तथा इसका एक महत्वपूर्ण कार्य जवाबदेह एवं उत्तरदायी सरकार सुनिश्चित करना है।
- **विधि निर्माण:** विधि बनाना किसी भी विधायिका का मुख्य कार्य है। भारतीय संसद संघ सूची तथा समवर्ती सूची में शामिल समस्त विषयों पर कानून बनाती है। इसके साथ ही, कुछ विशेष स्थितियों में यह राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है।
- **वित्त पर नियंत्रण:** भारतीय संविधान ने संसद (मुख्यतः लोकसभा) को राष्ट्रीय वित्त के नियंत्रण हेतु विशिष्ट शक्तियां सौंपी है।
    - देश की कार्यपालिका या सरकार के पास बिना संसद की मंजूरी के धन व्यय करने का अधिकार नहीं है। इस हेतु प्रत्येक वर्ष वित्त मंत्री द्वारा लोकसभा में इसकी मंजूरी के लिए बजट प्रस्तुत किया जाता है।
    - इसके साथ ही, संसद की दो अतिमहत्त्वपूर्ण समितियां लोक लेखा समिति एवं प्राक्कलन समिति तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, व्यय की वैधता की जांच करते हैं और संसद में चर्चा के लिए रिपोर्ट प्रस्तुत करते हैं।
    - हालाँकि यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रीय वित्त के नियंत्रण की शक्ति विशिष्टतः लोकसभा को सौंपी गयी हैं। राज्यसभा की इसमें कोई विशेष भूमिका नहीं रहती। एक धन विधेयक सिर्फ लोकसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है। लोकसभा में पारित होने के बाद इसे राज्यसभा में भेज दिया जाता है जिसके लिए 14 दिनों के भीतर अपनी सलाहों के साथ या उनके बिना इसे वापस करना अनिवार्य है।
- **विचार-विमर्श:** सभी महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक नीतियों पर संसद में चर्चा की जाती है। यह निसंदेह लोगों के मध्य राजनीतिक जागरूकता बढ़ाने में सहायक है। .
- **संवैधानिक कार्य:** संसद संविधान में निहित एकमात्र निकाय है जो संविधान में संशोधन के लिए प्रक्रिया प्रारंभ कर सकती है। संविधान में संशोधन का कोई भी प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में लाया जा सकता है।
- **निर्वाचन कार्य:** संसद विभिन्न निर्वाचनों को भी संपादित करती है। यह भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेती है तथा अपने विभिन्न समितियों के सदस्यों, पीठासीन अधिकारियों आदि का चुनाव करती है।
- **न्यायिक कार्य:** संसद द्वारा कुछ न्यायिक प्रकृत्ति के कार्यों को भी संपादित किया जाता है। इसे राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों तथा नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक को पद से हटाने की शक्ति प्राप्त है। यह अपनी अवमानना के लिए अपने सदस्यों और अधिकारियों को दंडित कर सकती है। यह शक्ति न्यायिक समीक्षा के अधीन नहीं है।

16. संसद की दक्षता को बढ़ाना

16.1. भारतीय संसद से संबंधित विभिन्न मुद्दे

- **बैठकों की कम संख्या:** 1950 के दशक में संसदीय बैठकों की संख्या एक वर्ष में लगभग 140 दिन थी, जो पिछले पांच वर्षों में घटकर प्रतिवर्ष औसतन 65 दिन हो गयी है।
- **अनुशासन और शिष्टाचार:** रुकावट और व्यवधान के कारण कभी-कभी सदन की कार्यवाही को स्थगित करना पड़ता है। इससे न केवल सदन के समय की बर्बादी होती है, बल्कि संसद के महत्वपूर्ण उद्देश्य भी प्रभावित होते हैं। यह प्रवृत्ति अब पहले से अधिक देखी जा रही है।
- **गुणवत्ताविहीन संसदीय बहस :** पूर्व में संसदीय बहस सामान्यतया राष्ट्रीय और महत्वपूर्ण मुद्दों पर केंद्रित हुआ करती थी। अब बहसें स्थानीय समस्याओं के बारे में अधिक होती हैं एवं अक्सर संकीर्ण दृष्टिकोण से प्रेरित होती हैं।
- **महिलाओं की निम्न भागीदारी:** लोकसभा और राज्यसभा में महिला सांसदों की भागीदारी अत्यल्प रही है (सामान्यतया 12% से अधिक नहीं)।
- विधेयक को चर्चा के बिना या न्यूनतम चर्चा के और ध्वनि मत द्वारा पारित करने की परंपरा में वृद्धि हुई है। साथ ही, निजी सदस्यों के द्वारा प्रस्तुत विधेयकों के पारित न होने की प्रवृत्ति में भी सुधार नहीं हुआ है।

16.2. सांसदों की भूमिका को प्रभावित करने वाले कारक

- वर्ष 1985 में दल-बदल कानून के पारित होने के बाद से सांसदों के लिए संसद में जाने से पहले अपने कार्यों की तैयारी करना कम महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसका कारण यह है कि मतदान की स्थिति में उनके लिए पार्टी व्हिप का पालन करना अनिवार्य सा हो गया है।
- गठबंधन की राजनीति के कारण विभिन्न दलों के मध्य संबंध अधिक जटिल हो गए हैं।

16.3. संसद के खराब कामकाज का प्रभाव

- **सरकार की जवाबदेहिता का अभाव:** यदि संसद ठीक से काम नहीं करती है, तो सरकार अपने कार्यों के लिए जवाबदेह नहीं रह जाती।
- **निम्न उत्पादकता:** वर्ष 2016 के शीतकालीन सत्र में लोकसभा की उत्पादकता केवल 14% तथा राज्य सभा की उत्पादकता केवल 20% थी।
- संसदीय सत्र के संचालन में सार्वजनिक धन की उच्च लागत के कारण, इनके ठीक से न चलने से करदाताओं के पैसे की बर्बादी होती है।

16.4. सुझाव

- **न्यूनतम कार्य दिवस:** संविधान समीक्षा हेतु गठित राष्ट्रीय आयोग ने सिफारिश की है कि राज्यसभा और लोक सभा की बैठकों के लिए न्यूनतम कार्य दिवसों की अवधि क्रमश: 100 और 120 दिन तय की जानी चाहिए। ओडिशा राज्य विधानसभा की बैठक के लिए न्यूनतम 60 दिन अनिवार्य करने वाला पहला राज्य बना है।
- **क्षतिपूर्ति:** यदि अवरोधों के कारण समय ख़राब हो जाता है तो उसकी क्षतिपूर्ति उसी दिन बैठक की समयावधि बढ़ाकर की जानी चाहिए।
- **महिला आरक्षण विधेयक** (108वां संविधान संशोधन विधेयक) को पारित कर महिलाओं के लिए संसद के दोनों सदनों और राज्य विधानसभाओं में 33% आरक्षण सुनिश्चित करना चाहिए।

- **विधायी प्रक्रिया को व्यवस्थित करना:** संसदीय समितियां इस प्रक्रिया में संस्थागत महत्व ग्रहण कर सकती हैं। ये समितियां विधायी इंजीनियरिंग के साथ-साथ आम जनता के हित में मुद्दों को उठाने और उनका पक्ष प्रस्तुत करने के लिए अवसर प्रदान करती हैं।
- **दल-बदल विरोधी कानून में बदलाव:** दल-बदल विरोधी कानून को पुनर्गठित किये जाने की आवश्यकता है। इसे केवल असाधारण परिस्थितियों में उपयोग किया जाना चाहिए, जिससे सांसद स्व-अभिव्यक्ति के अनुसार नियन्त्रण मुक्त होकर निर्णय ले सकें। उदाहरण के लिए, UK में एक स्वतंत्र वोट की अवधारणा है, जिसके अनुसार सांसद अपनी इच्छा से किसी विशेष विधायी विषय पर स्वतंत्र वोट दे सकता है।
- **बजट जांच प्रक्रिया में सुधार:** अमेरिकी संसदीय बजट कार्यालय के समान ही भारत को भी एक संसदीय बजट कार्यालय की जरूरत है। यह एक स्वतंत्र संस्था होगी और व्यय या राजस्व जुटाने की आवश्यकताओं के साथ किसी भी अधिनियम का तकनीकी और उद्देश्यपूर्ण विश्लेषण करने के लिए समर्पित होगी।

17. संसदीय गरिमा का ह्रास

- वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संसद का काम केवल विधि निर्माण ही नहीं है। इसकी अनेक प्रकार की भूमिकाएं है जो परस्पर संबद्ध हैं। एक स्वस्थ लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में संसद की भूमिका कई रूपों में महत्वपूर्ण होती है, जैसे कार्यपालिका को निरंकुश होने से रोकना, राष्ट्रीय एकीकरण के माध्यम से राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को सुनिश्चित करना तथा ऐसी नीतियों का निर्माण करना जो लोक कल्याणकारी राज्य के आदर्शों को स्थापित करें।
- संसद एक सर्वोच्च विधायिका के रूप में विद्यमान है जो लोक आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है। अतः संसद से अपेक्षा होती है कि वह लोकमत का प्रतिनिधित्व करे। जनतांत्रिक शासन प्रणाली की नींव इसी सिद्धांत को प्रदर्शित करता है। लेकिन, हाल के दिनों में संसद की भूमिका में विपथगमन दृष्टिगोचर होता है। दूसरे अर्थों में यह संसद की गरिमा में हुए ह्रास को दर्शाता है। इसे निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है:
  - एकल दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत, संसद की भूमिका प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती है। चूंकि संसद से एक स्वस्थ नीति के निर्माण की अपेक्षा होती है। एकदलीय सरकार व्यवस्था में बहुमत दल की ही कार्यपालिका होती है। अतः संसदीय नियंत्रण की सीमाएं स्थापित होती हैं। इसमें कार्यपालिका की भूमिका ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।
  - लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत सांसदों की स्वतंत्र स्थिति होती है जो लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंतु, दलीय अनुशासन व्यवस्था के विकास से स्वतंत्रता की इस संकल्पना का हनन हुआ है। सदस्यों को अपने दल के प्रति निष्ठावान होना पड़ता है। जबकि संसद में स्वस्थ नीतियों के अंतर्गत कई ऐसे मुद्दे होते हैं जिसे दलगत राजनीति से ऊपर उठकर समझे जाने की आवश्यकता होती है।
  - संसद का एक प्रमुख कार्य है- विधि का निर्माण करना। विधि निर्माण में कई चरण होते हैं जिसमें उस विधि के प्रमुख पक्षों पर चर्चाएं होती है। इससे विधि को सम्यक् लोक आकांक्षाओं के अनुरूप भी बनाया जा सकता है। लेकिन, अधीनस्थ विधान की प्रवृत्तियों से संसद की उस भूमिका का ह्रास हुआ है। उसके अंतर्गत कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हुई है। सरकारी कार्यों का स्वरूप अत्यधिक जटिल हो गया है। विधेयकों के निर्माण में तकनीकी ज्ञान एवं विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है जिसे सरकारी सदस्य ही अधिकांशतः पूरा कर पाते हैं।
  - प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कैबिनेट व्यवस्था का विकास हुआ है। शासन व्यवस्था में निर्णय लेने एवं विधि के निर्माण में कैबिनेट की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी है। वास्तव में जो कार्य विधायिका का है, उसे कुछ अर्थों में कैबिनेट करने लगी है। इससे भी संसद की भूमिका में कमी आई है।
  - राजनीति के अपराधीकरण की प्रक्रिया से भी संसदीय गरिमा का ह्रास हुआ है।
  - हाल के दिनों में मीडिया के स्टिंग ऑपरेशन के माध्यम से संसद सदस्यों द्वारा रिश्वत लेकर प्रश्न पूछने के तथ्य प्रकाश में आए है। यह लोकतंत्र की भावना एवं संसदीय मर्यादा के विरूद्ध है।
  - विगत कुछ वर्षों में सदन की बैठकें भी कम होती जा रही है।

18. दलबदल विरोधी कानून की समीक्षा

मुद्दे

- किसी सदस्य की अयोग्यता से संबंधित मामले में अध्यक्ष के लिए कोई समय सीमा तय नहीं की गयी है जोकि इस क़ानून से बचाव का मुख्य रास्ता है।
- इस क़ानून के अनुसार पीठासीन अधिकारी का निर्णय अंतिम है और न्यायिक समीक्षा के अधीन नहीं है। बाद में, उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि पीठासीन अधिकारी द्वारा अंतिम निर्णय लिए जाने तक न्यायालय कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। हालाँकि, अंतिम निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।
- यद्यपि इस संबंध में न्यायिक समीक्षा का प्रावधान है (किहोतो होलोहन वाद, 1992), फिर भी न्यायपालिका निर्णय-पूर्व अवस्था में असहाय है।

समाधान

- पारदर्शिता सुनिश्चित करने के लिए पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने और प्रक्रिया के प्रत्येक चरण के लिए एक निश्चित और उचित समय सीमा निर्धारित करने की जरुरत है।
- सदस्यों की निरर्हता से संबंधित प्रश्न को सुलझाने की शक्ति अध्यक्ष से लेकर किसी अन्य संवैधानिक निकाय जैसे भारत के निर्वाचन आयोग को सौंपी जा सकती है।
- सर्वोच्च न्यायलय ने 1992 के **किहोतो होलोहन** मामले में यह आदेश दिया कि पार्टी को केवल सरकार की स्थिरता जैसे महत्वपूर्ण स्थिति में ही मत हेतु निर्देश जारी करना चाहिए।
- इस कानून में संशोधन की आवश्यकता है ताकि यह प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र के साथ समन्वय रख सके और पार्टी नेतृत्व के निर्देशों का अंधानुकरण करने की परंपरा विकसित न हो। इससे विधायकों के असहमति के अधिकार और स्वतंत्र सोच को प्रोत्साहन मिलेगा जैसा कि अमेरिका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया आदि जैसे विश्व के अन्य लोकतांत्रिक देशों मे प्रावधान है।

18.1. दलबदल विरोधी कानून के लाभ एवं हानि

लाभ

- यह सदस्यों को पार्टी के प्रति निष्ठावान बनाते हुए सरकार को स्थिरता प्रदान करता है।
- यह सुनिश्चित करता है कि पार्टी के समर्थन और पार्टी के घोषणापत्रों के आधार पर निर्वाचित उम्मीदवार पार्टी की नीतियों के प्रति वफादार रहें। इसके अलावा पार्टी के अनुशासन को बढ़ावा देता है।

हानि

- सांसदों को पार्टी बदलने से रोककर, यह संसद और जनता के प्रति सांसदों की जवाबदेही को कम कर देता है।
- यह पार्टी की नीतियों के खिलाफ असहमति को दबाकर सदस्यों की वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करता है।

18.2. दलबदल विरोधी कानून में सुधार हेतु विभिन्न निकायों/समितियों की सिफारिशें

चुनाव सुधारों पर दिनेश गोस्वामी समिति (1990)

- निरर्हता को ऐसे मुद्दों तक सीमित किया जाना चाहिए जहां (क) कोई सदस्य स्वेच्छा से अपनी राजनीतिक पार्टी की सदस्यता त्याग देता है, (ख) कोई सदस्य मतदान से अनुपस्थित है, या विश्वास प्रस्ताव अथवा अविश्वास प्रस्ताव पर पार्टी व्हिप के विपरीत वोट करता है।

दलबदल विरोधी कानून पर हलीम समिति (1998)

- वाक्यांश 'स्वेच्छा से किसी राजनीतिक पार्टी की सदस्यता त्यागना' को व्यापक रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए।
- सरकारी कार्यालयों का अधिकारी बनने या किसी अन्य पार्टी में शामिल होने पर निषेध जैसे प्रतिबंध निष्कासित सदस्यों पर लगाया जाना चाहिए।
- राजनीतिक दल जैसे शब्द को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए।

विधि आयोग (170 वीं रिपोर्ट, 1999)

- विभाजन और विलय के मामलों में निर्हरता से छूट देने वाले प्रावधानों को हटाया जाना चाहिए।
- दलबदल विरोधी कानून के तहत, चुनाव पूर्व गठबंधनों से राजनीतिक दलों की तरह व्यवहार किया जाना चाहिए।
- सरकार के संकट में होने की स्थिति में राजनीतिक दलों द्वारा व्हिप जारी करने पर एक सीमा होनी चाहिए।

चुनाव आयोग

- चुनाव आयोग की बाध्यकारी सलाह पर राष्ट्रपति / राज्यपाल द्वारा दसवीं अनुसूची के तहत निर्णय लेना चाहिए।

संविधान समीक्षा आयोग (2002)

- दलबदल करने वाले को शेष अवधि के दौरान किसी भी सार्वजनिक पद या लाभप्रद राजनीतिक पद धारण करने से रोक दिया जाना चाहिए।
- किसी सरकार को गिराने के लिए दलबदल करने वाले व्यक्ति के द्वारा दिए गए वोट को अमान्य माना जाना चाहिए।

19. संसद में विपक्ष की भूमिका

- संसदीय लोकतंत्र की परिकल्पना एकदलीय व्यवस्था में संभव नहीं है। यदि किसी संसद या विधानमण्डल में एक ही दल हो और वहीं सरकार का संचालन करे तो इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वह सरकार तानाशाही स्वरूप अपना लेगी। अतः एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में विपक्ष का होना आवश्यक शर्त है। सुदृढ़ और संगठित विपक्ष परिपक्व लोकतंत्र का प्रतीक होता है और ऐसा विपक्ष सदैव वैकल्पिक सरकार देने के लिए तत्पर रहता है। लोकतंत्र की मान्यता है कि एक संगठित तथा निश्चित विपक्ष सरकार के विरूद्ध हो।
- सत्तारूढ़ दल विपक्ष द्वारा किए जाने वाले आलोचना के भय से प्रत्येक क्षण भयभीत रहता है। यह सराहनीय विषय है कि भारत में विपक्ष को सरकारी मान्यता ही नहीं दी गई अपितु विपक्ष के नेता को कैबिनेट स्तर का दर्जा देकर वेतन, भत्ते एवं अन्य सुविधाएं भी प्रदान की जाती है। यह राजनीतिक व्यवस्था सहनशीलता और सौहार्द्र का सर्वोतम पक्ष है।

विपक्ष के कार्य एवं दायित्व

- चुनाव, वास्तविक अर्थों में तब तक निष्पक्ष नहीं हो सकता, जब तक कि निर्वाचकों के सामने कम से कम दो या अधिक विकल्प मौजूद न हों। लोकतंत्र में विविध दलों का रहना आवश्यक है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में तो विपक्ष का दायित्व व्यापक है क्योंकि सत्तारूढ़ दल की तुलना में सभी विपक्षी दलों को सामान्यतया मतदान का बड़ा प्रतिशत प्राप्त होता रहा है। भारत में विपक्ष की भूमिका को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत प्रदर्शित किया जा सकता है:
- **लोकतंत्र को लोकपथ की ओर अग्रसरित करना:** लोकतंत्र में लोकमत सरकार का आधार स्तम्भ होता है। इस संदर्भ में चुनाव वह मानदण्ड है जो यह प्रकट कर देता है कि लोकमत किस राजनीतिक दल के साथ है। चुनाव में विजयी होने वाला दल सरकार का गठन करता है। इसके पश्चात् सत्ताधारी दल अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को जन सामान्य तक पहुंचाने का प्रयास करता है। विपक्ष का लक्ष्य सदैव आगामी चुनावों में सत्ता प्राप्त करना होता है। अतः स्पष्ट है कि लोकतंत्र को लोकपथ पर लाने के लिए विपक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
- **जनता में राजनीतिक जागरूकता लाने का प्रयास करना:** लोकतंत्र में शासन किसी का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं होता। निश्चित समय पर स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव करवाना आवश्यक होता है। सत्तारूढ़ दल अपनी उपलब्धियों पर तथा विपक्ष सत्तारूढ़ दल की गलतियों पर जन समर्थन जुटाकर सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं। विपक्ष सत्तारूढ़ दल की खामियों को प्रचार, भाषण, पोस्टर, दृश्य और श्रव्य साधनों द्वारा प्रकट कर जनता को संदेश देता है कि सत्तारूढ़ दल की नीतियां और नियत में भारी खोट रहा है वरना आमुक कार्य कभी का हो गया होता।
- **सत्तारूढ़ दल की निरंकुश प्रवृत्ति पर रोक:** सत्ता के नशे में सरकार पर यदि कोई नियंत्रण न हो तो संभव है, लोकतंत्र से 'लोक' शब्द का विलोप हो जाए। सरकार की निरंकुश प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए विपक्ष की आवश्यकता होती है। यह सरकार से प्रश्न एवं पूरक प्रश्न पूछ सकती है, जिसका

सत्तापक्ष को संतोषजनक उत्तर देना होता है। वर्तमान में तो सदन की कार्यवाही का सीधा प्रसारण होने से जनता को प्रत्यक्ष विवरण प्राप्त हो जाता है।

- **जनता एवं सरकार के मध्य सेतु:** विपक्ष निरंतर जनता के निकट सम्पर्क में रहकर शासन तथा जनता के बीच एक कड़ी का काम करता है। राजनीतिक दलों के व्यापक फैलाव के परिणामस्वरूप विरोध केवल संसदीय दीर्घाओं तक ही सीमित नहीं रहा है, गांव-गांव तक विरोधी दलों का विकास हो चुका है।
- **सत्तारूढ़ दल की अकर्मण्यता पर प्रहार:** लोकतांत्रिक प्रणाली में लगभग सभी राजनीतिक दल चुनाव के समय अपना चुनावी घोषणा पत्र जारी कर उन्हें देश व प्रदेश की जनता के समक्ष रखते हैं। विपक्षी दलों का यह कर्तव्य है कि यदि सरकार अपने घोषणा पत्र के अनुसार आचरण नहीं करती है या उसके कदम उस ओर नही बढ़ते हैं तो ऐसी स्थिति में विपक्षी दल जनता के सम्मुख इन्हें प्रमुखता से प्रदर्शित करते हैं।

20. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **"संसद प्रतिनिधित्व और विचार-विमर्श का वास्तविक क्षेत्र है,जो इस जटिल देश को एकजुट रखती है। फिर भी, इस बात को नकारना भी मुश्किल है कि संसद की गरिमा कुछ हद तक पिछले वर्षों में घटी है" आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।**

दृष्टिकोण:

- इस प्रश्न में दो मुख्य शब्द हैं- 'प्रतिनिधित्व' और 'विचार-विमर्श'। अपने उत्तर में इन दो मुख्य शब्दों का संदर्भ देना महत्वपूर्ण है।
- इन दिनों समाचारों में संसद की सबसे आम आलोचना बार-बार होने वाला व्यवधान है। हालांकि यह आपके उत्तर में केवल एक बिंदु बनाएगा, केवल इस विशेष बिंदु पर बहुत अधिक बल न दें। उत्तर में आलोचना के अन्य बिंदुओं को भी समझाया जाना चाहिए।
- सुधार हेतु आवश्यक सुझाव और संसद के लिए सकारात्मक संभावना के साथ उत्तर समाप्त कीजिए।

उत्तर:

- विचार-विमर्श के स्थल के रूप में, संसद विभिन्न विचारों को प्रकट करने और नाना प्रकार के दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करने का साधन है और यहाँ आदर्श रूप से मजबूत तर्क की जीत होती है।
- हालांकि, संसद में बिना किसी व्यवधान के वाद-विवाद बनाए रखना आसान नहीं रहा है। मैराथन सत्रों में विस्तारित अर्थपूर्ण बहसें आजकल बहुत कम हो गई हैं। इसके विपरीत, किसी भी प्रकार के असंगत मुद्दों पर व्यवधान और नारेबाजी प्राय: होती रहती है। प्राय:, कुछ लोग पूरी संसद को बाधित कर देते हैं। इस संबंध में एक मामला महिला आरक्षण विधेयक है।
- दूसरा मुद्दा संसद का अन्य संस्थानों के साथ संवेदनशील संतुलन का है - क्योंकि संसद को लांघते हुए अधिक से अधिक महत्वपूर्ण निर्णय नियामकों या अनिर्वाचित निकायों को दिए जा रहे हैं। सरकार द्वारा की इसकी निगरानी भी निराशाजनक रही है।
- यहां तक कि न्यायपालिका भी शासन के क्षेत्रों में हस्तक्षेप कर रही है, जिससे प्राय: संसद के साथ टकराव होता है। हाल के वर्षों में, अन्ना हजारे के नेतृत्व वाले आंदोलन यह सुझाव देता हुआ प्रतीत होता है कि "नागरिक समाज" संसद की तुलना में लोकप्रिय जनइच्छा की अधिक वास्तविक अभिव्यक्ति है।
- आने वाले वर्षों में, संसद को इस बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार उसे अपनी कार्यप्रणाली का सर्वोत्तम रीति से प्रबंध करना चाहिए और अपने प्राधिकार को काम में लाना चाहिए।

- प्रतिनिधित्व के एक मंच के रूप में, संसद ने भारतीय लोकतंत्र में विचार -मंथन का कार्य किया है। इसकी सदस्यता और संरचना उन लोगों के बहु-रंगे हितों को प्रतिबिंबित करती है जो इसे चुनते हैं।
- साथ ही, भारत की संसद वास्तव में प्रतिनिधायी होने के निकट कहीं भी नहीं है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटों और पिछड़े वर्गों के राजनीतिक आंदोलन के चलते, अब इन सामाजिक समूहों से भी सदस्य आ रहे हैं। हालांकि महिलाओं और मुसलमानों का अभी भी कम प्रतिनिधित्व है, और संपन्न लोग भारत के विधि-निर्माता निकायों पर हावी हैं। निस्संदेह, यह भी बहसों को तोड़ता-मरोड़ता है।
- भारत दल-बदल की रोकथाम करने और सांसदों की खरीद-फरोख्त पर अंकुश लगाने वाले कानूनों के साथ निर्णायक रूप से बहुदलीय प्रणाली की ओर बढ़ा है। लेकिन, हर पांच वर्ष में सरकार के लिए मतदान करने तक जनता की भूमिका सीमित होने के साथ सत्ता अभी भी कुछ लोगों के हाथों में केंद्रित है।
- आत्म-मूल्यांकन और नयापन केवल संसद के भीतर से ही आ सकता है। संसद को विचार करना चाहिए कि किस प्रकार अलग-अलग सांसदों को अधिक से अधिक परिणाम देना चाहिए, या संसदीय समितियों को मजबूत बनाना चाहिए, कार्यपालिका को जवाबदेह बनाना चाहिए, किस प्रकार अपना शुद्धीकरण करना चाहिए – जैसा कि उदाहरण के लिए, वोट के लिए नोट के घोटाले के बाद किया था।
- हालांकि, इन चुनौतियों के बावजूद, भारतीय संसद का अन्य कोई भी बेहतर विकल्प उपलब्ध नहीं है।

2. हालांकि भारत के संविधान के 52वें संशोधन का उद्देश्य संसदीय लोकतंत्र को मजबूत बनाना था, लेकिन यह अनैतिक राजनीतिक दल-बदल पर अंकुश लगाने में विफल रहा है। आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

दृष्टिकोण:

जिस आशय से 52वां संशोधन किया गया था, उसकी व्याख्या कीजिए और फिर समझाइये कि अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में यह कहां तक सफल रहा। मात्र संशोधन के प्रावधान प्रदान करना पर्याप्त नहीं होगा।

उत्तर:

संविधान की दसवीं अनुसूची, पद या अन्य भौतिक लाभों के आकर्षण से अभिप्रेरित होकर राजनीतिक दल-बदल की कुचेष्टा की रोकथाम करने के लिए अभिकल्पित की गई है। इसका उद्देश्य असैद्धांतिक राजनीतिक दल-बदल पर अँकुश लगाकर भारतीय संसदीय लोकतंत्र का ताना-बाना मजबूत बनाना है।

लाभ:

1. यह विधायकों की दल बदलने की प्रवृत्ति पर लगाम लगाकर राजनीतिक प्रणाली में अधिक से अधिक स्थिरता लाता है।
2. यह विलय के माध्यम से दलों के लोकतांत्रिक पुनर्गठन की सुविधा प्रदान करता है।
3. यह राजनीतिक स्तर पर भ्रष्टाचार और अनियमित चुनावों पर किया जाने वाला गैर-विकासात्मक व्यय भी कम करता है।
4. यह पहली बार, राजनीतिक दलों के अस्तित्व के लिए सुस्पष्ट संवैधानिक मान्यता देता है।

आलोचना:

इसके प्रचालन में देखी गई बड़ी कमी निम्नानुसार है:

- यह असहमति और दल-बदल के बीच भेद नहीं करता है। यह विधायक की असहमति और अंत:करण की स्वतंत्रता के अधिकार पर अंकुश लगाता है।
- व्यक्तिगत और सामूहिक दल-बदल के बीच इसका भेद अतार्किक है।

- यह विधायक की विधायिका से बाहर उसकी गतिविधियों के लिए दल से उसके निष्कासन का प्रावधान नहीं करता है।
- स्वतंत्र सदस्य और मनोनीत सदस्य के बीच इसका भेद अतार्किक है।
- जिस प्रकार इसने निर्णय लेने का अधिकार निहित किया है उसकी दो आधारों पर आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम, वह निष्पक्ष तरीके से अपने अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता है। द्वितिय, उसके पास कानूनी ज्ञान और अनुभव की कमी होती है।

निष्कर्ष:

यद्यपि दल-बदल विरोधी कानून का हमारे राजनीतिक जीवन का परिमार्जन करने की दिशा में एक साहसी कदम के रूप में अभिवादन किया गया है(राजीव गांधी) , लेकिन इसने अपने प्रचालन में बहुत सी कमियां प्रकट की है और दल-बदल की रोकथाम करने में विफल रहा है। बाद में, 2003 के 91वें संशोधन अधिनियम ने प्रावधान में संशोधन किया, अर्थात दल-बदल के आधार पर अयोग्यता दल में विभाजन की स्थिति में नहीं लागू होती है।

3. संसदीय विशेषाधिकार से आप क्या समझते हैं? इससे संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की चर्चा कीजिए।

दृष्टिकोण:

- व्याख्या कीजिए कि सामान्य अर्थ में विशेषाधिकार से क्या अभिप्राय है तथा विशिष्ट रूप से 'संसदीय विशेषाधिकार' का क्या अर्थ है।
- संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।
- चूंकि यह प्रश्न केवल संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की चर्चा करने की अपेक्षा रखता है इसलिए सही दृष्टिकोण यही होगा कि आप इस मुद्दे पर अपने व्यक्तिगत सुझावों एवं स्वयं के विचार देने से बचे।
- इस परिकल्पना की आलोचना न करना ही बेहतर होगा भले पूर्वकाल में इनके दुरूपयोग की कुछ घटनाएं ही क्यों न सामने आई हों।

उत्तर:

- विशेषाधिकार का अर्थ है, एक विशिष्ट अथवा अपवादस्वरूप अधिकार अथवा स्वतंत्रता अथवा उन्मुक्तियाँ जिसका उपयोग एक वर्ग-विशेष अथवा व्यक्ति द्वारा किया जाता है।
- संसदीय विशेषाधिकार अनुच्छेद 105 में शक्तियों एवं विशेषाधिकारों आदि के रूप में वर्णित है। जो संसद के दोनों सदनों, इनके सदस्यों और इनकी समितियों को प्राप्त होते हैं। अनुच्छेद 104 जो राज्य विधान मण्डल, उनकी समितियों तथा इनके सदस्यों को विशेषाधिकार प्रदान करता है, वास्तव में अनुच्छेद 105 का ही प्रतिरूप है।
- यह प्रत्येक सदस्य को संसद में भाषण देने की स्वतंत्रता तथा संसद या इसकी समितियों में दिए गए वक्तव्य या मत के लिए किसी भी न्यायालय की किसी भी कार्यवाही से उन्मुक्तियाँ प्रदान करने की गारन्टी देता है।
- इसके अन्तर्गत संसद के किसी भी सदन की रिपोर्ट ,वाद-विवाद, मत एवं कार्यवाही को प्रकाशित न करने की उन्मुक्ति प्रदान की गई है।

संसदीय विशेषाधिकार का महत्व :

- संसदीय कार्यों के सुचारू रूप से निर्वहन के लिए संविधान व्यक्तिगत एवं सामूहिक दो प्रकार के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्रदान करता है। व्यक्तिगत विशेषाधिकार का उपयोग सदन के प्रत्येक सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप में किया जाता है तथा सामूहिक विशेषाधिकार का उपयोग संसद के दोनों सदन सामूहिक से करते हैं।
- व्यक्तिगत विशेषाधिकार इसलिए होते हैं क्योंकि सदस्यों की निर्बाध् सेवा के बिना सदन अपना कार्य नहीं कर सकता। इन विशेषाधिकार के बिना सदन न तो अपनी स्वायत्तता, महानता तथा सम्मान को संभाल सकता है और न ही अपने सदस्यों को किसी भी संसदीय उत्तरदायित्वों के निर्वहन हेतु सुरक्षा प्रदान कर सकता है।

- ये विशेषाधिकार सदस्यों को केवल तभी तक उपलब्ध होते हैं जब तक वह संसद में जन प्रतिनिधि के रूप में संसदीय उत्तरदायित्वों का निर्वहन कर रहा हो। ये विशेषाधिकार सदस्यों के सामान्य सामाजिक दायित्वों पर लागू नहीं होते हैं।

संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित संवैधानिक प्रावधान :

- संविधान के अनुच्छेद 105(3) इस बात का उल्लेख करता है कि संविधान द्वारा प्रदत्त विशेषाधिकारों के अलावा संसद समय-समय पर विधि् द्वारा इसके विशेषाधिकारों को परिभाषित कर सकती है।
- संसद ने अब तक सदनों, सदस्यों और समितियों के विशेषाधिकारों उन्मुक्तियें को संहिताबद्ध करने के संबंध् में कोई विशेष प्रावधान नहीं किया है, जो भी किया गया है वह संसदीय प्रक्रिया नियम में उल्लिखित है।
- यह प्रावधान मुख्यतः दो प्रश्न पर विचार करता हैः विशेषाधिकार का प्रश्न तथा सदस्यों की गिरफ्रतारी अथवा नजरबन्दी के प्रश्न।
- जब किसी सदस्य को आपराधिक मामलों के आधार पर गिरफ्तार या नजरबन्द किया गया हो अथवा किसी न्यायालय द्वारा कारावास की सजा दी गई हो तो सम्बंधित प्राधिकारी को तुरन्त इसकी सूचना स्पीकर अथवा अध्यक्ष को देनी चाहिए तथा उसकी गिरफ्तारी, नजरबन्दी अथवा कारावास के कारणों का भी उल्लेख करना चाहिए।
- विशेषाधिकार के प्रश्न को किसी भी सदस्य द्वारा उठाया जा सकता है, यदि उठाया गया प्रश्न नियमानुकूल हो। अध्यक्ष इसे स्वीकार कर सकता है तथा इसे सदन के विशेषाधिकार समिति को सौप सकता है। विशेषाधिकार समिति के सिफारिशों के आधार पर सदन उपयुक्त कार्यवाही कर सकता है।

4. भारत में विधायी प्रक्रिया में जन भागीदारी की युक्तियों पर चर्चा कीजिए। कुछ उपाय बताइये जिससे कि इस भागीदारी को और बढ़ाया जा सके।

दृष्टिकोण:

- वैधानिक प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी के महत्व को संक्षेप में बताए।
- वैधानिक प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों का उल्लेख कीजिए और जन-भागीदारी व्यवस्था किस प्रकार प्रत्येक स्तर में उपस्थित है।
- कुछ ऐसे उपायों का भी उल्लेख कीजिए जिससे वैधानिक प्रक्रिया में जन भागीदारी को बढ़ाया जा सके।

उत्तरः

वैधानिक प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी की क्षमता लोकतंत्र का आधार है। वैधानिक प्रक्रिया में जन भागीदारी परिणाम न केवल अच्छे कानूनों हैं , बल्कि यह संशोधनों की बढ़त को भी कम करती है। लोकतांत्रिक सरकारें कानून निर्माण में विचार-विमर्श की प्रक्रिया के माध्यम से जन-भागीदारी को स्थान प्रदान करती है। सामान्य जन वैधानिक प्रक्रिया के निम्न तीन स्तरों का अनुगमन करके भागीदारी कर सकते हैं।

- प्रारम्भिक वैधानिक स्तर, जब प्रस्तावित कानून की रूपरेखा पूर्वगामी प्रस्तावना के रूप में संसद में पेश की जाती है।
- वैधानिक स्तर, जो बिल के दाखिल करने के साथ शुरू होता है और बिल के पास होने के साथ समाप्त होता है।
- तदुपरांत वैधानिक स्तर, जो बिल के कानून बनने के साथ शुरू होता है।

पूर्व-वैधानिक स्तर

कानून या तो साझेदारों के द्वारा शुरू किया जा सकता है या फिर सरकार के अन्दर के लोगों के द्वारा। कुछ विधेयक जैसे सूचना का अधिकार विधेयक और जनलोकपाल विधेयक, समाज-सेवी संगठनों द्वारा तैयार किए गए। विधेयक के प्रारूप के संबंध में जनता की भागीदारी-वैधानिक रूप से अनिवार्य नहीं है। फिर भी सरकार ने जनता की भागीदारी बढ़ाने के लिए विभिन्न कदम उठाये है।

कुछ मामलों में सरकार ने प्रस्तावित विधेयक बनाने के लिए इस तरह के भागीदारों को आमंत्रित किया है। उदाहरण के लिए सूचना तकनीकी विभाग ने इलेक्ट्रानिक सेवा प्रदाता अध्यादेश 2011, विधेयक का प्रारूप तैयार करने के लिए विशेषज्ञों की राय मांगी है। वित्त मंत्रालय ने प्रत्यक्ष कर-संहिता का प्रारूप तैयार करने के लिए क्षेत्रीय सलाह मांगी थी।

वैधानिक स्तर

वैधानिक स्तर पर जनता की भागीदारी संसदीय समितियों द्वारा निश्चित की जा सकती है। 1993 तक विधेयक कभी-कभी तदर्थ प्रवर समितियों या चयनित संसदीय समितियों को भेज दिये जाते थे। तब से विभाग से संबंधित स्थायी समितियाँ (DRSCs) विधेयक का सूक्ष्म परीक्षण करने के लिए बनायी गयीं। इस तरह की चौबीस समितियाँ (DRSCs) बनायी गयी हैं, जो केन्द्र सरकार के सभी मंत्रालयों के संबंध् में बनायी गयी हैं। एक बार यह विधेयक संसद में रखे जाने के बाद इनकों इन स्थायी समितियों (DRSCs)को भेजा जा सकता है।

यह समितियाँ सूचना प्रकाशित करती हैं और एक निश्चित समयान्तराल में संबंधित लोगों से राय मांगती हैं। ज्यादातर मामलों में 15 दिन का समय अपनी राय भेजने के लिए दिया जाता है। जनता की भागीदारी का स्तर इन स्थायी समितियों के साथ अलग-अलग विधेयकों के मामलों में अलग-अलग होता है।

वैधानिक स्तर के बाद

तत्कालीन कानूनों का सूक्ष्म परीक्षण भारत में अनिवार्य नहीं है फिर भी कानूनों की समीक्षा के लिए अलग-अलग तरीके यहाँ पर मौजूद हैं। विभिन्न आयोग जैसे-विधि् आयोग, विधान पर समीक्षा करता है। 1956 में अपनी स्थापना के बाद से विधि् आयोग ने अब तक 236 रिपोर्ट सौपे हैं। यह आयोग बताता है कि मौजूदा कानूनों में संशोधन की जरूरत है या उन्हें समाप्त करने की जरूरत है। कानूनों की समीक्षा की तैयारी के संबंध में यह आयोग अपना प्रारूप जनता के बीच समीक्षा के लिए भेजता है और उनकी राय मांगता है। यह आयोग प्रस्तावित रणनीति पर जनता की राय लेने के लिए देश के विभिन्न भागों में सम्मेलन और कार्यशालाएं आयोजित करवाता है। 2011 में इस आयोग ने अपने वेबसाइट पर एक प्रश्न तालिका दी थी, जिसमें जनता से भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा - 498 A पर अपनी राय देने के लिए कहा गया था।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना मानवाधिकारों के संबंध में कानूनी सुरक्षा की समीक्षा करने के लिए की गयी थी। यह गैर-सरकारी संगठनों और मानवाधिकार मामलों के जानकारों से सलाह-मशविरा करता है।

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना जन-प्रशासन प्रणाली में सुधार के लिए की गयी थी। अपनी रिपोर्ट बनाने के लिए इस आयोग ने बहुत सारे कानूनों की समीक्षा की और बहुत सारे भागीदारों से बात-चीत की। जैसे कि इस आयोग की रिपोर्ट सूचना के अधिकार 2006 और जन आदेश 2007 के संबंध में है।

वैधानिक प्रक्रिया में जनता की भागीदारी को बढ़ाने के लिए कुछ सिफारिशें संविधान समीक्षा पर बने राष्ट्रीय आयोग ने अपनी 2002 की रिपोर्ट में किया है।

आयोग ने सुझाव दिया कि विधेयक का प्रारूप गहनता और सूक्ष्मता से जानकारों और सामान्य जनता द्वारा समान रूप से जाँचा परखा जाना चाहिए। प्रस्तावित विधान, जनता के विचार-विमर्श के लिए व्यवसायिक संघों, व्यवसायिक संगठनों, कारोबारी संघों, शिक्षण-संस्थानों, अन्य रूचि लेने वाले लोगों के बीच में प्रचारित किया जाना चाहिए।

इस आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि जनता से विधेयक पर राय लेने के पश्चात् इस विधेयक को स्थायी समितियों को उनके विचार और सूक्ष्म परीक्षण के लिए भेज देना चाहिए। यह भी विचार रखा गया था कि अगर जरूरत हो तो स्थायी समितियाँ इन विधेयकों पर जन सुनवाई भी करा सकती है।

उपर्युक्त सारे-सलाहों के अलावा ऐसे बहुत सारे तरीके हैं, जिससे किसरकार विधायी प्रक्रिया में जन-भागीदारी को और गहराई से सुनिश्चित कर सकती है:

- प्रथमतया मंत्रालयों के लिए यह आवश्यक किया जा सकता है कि वे विधेयक के प्रारूप को उचित समय के लिए प्रकाशित करें और इसे वे विभिन्न मीडिया के द्वारा प्रचारित करें।
- द्वितीय यह आवश्यक होना चाहिए कि यह विधेयक स्थायी समितियों को जाँच के लिए भेजे जाएं। यह पूर्व वैधानिक चरण और वैधानिक चरण दोनों चरणों पर किया जा सकता है। इस समितियों के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वे विभिन्न भागीदारों से बड़े पैमाने पर सलाह मांगे। (गैर-सरकारी संगठन, राज्य और स्थानीय सरकारें, विशेष रूचि रखने वाले समूह, शिक्षण-संस्थान और विधि्-विशेषज्ञ इसमें हो सकते हैं।) जन भागीदारी को क्षेत्रीय कार्यलयों तक पहुँच के द्वारा भी बढ़ाया जा सकता है। इसके अलावा विभिन्न मीडिया-माध्यमों में विधेयक को प्रकाशित किया जा सकता है। साथ ही जन-भागीदारी कार्यालय बनाए जा सकते हैं, जो सीधे तौर पर जनता से जुड़े हों।
- तृतीय प्रतिपुष्टि प्रक्रिया में पारदर्शिता बढाने के लिए सरकार को एक रिपोर्ट प्रकाशित करनी चाहिए, जो यह दिखाए कि भागीदारों के सुझाव कानून बनाने में किस प्रकार शामिल किये गये।
- चतुर्थ अधिकतर कानूनो को हर तीन से पाँच साल के बाद जनता की पराविधायी समीक्षा हेतु प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यह तभी किया जा सकता है जब प्रत्येक विधेयक में एक व्याख्यान नोट हो जो उस मापदण्ड या उस मानक को निर्धारित करके जिसके आधार पर भविष्य में विधेयक या कानून की प्रभावशीलता जाँची या मापी जा सके। यह उत्तरदायित्व किसी विशेष समिति को दिया जा सकता है।

इस तरह के उपायों से एक ठोस कानून की प्राप्ति होगी जिसमें न्यूनतम संशोधनों की आवश्यकता होगी। साथ ही इन उद्देश्यों की भी प्राप्ति होगी जिसके लिए ये कानून बनाए गए थे।

5. भारतीय संसद में समितियों की आवश्यकता पर चर्चा कीजिए तथा उनके प्रकार एवं सरंचना की व्याख्या कीजिए।

दृष्टिकोण :

- संसदीय प्रणाली में समितियों की आवश्यकता तथा उनके महत्व पर चर्चा कीजिए।
- समितियों के प्रकार तथा उनकी भूमिका एवं संरचना की चर्चा कीजिए।

उत्तरः

वर्तमान समय में संसद द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यो में न सिर्फ विविधता एवं जटिलता है, बल्कि संसद पर कार्यो का बोझ भी है। चूंकि इन कार्यों की निस्तारण अवधि भी सीमित होती है, इसलिए संसद के समक्ष लाए गए सभी विधायी एवं अन्य मुद्दों पर वह बारीकी से छानबीन नहीं कर सकती है। इसका सबसे अच्छा उपाय यही है कि इस प्रकार के कार्यों को सदन से सम्बन्धित समितियों (जिसे संसदीय समिति के रूप में जाना जाता है) को सौप दिये जाएं।

संसद के कुछ सदस्यों को मिलाकर इसका गठन होता है। ये समितियाँ प्रस्तावित विधेयकों की समीक्षा करती हैं एवं प्रशासनिक शाखाओं के कार्यकलापों का पर्यवेक्षण करती हैं तथा सरकारी व्यय को कम करती हैं। संसदीय समितियाँ संसद को अधिक दक्ष एवं निपुण बनाती हैं।

- इन समितियों के प्रतिवेदनों (रिपोर्ट) पर संसद में बहस कराई जा सकती है।
- समितियाँ सभी दलों में आम सहमति बनाने के लिए एक मंच प्रदान करती है। इसके साथ ही स्वतंत्र विशेषज्ञों और हितधरकों के साथ परामर्श से विषयों की गहन समझ विकसित करने में मदद मिलती है।

<u>भारत में समिति-व्यवस्था</u>

भारत में दो प्रकार की संसदीय समितियाँ हैः-

a. स्थायी समिति

b. तदर्थ समिति

स्थायी समितियाँ विवरण	**वित्तीय समितियाँ** (प्राक्कलन समिति, सार्वजानिक उपक्रमों से संबंधित समिति एवं लोक लेखा समिति) **विभागीय स्थायी समितियाँ** (कृषि, वाणिज्य, गृहकार्य, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण आदि से संबंधित समितियाँ) **अन्य स्थायी समितियाँ** (कार्य मंत्रणा समिति, याचिका समिति, अधीनस्थ विधान संबंधित समिति, सरकारी आश्वासनों संबंधित समिति, सदस्यों एवं लाभ के पदों पर नियुक्त व्यक्तियों के वेतन एवं भत्तों से संबंधित संयुक्त समिति)	• अनन्य रूप से लोकसभा सचिवालय के अंतर्गत आती हैं। • मंत्री इसका सदस्य बनने के लिए अर्ह नहीं होता है । • वर्ष 1967 से चली आ रही परामपरानुसार विपक्ष के किसी सदस्य को इस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है। • लोक लेखा समिति किसी भी प्रकार की अनियमितता में गैर-सरकारी गवाहों को तथा उनके द्वारा दिए गए प्रमाणों की भी जाँच कर सकती है। • **प्राक्कलन समिति** में 30 सदस्य होते हैं जो केवल लोकसभा से लिए जाते है। • **लोक लेखा समिति तथा सार्वजनिक उपक्रमों** से संबंधित समिति में कुल 22 सदस्यों में से 7 राज्यसभा से चुने जाते हैं । • कुल 24 प्रकार की विभागों से संबंधित स्थायी समितियाँ होती हैं। गृह मामलों की समिति, वित्त मामलों की समिति एवं विदेश मामलों की समिति में परामपरानुसार अध्यक्ष विपक्ष का कोई सदस्य होता है। • प्रत्येक विभागीय समिति में कुल 31 सदस्य होते हैं जिनमें से 21 लोकसभा तथा 10 राज्यसभा से	• लोकसेवा समिति भारत सरकार के लक्ष्य के व्यय के लिए संसद द्वारा प्रदान की गयी राशियों का विनियोग दर्शाने वाले लेखाओं की जाँच करती है। • प्राक्कलन समिति मंत्रालयों के बजट अनुमानों की जाँच करती है। • सार्वजनिक उपक्रमों से संबंधित समिति सार्वजनिक उपक्रमों के काम-काज की जाँच करती है। • विभागों से संबंधित स्थायी समितियाँ प्रत्येक मंत्रालय पर निगरानी सुनिश्चित करने के लिए 1993 में गठित की गयी थीं। • प्रत्येक सदन में इस प्रकार की अनेक समितियाँ है जो संसद से संबंधित अन्य मुद्दों तथा सदन के रोजमर्रा के कामकाज का निरीक्षण करती है।

		नियुक्त किए जाते हैं। • प्रत्येक समिति में दलों के बीच सीटों का आवंटन सदन में उनकी सदस्य संख्या के अनुपात में किया जाता है। • समिति के अध्यक्ष की नियुक्ति इसके सदस्यों के बीच से सदन के अनुसार लोकसभा अध्यक्ष अथवा राज्यसभा के सभापति करता है। • मंत्री इसका सदस्य बनने हेतु अर्ह नहीं होता। • लोकसभा में 16 समितियाँ तथा राज्यसभा में 12 समितियाँ है। • सदस्यों की संख्या 7 एवं 26 के बीच हो सकती है। कुछ की अवधि एक वर्ष निश्चित होती है तथा कुछ की अवधि् अनिश्चित होती है।	
तदर्थ समितियाँ विवरण	आचरण समिति, सांसद स्थानीय क्षेत्र विकास समिति ,लोकसभा के सदस्यों के लिए कंप्यूटर प्रावधन समिति, वक्फ़ पर संयुक्त समिति, रेल समिति, उर्वरक मूल्य निर्धरण समिति आदि।	• वक्फ़ पर संयुक्त समिति को छोड़कर शेष सभी समितियाँ लोकसभा में कार्य करती है। • दोनों सदनों से सदस्य इन समितियों के लिए चुने जाते है तथा इनकी संख्या 10 से 30 के बीच हो सकती है।	• इन समितियों की नियुक्तियाँ विशेष उद्देश्यों के लिए होती है जैसे टेलीकॉम लाइसेंस और स्पेक्ट्रम के मूल्य निर्धरण की जाँच के लिए नियुक्त संयुक्त समिति। इन समितियों को प्रदत्त कार्यो के होने के उपरान्त इनको समाप्त किया जा सकता है। • लोकसभा ने आचरण समिति, सांसद स्थानीय क्षेत्र विकास समिति तथा कम्प्यूटर समिति को तदर्थ समितियों के रूप में वर्गीकृत किया है।

सन् 2002 में संविधान के कामकाज की समीक्षा के लिए राष्ट्रीय आयोग (NCRWC)

संसदीय कार्यप्रणाली में सम्मिलित समितियों की कुछ कमियों को रेखांकित किया जो निम्नलिखित है:

- बैठकों में सांसदों की कम उपस्थिति,
- एक समिति के अंतर्गत कई मंत्रालय,
- राजनीतिक दलों द्वारा समितियों में सांसदों को नामांकित करते समय मानदंडों का पालन न करना।
- विभागीय स्थायी समितियाँ के पास चूंकि केवल एक वर्ष का समय होता है, इसलिए इन्हें विशेषता नहीं प्राप्त हो पाता है।

संविधान के कामकाज की समीक्षा के लिए राष्ट्रीय आयोग (NCRWC) की सिफारिशें :

- विभागीय स्थायी समितियाँ की समय-समय पर समीक्षा की जानी चाहिए तथा सभी विधेयकों को विभागीय स्थायी समितियाँ को भेजा जाना चाहिए। वे जनता की राय जानने के लिए जनमत संग्रह तथा विशेषज्ञ सलाहकारों से परामर्श भी कर सकते है। विभागीय स्थायी समितियाँ द्वारा विधेयक को द्वितीय पाठन के दौरान अंतिम रूप दिया जा सकता है।
- सभी समितियों के प्रमुख प्रतिवेदनों पर संसद में चर्चा होनी चाहिए, विशेष रूप से ऐसे मामले में जहाँ समिति एवं सरकार में मतभेद हो।

6. राज्यसभा संसद का गौण सदन नहीं है, बल्कि द्वितीय सदन है, परीक्षण कीजिए।

दृष्टिकोण:

- तार्किक रूप में एक गौण सदन के रूप में राज्यसभा की आलोचना का परीक्षण कीजिए।
- उसके बाद इसके विपक्ष में विचार कीजिए कि राज्यसभा गौण सदन नहीं है तथा इसे न्यायसंगत ठहराने के लिए लोकसभा की तुलना में राज्यसभा की शक्तियों एवं कार्यों का उल्लेख कीजिए।
- अपने स्वयं के विचार देते हुए उत्तर को समाप्त करें।

उत्तर:

राज्यसभा अथवा राज्य परिषद भारतीय संसद का उच्च सदन है। गौण सदन के रूप में इसकी आलोचना निम्नलिखित कारणों से होती है:

- यह न तो सरकार बना सकती है और न ही सरकार गिरा सकती है। यह अविश्वास प्रस्ताव पास नहीं कर सकती है।
- विधेयक एवं कुछ वित्तीय विधेयकों पर इसका कोई नियन्त्रण नहीं होता है।
- लोकसभा की सदस्य संख्या की तुलना में राज्यसभा की सदस्य संख्या आधी होने के कारण संयुक्त बैठकों के अवसर पर अलाभदायक स्थिति।

उपरोक्त गिनाए गए बिन्दुओं को छोड़कर राज्यसभा गौण सदन नहीं है, क्योंकि निम्नलिखित मामलों में यह लोकसभा की भांति ही महत्त्वपूर्ण एवं समान भूमिका निभाता है:

- सामान्य विधेयक के स्तर पर सम्बन्ध में
- संवैधनिक संशोधन के स्तर पर सम्बन्ध में
- आपातकाल की उद्घोषणा के सम्बन्ध में
- राष्ट्रपति और उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर महाभियोग के सम्बन्ध में

कुछ मामलों में राज्यसभा को विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, जो लोकसभा के पास नहीं हैं वे भिन्न हैं:

- यह संसद को राज्य सूची के विषयों पर विधि् बनाने हेतु अधिकृत करता है (अनुच्छेद-249)
- नई अखिल भारतीय सेवा को सृजित करने में (अनुच्छेद-312)
- आपातकाल की स्वीकृति अथवा समय सीमा में विस्तार ऐसे समय में जबकि लोकसभा का सत्रावसान अथवा विघटन हो गया है।
- उपराष्ट्रपति को पद से हटाने की प्रक्रिया को आरम्भ करने के सम्बन्ध में।

यद्यपि राज्यसभा के पास कुछ मामलों में सीमित शक्तियाँ हैं फिर भी यह भारतीय लोकतन्त्र में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि राज्य सभा गौण सदन नहीं है, बल्कि यह भारतीय संसद का द्वितीय सदन है।

7. यदि लोकसभा एक समय विशेष में राष्ट्र के मानस को इंगित करती है, तो राज्यसभा देश के विविध प्रदेशों से सम्बन्धित दीर्घ अवधि वाली चिंताओं के योग को इंगित करती है। वर्तमान परिदृश्य में राज्य-सभा की प्रासंगिकता पर टिप्पणी कीजिए।

दृष्टिकोण :

यह प्रश्न दोनों सदनों के आधारभूत पहलुओं के विषय में है। इस सन्दर्भ में दिए गए कथन की विस्तृत विवेचना करें। इसके अतिरिक्त, वर्तमान सन्दर्भ में इस बात का विश्लेषण करें कि किस प्रकार लोक सभा में कमजोर विपक्ष की स्थिति में राज्य सभा सरकार पर प्रभावी नियंत्रण कायम रखने में एक संस्था के रूप में कार्य करेगी और यह राज्यसभा होगी जो लोक सभा के स्थान पर विपक्ष का कार्यक्षेत्र होगा। इसके अलावा अमेरिका में संघीय इकाइओं की प्रतनिधि संस्था के रूप में सीनेट तथा भारत में राज्य सभा की भूमिकाओं में तुलना की जा सकती है।

उत्तर :

राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव राज्यों की विधानमंडलों द्वारा किया जाता है। किसी राज्य को आवंटित सीटों की संख्या उसकी आबादी के समानुपाती होती है। लोक सभा के ठीक उलट, जिसका चुनाव प्रत्येक पांच वर्ष पर होता है, राज्य सभा के सदस्यों की पूरी संख्या की एक तिहाई का चुनाव प्रत्येक दो वर्ष पर होता है और प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल छः वर्षों का होता है। सारे महत्वपूर्ण कानूनों को राज्य सभा द्वारा भी पास किया जाना आवश्यक होता है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय कानून के निर्माण में राज्यों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना है।

यद्यपि राज्य सभा को लोक सभा के द्वारा पास किये गए विधेयकों को अस्वीकार करने का अधिकार होता है, फिर भी इसे मुख्यतः संघवाद की सांकेतिक स्वीकृति, रबर स्टैंप वाली संस्था समझा जाता है या अधिक से अधिक तकनीकी विशेषज्ञों के लिए चुनाव जीतने के लिए आवश्यक जन समर्थन न होने के बावजूद कानूनी अधिकार प्रदान करने के रास्ते के रूप में देखा जाता है।

- वर्तमान स्थिति में, भारतीय जनता पार्टी की सफलता ने दोनों सदनों के बीच एक अभूतपूर्व विभाजन की दीवार खड़ी कर दी है: एकल पार्टी जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है जबकि राज्य सभा में वह अल्पमत में है। भारतीय जनता पार्टी की नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) को लोक सभा में 543 में से 336 सीटें प्राप्त हैं जबकि उसे और उसके चुनाव पूर्व गठबंधन को राज्य सभा में 57 सीटें ही प्राप्त हैं।
- वर्तमान निरूपण में, राज्य सभा एनडीए के विरुद्ध भरोसेमंद विपक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका में दिख सकती है। यदि इसके सदस्यों ने इस भूमिका में आने की सोची तो राज्य सभा संवैधानिक रूप से अपने लिए अभिकल्पित अधिदेश को साकार कर सकता है जो वर्तमान समय के मानस में परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में उभरना है।
- हालांकि दोनों सदनों के बीच किसी किस्म के गतिरोध की स्थिति में, भारतीय संविधान एक समाधान प्रस्तुत करता है: दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक जिसमे उपस्थित सदस्यों के सामान्य बहुमत का निर्णय लागू होगा।
- वर्तमान समय में, राज्यसभा द्वारा लोक सभा की मनोदशा से मतभिन्नता की स्थिति में संयुक्त बैठक का प्रावधान पुनः चर्चा का विषय है। जैसा की वर्तमान स्थिति है, भारतीय जनता पार्टी द्वारा कई राज्यों में अपनी राष्ट्रीय सफलता को दोहराए जाने के बावजूद, राज्य सभा की संरचना बहुत धीरे-धीरे बदलेगी।

हालांकि दोनों सदनों के बीच वर्तमान विभाजन को प्रजातांत्रिक सिद्धांतों से भटकाव के रूप में नहीं बल्कि राज्य सभा की अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित पूरक और लोक सभा के नियंत्रक के रूप में आदर्श भूमिका की सम्पूर्ण परीक्षा के रूप में देखा जाना चाहिए।

8. संसदीय विशेषाधिकार अस्पष्ट रूप से परिभाषित हैं और वे बहुधा साधारण नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। चर्चा कीजिए।

दृष्टिकोण:

सर्वप्रथम, संक्षेप में संसदीय विशेषाधिकारों के बारे में उनके संवैधानिक आधार की चर्चा करते हुए व्याख्या करें। तत्पश्चात, उनके दुरुपयोग का दृष्टांत प्रस्तुत कर इस बात की चर्चा करें कि किस प्रकार वे आज भी परिपाटियों के आधार पर कार्य कर रहे हैं तथा उन्हें संहिताबद्ध नहीं किया जा सका है। आगे इस बात पर टिप्पणी करें कि वे कैसे मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं? समकालीन परिप्रेक्ष्य में उनकी उपयोगिता की चर्चा करते हुए उत्तर का समापन करें।

उत्तर:

संसदीय विशेषाधिकारों का उद्देश्य जन प्रतिनिधियों को बिना किसी भय या पक्षपात, दबाव या धमकी के अपना कार्य करने में समर्थता प्रदान करना है। संविधान सांसदों और राज्य की विधायिकाओं के सदस्यों को कुछ अधिकार प्रदान करता है (अनुच्छेद 105 और 194) जिसमें कुछ भी कहने और किसी भी सदन या समिति में मतदान करने पर और विधायी प्राधिकरण के तहत किसी प्रकाशन के कारण न्यायिक अभियोजन या दायित्व से मुक्ति शामिल है।

(अनुच्छेद 105 (1), (2) और (3), सांसदों को कुछ विशेषाधिकार प्रदान करते हैं और वही विशेषाधिकार अनुच्छेद 194 (1), (2) और (3) के तहत राज्य के विधायकों को प्रदत्त हैं।इन अनुच्छेदों का उपबंध (1) प्रक्रियात्मक नियमों, स्थायी आदेशों और संविधान के अन्य प्रावधानों के अनुसार संसद और सारे विधानमंडलों के सदस्यों को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारंटी प्रदान करता है। दोनों अनुच्छेदों 105 और 194 के उपबंध (2) के तहत उन्हें सदन में मतदान करने की स्वतंत्रता तथा किसी भी पत्र या प्रकाशन में अपना विचार व्यक्त करने के लिए गिरफ्तारी से मुक्ति प्रदान किया गया है।)

इसके अतिरिक्त, 44वें संशोधन ने इस स्थिति को इस हद तक बदल दिया कि विशेषाधिकार इत्यादि ऐसे होगें जो संसद समय-समय पर,विधि द्वारा परिनिश्चित करे। जब तक विशेषाधिकार इस प्रकार परिनिश्चित नहीं किये जाते हैं तब तक वे उसी प्रकार के होगें जो अधिनियम के लागू होने से ठीक पहले उस सदन की ओर उसके सदस्यों और समितियों की थीं।

इस प्रकार, उनमें सिविल मामलों में गिरफ्तारी से मुक्ति, वाद-विवाद और अभिव्यक्ति की आजादी, गवाहों की उपस्थिति का आदेश जारी करने तथा गैर-सदस्यों को अवज्ञा के लिए सजा देने तथा मुक्त या गुप्त वाद-विवाद का अधिकार, सदन की अवमानना के लिए सामान्य वारंट, तथा लोगों को समन जारी करने का विशेषाधिकार शामिल है।

अतः, भारत के संविधान में विशेषाधिकार की आंशिक चर्चा हुई है और आंशिक रूप से इसे ब्रिटिश संसद की परिपाटियों पर छोड़ दिया गया है। संविधान में स्पष्ट कुछ विशेषाधिकार को छोड़ कर, शेष अब भी बहुत सी समितियों और आयोगों की इस विचार के पक्ष में की गयी अनुशंसाओं के बावजूद अब तक अलिखित या असंहिताबद्ध हैं।

समस्या यह है कि ब्रिटिश परिपाटियां न तो बिलकुल स्पष्ट हैं, न ही वे भारत में प्रत्यक्ष रूप से लागू किये जा सकने योग्य ही हैं। संसद और राज्य विधानमंडलों से प्राप्त पूर्ववर्ती दृष्टांतों को संवैधानिक परिपाटियों के रूप में सामने नहीं लाया जा सकता क्योंकि वे आतंरिक अंतर्विरोधों से ग्रस्त होती हैं। उपबंध (3) से प्राप्त दंडात्मक शक्तियां और अधिक संदेहास्पद हैं। हालांकि ऐसे विशेषाधिकारों को ब्रिटेन में राजसी निरंकुशता की अवधि में लोकप्रिय प्रतिनिधियों की सुविधाओं और पदों को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक समझा गया था जो इंग्लैण्ड के लोगों के विचारों तथा उनकी आवश्यकताओं को अभिव्यक्त करने में सहायता करते थे, किन्तु भारत में इसका उपयोग नागरिकों का मुंह बंद रखने के रूप में सामने आता है।

इसके अलावा, जैसा कि तमिलनाडु विधानमंडल में एआईएडीएम सरकार द्वारा वर्ष 2003 के अंतिम चरण में पास किये गए एक प्रस्ताव के मामले में देखा गया था, हिंदू दैनिक के संपादकों और वरीय पत्रकारों को गिरफ्तार कर के दो सप्ताह तक जेल की सलाखों में रखने का आदेश दिया जाना अनुच्छेद ए19 (1) के तहत मूल अधिकारों का प्रत्यक्ष हनन था। साथ-साथ केशव सिंह (1964-इलाहाबाद उच्च न्यायालय) के वाद भी, अनुच्छेद 19(1) के तहत व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अतिक्रमण और अनुच्छेद 22(2) के "गिरफ्तारी से संरक्षण के अधिकार" का अतिक्रमण की बात उजागर करता है।

हालांकि जिस प्रश्न के पूछे जाने की आवश्यकता है, वह यह कि क्या उसका उद्देश्य कार्यपालिका के या सिर्फ न्यायिक अतिक्रमण के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाना था? क्या उन्हें संविधान के तृतीय भाग में व्यक्ति के अधिकारों की दी गयी गारंटी के विरुद्ध इस्तेमाल किया जा सकता है?

हमारे प्रतिनिधि सोचनीय ढ़ग से इसे महसूस करने में असफल रहे हैं कि किसी संस्था को सम्मान और विश्वास, इसकी प्रभावी सेवाओं और सद्भावपूर्ण गतिविधियों के बल पर ही प्राप्त हो सकते हैं। इसकी दंडात्मक शक्तियां, निस्संदेह रूप से लोगों का मुंह बंद कर सकती हैं, किन्तु इस तरह के संत्रास से यह लोकतंत्र की वास्तविक भावना को समाप्त करता है। उन्हें बाह्य आलोचनाओं के प्रति असहिष्णु नहीं होना चाहिए क्योंकि दूसरों के विचार हमारी गलतियों को सुधारने में सहायक होते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विशेषाधिकारों को लिखित रूप दिए जाने की महती आवश्यकता है, ताकि इन शक्तियों के मनमाने प्रयोग पर रोक लगाई जा सके, साथ ही एक लोक परिचर्चा भी शुरू की जानी चाहिए कि क्या संसद के गिरते स्तर को देखते हुए ऐसी शक्तियों को प्रदान किये जाने की आवश्यकता भी है या नहीं?

9. राज्यसभा में राज्यों के बीच सीटों की समानता वह सिद्धांत है, जिसे संविधान सभा में बहुत अधिक स्वीकृति मिली थी। हालांकि, उस समय प्रचलित परिस्थितियों के कारण इसे अपनाया नहीं जा सका। क्या इस पर फिर से नई दृष्टि डालने की आवश्यकता है?

दृष्टिकोण:

- संविधान का निर्माण करने के दौरान क्यों प्रतिनिधित्व की समानता को नहीं अपनाया जा सका, इस पर संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी।
- बड़े राज्यों के पक्ष में झुकी संरचना के कारण छोटे राज्यों द्वारा सामना की जाने वाली विभिन्न समस्याओं पर अधिक ध्यान केंद्रित किया जाना चाहिए।
- उद्धरण और सरकारिया आयोग, पुंछी आयोग जैसे महत्वपूर्ण प्रतिवेदनों के माध्यम से अपने तर्कों का समर्थन करने से उत्तर अधिक प्रासंगिक होगा।

उत्तर:

- भारत में, राज्यसभा में राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा भरी जाने वाली सीटों का आवंटन राज्य की आबादी के अनुपात में किया जाता है। संविधान सभा में इस पर विवाद था कि चूंकि राज्यसभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने जा रही थी, इसलिए यह केवल राज्यों के लिए तभी उचित होगा कि इन इकाइयों से इकाइयों के रूप में व्यवहार किया जाए और प्रत्येक इकाई को समान रूप से प्रतिनिधित्व दिया जाए। इसके बावजूद समान प्रतिनिधित्व अपनाया नहीं गया क्योंकि उस समय भारतीय संघ के राज्य पूर्व-विद्यमान अधिकार या शक्तियां रखने वाले स्वतंत्र संस्थाएं नहीं थे।
- भारत में नौ राज्यों के राज्यसभा में केवल एक-एक सदस्य हैं। केवल दस अधिक आबादी वाले राज्यों का 160 सीटों पर कब्जा है जो ऊपरी सदन की कुल निर्वाचित सदस्यता का लगभग 70 प्रतिशत है। कुछ छोटे राज्यों ने केंद्र में अपनी आवाज महसूस कराने की असमर्थता पर अप्रसन्नता व्यक्त की है और या तो सभी राज्यों के बराबर प्रतिनिधित्व

देने या अपनी आबादी के आकार से निरपेक्ष न्यूनतम संख्या में सीटें सुनिश्चित करने के लिए संशोधन की मांग की है।

- जैसा कि सरकारिया आयोग द्वारा इंगित किया गया है, वर्तमान संरचना से जुड़ी प्रमुख समस्याएं इस प्रकार हैं:
    1. सबसे अधिक सीटों वाले शीर्ष सात राज्यों और मनोनीत सदस्यों की सहायता से दो तिहाई बहुमत जुटाया जा सकता है।
    2. अनुच्छेद 249 के अंतर्गत प्रस्ताव पारित किया जा सकता है भले ही कम से कम प्रतिनिधित्व रखने वाले नीचे के 14 राज्य इस प्रकार के प्रस्ताव का विरोध कर रहे हों।
- चूंकि लोकसभा सीधे लोगों से जुड़ी हुई है, इसलिए राज्यसभा में प्रति राज्य/संघ शासित प्रदेश आबादी और सीटों की संख्या के बीच संबंध समाप्त करने से परिसंघ के विभिन्न घटकों के बीच केवल शक्ति संतुलन पैदा होगा।
- लेकिन समस्या यह है कि गठबंधन राजनीति के युग में, दलों का हित राज्यों के हितों पर प्रधानता प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस बात को लेकर चिंताएं हैं कि क्या बराबर प्रतिनिधित्व देने के बाद भी, राज्यसभा में उन राज्यों के प्रतिनिधियों का व्यवहार राज्य के हितों के अनुसार होगा, न कि अपने दल के हितों के अनुसार।
- अपने आप में राज्यों के बीच शक्ति संतुलन वांछनीय है और यह राज्यसभा में प्रतिनिधित्व की समानता से संभव है। यदि, जैसा कि मूल रूप से परिकल्पना की गई थी, राज्यसभा राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने में विफल रही है, तो ऐसा गठबंधन राजनीति की असममितता और जिस प्रकार दलीय प्रणाली विकसित हुई है उसके कारण है। संघीय संतुलन का मूल उद्देश्य प्राप्त करने के लिए राज्यसभा की कार्यप्रणाली में सुधार किया जा सकता है। पुंछी आयोग ने भी इस प्रकार प्रतिनिधित्व की समानता का समर्थन किया है: 'इसलिए आयोग राज्यसभा में राज्यों को उनकी आबादी के आकार से निरपेक्ष सीटों की समानता देने के लिए प्रासंगिक प्रावधानों में संशोधन की दृढ़ता से अनुशंसा करता है।'

10. लोकसभा में विपक्ष के नेता को मान्यता प्रदान करने की प्रक्रिया से संबंधित मुद्दे का सविस्तार वर्णन कीजिए। इसके साथ संसद के कार्यकरण के लिए इस पद की महत्ता की भी विवेचना कीजिए।

दृष्टिकोण:

लगभग 120-150 शब्दों में प्रश्न के पहले भाग पर चर्चा कीजिए। फिर लगभग 50-80 शब्दों में इस पद के महत्व पर चर्चा कीजिए।

उत्तर:

पृष्ठभूमि

- संसद के प्रत्येक सदन में, 'विपक्ष का नेता' होता है। संविधियों और अभिसमयों के मिश्रण के रूप में स्थापित प्रक्रियानुसार सदन की कुल सदस्य संख्या का कम से कम 1/10 सीटें प्राप्त करने वाले विपक्ष के सबसे बड़े दल के नेता को सदन में 'विपक्ष के नेता' के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। सरकार की संसदीय प्रणाली में, विपक्ष का नेता महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
- दावा प्रस्तुत करने के लिए दल के पास सदन की सदस्य संख्या का 10 प्रतिशत (लोकसभा में 55) होना चाहिए और 2014 के लोकसभा के चुनाव के बाद केवल 44 सीटों को प्राप्त करने वाली सबसे बड़ी विपक्षी दल कांग्रेस, इस संख्या से काफी दूर है।

- हालांकि BJP (282 सदस्य) के बाद यह दूसरा सबसे बड़ा दल है, लेकिन यह अभी भी लोक सभा की कुल क्षमता के 10 प्रतिशत के आवश्यक आंकड़े से काफी पीछे है – जो इस पद के लिए दावा करने के लिए आवश्यक है।

विवाद/मुद्दा

- हाल ही में लोकसभा अध्यक्ष सुमित्रा महाजन ने औपचारिक रूप से सदन में विपक्ष के नेता के पद के लिए कांग्रेस के दावे को अस्वीकार कर दिया। अस्वीकार करते समय उन्होंने नियमों और परंपराओं के संदर्भों को उद्धृत किया। साथ ही निर्णय लेने से पहले, अध्यक्ष ने अटॉर्नी जनरल मुकुल रोहतगी की भी राय ली, जिनका यह मानना था कि कांग्रेस के पास पद का दावा करने के लिए अपेक्षित संख्या नहीं है।
- हालांकि, इस आधार पर अध्यक्ष के निर्णय की आलोचना की गई है कि इस पद के लिए योग्य होने के लिए सबसे बड़े विपक्षी दल के लिए 55 सीटों की न्यूनतम आवश्यकता की मांग करने वाला कोई कानून नहीं है। 10% सीटों का मानदंड एक विशेष संदर्भ में एक विशेष समय पर पहले अध्यक्ष द्वारा दिया गया केवल एक निर्देश भर था और यह भी कि अध्यक्ष को वर्तमान स्थिति और संदर्भ का समग्र दृष्टिकोण अपनाकर विपक्ष के नेता के मुद्दे पर प्रतिक्रिया देना चाहिए था।

विशेषज्ञों के विचार

- कई राजनीतिक विशेषज्ञों ने इंगित किया है, चूंकि 10% का नियम पहले अध्यक्ष, जी.वी. मावलंकर द्वारा निर्णय के एक भाग के रूप में आया था, विपक्ष के नेता की नियुक्ति पर निर्णय अध्यक्ष का विशेषाधिकार बना हुआ है।
- क्योंकि, विपक्ष के नेता का पद केवल राजनीतिक दल के नेता के पास जा सकता हैं, न कि गठबंधन के नेता के पास, चाहे चुनाव से पहले या उसके बाद बना हो
- वर्तमान लोकसभा में किसी भी दल के नेता को यह पद देना "अत्यधिक अनियमित" होगा क्योंकि कोई भी दल सीटों की न्यूनतम आवश्यकता पूरी नहीं करता है।
- इसके अतिरिक्त, इस पद हेतु सार्वजनिक निधि का भी प्रावधान है: विपक्ष का नेता सभी आनुषंगिक अनुलाभों और लाभों के साथ कैबिनेट मंत्री के दर्जे का भोग करता है।

विपक्ष के नेता के पद की महत्ता

- विपक्ष के नेता की नियुक्ति में विफलता का भारतीय लोकतंत्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। विपक्ष के नेता, केन्द्रीय सतर्कता आयोग के सदस्यों, लोकपाल के सदस्यों और केंद्रीय जांच ब्यूरो के निदेशक का चयन करने वाले पैनलों में बैठता है।
- इन समितियों में प्रतिद्वंद्वी राय की अनुपस्थिति से सरकार पूरी तरह से अंकुश मुक्त हो जाएगी।
- CVC, CBI प्रमुख, लोकपाल आदि जैसी कुछ महत्वपूर्ण नियुक्तियों के लिए विपक्ष के नेता की राय की आवश्यकता होती है
- विपक्ष का नेता सदन की आवाज़ भी व्यक्त करता है। यह सरकार के दृष्टिकोण से भिन्न दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। यदि विपक्ष का कोई नेता नहीं होगा, तो निर्णय वस्तुनिष्ठ नहीं होगा।

11. लोकसभा में मतदान करने के विभिन्न तरीकों की चर्चा करें। क्या अविश्वास प्रस्ताव जैसे संवेदनशील विषयों के लिए ध्वनिमत की अनुमति दी जानी चाहिए?

दृष्टिकोण:

सर्वप्रथम सदन में मतदान और मतविभाजन से सम्बन्धित प्रक्रियाओं की चर्चा करें। दूसरे शब्दों में, लोक सभा में मतदान के लिए अपनाये जाने वाले तरीकों की चर्चा करें। इस चर्चा के आधार पर अविश्वास प्रस्ताव जैसे संवेदनशील मामलों के मामले में ध्वनिमत की वैधता को आकलित करें।

उत्तरः

लोक सभा में मतदान की विभिन्न पद्धतियां:

सदन में मतदान और मत विभाजन से सम्बन्धित प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 100(1) तथा लोकसभा में कार्यव्यवहार की प्रक्रिया और संचालन के नियमों के तहत विभिन्न नियमों द्वारा प्रशासित होती है।

ध्वनिमत : एक सदस्य के प्रस्ताव पर पीठ द्वारा रखे गए प्रश्न का अभिनिश्चय करने का एक सरल तरीका है। इस पद्धति के तहत, सदन के सामने उपस्थित प्रश्न का अभिनिश्चय स्थिति के अनुसार, 'हां' या 'नहीं' द्वारा किया जाता है।

मतविभाजन : इसमें, तीन तरीकों का उपयोग किया जाता है, जिसमें सम्मिलित है-

1. स्वचालित मत अभिलेखक
2. लॉबियों में मत विभाजन
3. सदन में पर्चियों के वितरण द्वारा मतविभाजन।

'हां' या 'नहीं' पर्चियों के आधार पर सदस्यों के मतों के अभिलेखन के तरीके का सामान्यतः उपयोग (1)स्वचालित मत अभिलेखन उपकरण के अचानक काम बंद कर देने पर, और (2) सदस्यों को सीटों/प्रभाग संख्याओं का आवंटन किए जाने से पहले नई लोकसभा के शुभारम्भ के समय किया जाता है।

गुप्त मतदान : खुली मतदान प्रणाली, जिसमें डिस्प्ले पैनल पर अलग-अलग परिणाम दिखाए जाते हैं, गुप्त मतदान इसके विपरीत केवल यह दिखाने तक सीमित रहती है कि कौन-सा मत दर्ज किया गया है।

अपने स्थानों पर सदस्यों की प्रत्यक्ष गणना : जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस स्थिति में अगर पीठासीन अधिकारी की राय मे मत विभाजन के लिए अनावश्यक रूप से मांग की गयी है,तो सदस्यों से राय के लिए कहा जा सकता है और सदन के अभिनिश्चय की घोषणा करने के लिए गणना की जाती है। ऐसी स्थिति में, सदस्यों के मतदान के विवरण को अभिलेखित नहीं किया जाता है।

निर्णायक मत : अगर मतविभाजन बराबर रहता है तो प्रश्न का अभिनिश्चय निर्णायक मत द्वारा किया जाता है। संविधान के तहत, पीठासीन अधिकारी या पीठासीनअधिकारी के रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति मत विभाजन के समय मतदान नहीं कर सकता है, बल्कि उसके पास निर्णायक मत होता है जिसका मतों की बराबरी की स्थिति में अवश्य प्रयोग किया जाना चाहिए।

ध्वनिमत की उपयोगिता :

- यह विधायी कामकाज के नियमों और प्रक्रियाओं में उपलब्ध है और विश्व की सभी संसदों में इसका व्यापक उपयोग किया जाता है। यह इस परिकल्पना पर आधारित है कि सरकार का सदन में बहुमत होता है। लेकिन यह भी राय है कि सरकार के बहुमत का परीक्षण करने वाले प्रस्ताव के लिए अभिलेखित मतदान अवश्य होना चाहिए, जैसा कि संवैधानिक संशोधनों के मामलों में होता है, भले ही वहां कोई चुनौती हो या नहीं।
- यद्यपि विधायी नियमों के तहत किसी अन्य प्रस्ताव की तरह ही विश्वास और अविश्वास प्रस्ताव भी हैं, फिर भी क्या इनके लिए स्पष्ट तौर-तरीके जरूर होने चाहिए?, यह एक खुला प्रश्न है। हाल के समय में, ध्वनि मत का प्रयोग तेलंगाना राज्य के गठन, और राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग विधेयक जैसे कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए भी किया गया था।

ध्वनि मत और अविश्वास प्रस्ताव :

एक संसदीय प्रस्ताव के रूप में, अविश्वास प्रस्ताव राष्ट्राध्यक्ष को यह दर्शाता है कि निर्वाचित संसद को नियुक्त सरकार में अब विश्वास नहीं है और इसका परिणाम मन्त्रिपरिषद का अनिवार्य पदत्याग होता है। अविश्वास प्रस्ताव सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध निर्देशित होता है और इसके लिए किसी कारण का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। हालांकि इसे केवल लोकसभा में लाया जा सकता है और अगर प्रस्ताव अस्तित्व में बना रहता है तो

सदन इस प्रस्ताव पर बहस और मतदान करता है। अगर सदन के सदस्यों का बहुमत प्रस्ताव के पक्ष में मतदान करता है तो प्रस्ताव पारित हो जाता है और सरकार पदत्याग करने के लिए बाध्य होती है।

क्योंकि यह एक संवेदनशाल मुद्दा है, अतः विश्वास और अविश्वास प्रस्ताव का समान उद्देश्य होता हैं: विश्वास प्रस्ताव राष्ट्रपति द्वारा ऐसा करने के लिए कहा जाने पर सरकार द्वारा लाया जाता हैं जबकि अविश्वास प्रस्ताव विपक्षी दलों के सदस्यों द्वारा लाया जाता है तथा इसके द्वारा सरकार को लोकसभा में अपना बहुमत प्रदर्शित करना पड़ता है। विश्वास मत का मुख्य उद्देश्य सरकार में विश्वास पैदा करना है। भ्रम के बीच, यह सदन/विधानसभा के स्पष्ट जनादेश में परिवर्तित नहीं होता है। इस प्रकार से, यह कहा जा सकता है कि ध्वनिमत केवल तभी तक वैध है, जब तक कोई इस पर सवालिया निशान नही लगाता है।

12. संसद की संयुक्त बैठक भारत में एक दुर्लभ घटना है, लेकिन यह समय की मांग है क्योंकि बहुत से महत्वपूर्ण विधेयक लम्बित पड़े हैं। आलोचनात्मक विश्लेषण करें।

दृष्टिकोणः

संसद के संयुक्त बैठक की आधारणा का संक्षिप्त परिचय दें और अब तक आयोजित हुईं संयुक्त बैठकों का संक्षेप में उल्लेख करें। फिर सवालों की प्रमुख मांगों यानी वर्तमान संदर्भ में संयुक्त बैठक की उपयोगिता पर ध्यान केंद्रित करें।

उत्तरः

संविधान के अनुच्छेद 108 के अनुसार, संयुक्त बैठक संसद के दोनों सदनों के बीच गतिरोध हटाने हेतु परिकल्पित एक तंत्र है।

राष्ट्रपति धन विधेयक और संवैधानिक संशोधन विधेयक के अलावा किसी भी विधेयक पर मतदान करने और विचार-विमर्श के प्रयोजन से संयुक्त बैठक बुला सकता है। यदि विधेयक उपस्थित और मत देने वाले दोनों सदनों के सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित हो जाता है, तो इसे दोनों सदनों के द्वारा पारित हुआ माना जाता है।

संयुक्त बैठकों की दुर्लभता इस तथ्य द्वारा प्रमाणित की जा सकती है कि भारत के इतिहास में अब तक संसद की ऐसी बैठकें केवल तीन बार आयोजित की गईं हैं।

वर्तमान परिदृश्य में मौजूदा सरकार के पास राज्य सभा में बहुमत का अभाव है और राज्यसभा में बहुमत के अभाव के कारण सरकार की बहुत सी विधायी पहलें अटकी पड़ी हुई हैं।

ऐसे परिदृश्य में दो विकल्प सामने आते हैं, पहला अध्यादेश का मार्ग (अस्थायी समाधान, जैसे बीमा विधेयक) है और दूसरा संसद की संयुक्त बैठक।

वर्तमान परिदृश्य में संयुक्त बैठक के पक्ष में तर्क:

यह तर्क दिया जा सकता है कि विधेयक पारित करना, विधायिका का विशेषाधिकार है, इसलिए कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश का मार्ग अपना कर अस्थायी समाधान ढूंढने के बजाय संसद की संयुक्त बैठक बुलाना कहीं बेहतर है।

संयुक्त बैठक ऐसे किसी मामले को हल करने का मंच है जिस पर दोनों सदन स्वतंत्र रूप से सहमत नहीं होते। इसलिए ऐसे बहुत से मामलों को हल करने हेतु यह समय की मांग है।

संयुक्त बैठक के विपक्ष में तर्क:

राज्यसभा राज्यों की आवाज का प्रतिनिधित्व करती है और जिसकी संख्या लोकसभा की तुलना में आधे से भी कम है। अधिकतम संख्या संसद की संयुक्त बैठकों में लोकसभा के लिए मददगार है जो न केवल राज्यसभा को दरकिनार करती है बल्कि संघीय भावनाओं को भी नजरअंदाज करती है।

इसके अलावा लोकसभा के सदस्य सुधारवादी होने की बजाय लोकवादी बनने का विकल्प चुन सकते हैं जो कि राज्य सभा के सदस्यों के द्वारा रोका जा सकता है।

आगे कि राह :

इसलिए, यह तर्क दिया जा सकता है कि वर्तमान परिदृश्य में सरकार को वांछित रूप से अपनी चिंताओं को संबोधित कर अपने विपक्षियों को साथ में लेकर व आम सहमति के

माध्यम से राज्य सभा में विधेयक पारित कराने के लिए अनुकूल स्थितियां बनाने का प्रयास करना चाहिए। संयुक्त बैठक तंत्र का इस्तेमाल राज्यसभा में संख्या के मुद्दे पर काबू पाने के औजार के रूप में नहीं करना चाहिए बल्कि इसका इस्तेमाल अति दुर्लभ मामलों में किया जाना चाहिए, जहां राष्ट्र का हित सर्वोपरि हो।

13. यह तर्क दिया गया है कि यदि धन विधेयक के नाम पर महत्वपूर्ण विधानों को पारित करने हेतु राज्य सभा की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति को विधिक रूप से रोका नहीं गया, तो यह संविधान की आधारभूत संरचना और संसद की कार्यप्रणाली को प्रभावित कर सकता है। चर्चा कीजिए।

दृष्टिकोण:

- राज्य सभा की उपेक्षा के संबंध में वर्तमान विवाद के माध्यम से उत्तर आरंभ करें।
- चर्चा करें कि कैसे राज्य सभा द्वारा संवीक्षा की उपेक्षा हेतु धन विधेयक के प्रावधानों का उपयोग किया जा सकता है।
- चर्चा करें कि यह किस प्रकार संविधान के मूल सिद्धांतों के विपरीत है।
- उपचारों पर चर्चा करें।

उत्तर:

राज्यसभा की विधायी शक्तियों में कांट-छांट और धन विधेयक के प्रावधानों का उपयोग कर इसे निरर्थक विधायी सदन बनाने के लिए किए जा रहे प्रयासों पर हाल ही में राज्य सभा के सभापति ने चिंता व्यक्त की है। पिछले बजट सत्र में प्रस्तुत वित्त विधेयक में दोनों सदनों द्वारा पारित कुछ स्वतंत्र अधिनियमों में कुछ ऐसे संशोधन सम्मिलित थे जिन्हें राज्यसभा की संवीक्षा से बचने के लिए इन संशोधनों को धन विधेयक के रूप में चिन्हित गया था।

- वित्तीय प्रकरणों में लोक सभा की प्रधानता अनुच्छेद 110 के अंतर्गत धन विधेयक के प्रावधानों के माध्यम से भारतीय संविधान में निहित है। इसके अंतर्गत विभिन्न मदों की सूची प्रदान की गई है। इस अनुच्छेद के मदों के आधार पर विशिष्ट रूप से तैयार किए गए विधेयक धन विधेयक के रूप में प्रमाणित किए जाते हैं। राज्यसभा के पास धन विधेयक को अस्वीकार या संशोधित करने की शक्ति नहीं है।
- संविधान का अनुच्छेद 110 किसी विधेयक को धन विधेयक के रूप में प्रमाणित करने की शक्ति लोक सभा अध्यक्ष में निहित करता है जिसका निर्णय अंतिम होता है। राज्य सभा के कुछ सदस्यों ने इस अनुच्छेद के निर्णायक होने के संबंध में चिंताएं व्यक्त की हैं। उनकी व्याकुलता इस तथ्य से उत्पन्न हुई है कि राज्यसभा, लोकसभा अध्यक्ष के निर्णय का विरोध करने के लिए अपने पास ठोस आधार होने पर भी भी प्रश्न नहीं उठा सकती है।
- राज्यसभा सदस्यों के बीच चिंता यह है कि सरकार धन विधेयक के नाम पर वित्तीय प्रावधानों वाले विधेयक लाकर राज्यसभा की भूमिका कम कर सकती है। संविधान स्पष्ट करता है कि धन विधेयक में केवल अनुच्छेद 110 में उल्लखित प्रावधानों के अतिरिक्त कुछ सम्मिलित नहीं होना चाहिए। यदि विधेयक, धन विधेयक के प्रावधानों और अन्य मदों का संयोजन है, तो इसे धन विधेयक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार का विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाना चाहिए।
- यदि यह कहा जाता है कि अध्यक्ष के पास धन विधेयक के रूप में विधेयक को प्रमाणित करने के विषय में परम शक्ति है और उसे किसी से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं है तो यह उसके गलत निर्णय को स्वीकार करने के समान है, चाहे यह सद्भाव विहीन निर्णय ही क्यों न हो। भारत का संविधान किसी भी प्राधिकारी को इस प्रकार की परम शक्ति नहीं प्रदान करता है।
- राज्य सभा, राज्य इकाइयों को वाणी प्रदान करके भारतीय संघ में महत्वपूर्ण कड़ी का निर्माण करती है। संविधान ने इस उच्च सदन को विशेष भूमिका सौंपी है। यह राजनीतिक दबावों के अंतर्गत पारित निचले सदन के शीघ्रतापूर्ण निर्णयों पर नियंत्रण रखती है। जैसाकि न्यायपालिका द्वारा परिभाषित किया गया है, संघवाद और प्रत्येक सदन की स्वतंत्र शक्तियों वाला सरकार का संसदीय स्वरूप संविधान की आधारभूत विशेषता है।

धन विधेयक सदृश विधायी युक्तियों के माध्यम से राज्य सभा को उसके वैध अधिकारों से वंचित करना संविधान के मूल ढांचे का उल्लंघन है।

- इसलिए लोकसभा अध्यक्ष द्वारा लिए जाने वाले निर्णय पर पहुंचने हेतु उचित प्रक्रिया का विकास करना आवश्यक है। दोनों सदनों के महासचिवों की समिति विस्तारपूर्वक दिए गए विधेयक का परीक्षण कर सकती है और धन विधेयक के रूप में विधेयक को प्रमाणित करने पर अंतिम निर्णय लेने से पहले अध्यक्ष के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत कर सकती हैं।

14. संसद को चर्चा, बहस, विचार-विमर्श और असहमति का संस्थान होना चाहिए न कि व्यवधान उत्पन्न करने का। टिप्पणी कीजिए।

दृष्टिकोण:

- सर्वप्रथम संक्षेप में संसद के महत्व अथवा भूमिका पर प्रकाश डालते हुए उत्तर आरंभ करें।
- द्वितीय, संसदीय कार्यपद्धति में ह्रास के कारणों को दर्शाएं जिससे व्यवधान उत्पन्न हुआ है अथवा होता है।
- तृतीय, संक्षेप में संसदीय गतिरोध के निहितार्थों का उल्लेख करें और अंततः उत्तर समाप्त करें।

उत्तर:

भारतीय संविधान संसद को मंत्रालयों की कार्यप्रणाली की संवीक्षा, विधिक प्रणाली में कमियों से निपटने के लिए विधि निर्माण, बजट और लोगों की आशाओं तथा आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले महत्वपूर्ण विधेयकों पर चर्चा के पश्चात् उसे पारित करके सरकार को उत्तरदायी बनाए रखने का अधिकार देता है।

नियमित रूप से संसद में व्यवधान उत्पन्न होने के कारण 15वीं लोकसभा (2009-14) के कुल समय का 40 प्रतिशत तक समय इन व्यवधानों से नष्ट हो गया था। इस कारण से यह अब तक की सबसे कम उत्पादक लोकसभा साबित हुई। हाल ही में 2015 का मानसून सत्र भी लगभग व्यर्थ ही चला गया था।

<u>संसदीय कार्यपद्धति या कार्य संचालन में ह्रास के कारण</u>

- **संसदीय संरचना में परिवर्तन-** 1967 के बाद से संसद गठबंधन सरकारों, जाति, वर्ग, क्षेत्र, धर्म, आदि के संदर्भ में विविधता की साक्षी रही है जिससे बहस कई बार राजनीतिक और सांप्रदायिक बन जाते हैं अर्थात् 'मुद्दों पर आधारित' होने की तुलना में 'हित आधारित' हो जाते हैं।
- संसद की कार्यवाहियों का सीधा प्रसारण तथा संवेदनशील व राजनीतिक मुद्दों को उजागर करने में मीडिया की बढ़ती घुसपैठ की प्रवृत्ति बहसों को पटरी से उतारने की होती है क्योंकि सांसद अधिक रचनात्मक तरीके से मुद्दे को हल करने हेतु प्रयास करने की तुलना में विवादास्पद मुद्दों पर अधिक सुर्खियां बटोरने और जनता का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास करते हैं।
- एक या दूसरे राज्य में वर्षपर्यंत निरंतर चुनावों के कारण विपक्ष संसद को 'राजनीतिक रूप से चार्ज' रखता है क्योंकि वे महत्वपूर्ण सार्वजनिक मुद्दों पर सरकार के साथ सहयोग करने की तुलना में सत्तारूढ़ पार्टी की आलोचना करने पर अधिक ध्यान केंद्रित करते हैं।
- **राजनीति का अपराधीकरण-** आपराधिक पृष्ठभूमि वाले सांसदों का रूझान स्वस्थ बहस की संस्कृति में गिरावट लाने और उसे राजनीतिक दुरूपयोग, भ्रष्टाचार के प्रकरणों आदि की दिशा में घुमाने की ओर अधिक है।
- इसके अतिरिक्त, क्रमशः लोक सभा और राज्य सभा में सत्तारूढ़ और विपक्षी दलों के सदस्यों की संख्या में असंतुलन ने रचनात्मक राजनीति की तुलना में प्रतिस्पर्धी राजनीति को अधिक प्रेरित किया है जिससे व्यवधान और बहिष्कार बढ़ा है।

- विशेषतः लोकसभा में अधिक संख्या वाले दल के सदस्यों द्वारा भागीदारी के निकृष्ट स्तर (या अनुपस्थिति) ने महत्वपूर्ण मुद्दों और विधेयकों पर गुणवत्तापूर्ण बहस या चर्चा की कमी को बढ़ाया है।

संसदीय व्यवधान का निहितार्थ

- नियमित रूप से संसद के बाधित होने से सांसद संबंधित मंत्रियों से उनके मंत्रालयों द्वारा किये जा रहे कार्यों का आंकलन करने के लिए प्रश्नकाल के दौरान सामान्यतः कठिन व जटिल प्रश्न नही पूछ पाते हैं।
- संसदीय कार्य के लिए उपलब्ध समय को नष्ट करने वाले व्यवधानों से विधायन पर बहस के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध नहीं हो पाता है। फलस्वरूप, विधेयक या तो प्रभावी बहस के बिना पारित हो जाते हैं या संसद में लंबित रहते हैं। 2015 के मानसून सत्र में (जैसे विपक्ष द्वारा व्यापम घोटाला और सत्तारूढ़ दल के कुछ संलिप्त मंत्रियों के त्यायगपत्र की निरंतर मांग आदि) के कारण कई महत्वपूर्ण विधेयक या तो किनारे कर दिए गए या जीएसटी आदि जैसे विधेयक लंबित रह गए ।
- संसद के सत्र को एक दिन के लिए स्थगित करने से लगभग 2 करोड़ रुपये की क्षति होती है।
- कुछ ही दिनों के लिए संसद की बैठक होने से सांसद अविलंबनीय लोक महत्व के प्रकरण नहीं उठा पाते हैं और न ही इस पर सरकार का ध्यान आकर्षित कर पाते हैं।
- संसदीय कार्यवाही में प्रभावशीलता की कमी और सांसदों द्वारा प्रदर्शित राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी ने हाल के वर्षों में नागरिक समाज एवं दबाव समूहों को और अधिक सशक्त किया है क्योंकि लोग विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करने हेतु गैर-संसदीय मंचों को अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार्य मंच पाते हैं और इस प्रकार विधेयकों को पारित करने के लिए राजनीतिक दलों पर दबाव डालने में इनकी सहायता लेते हैं। लोकपाल विधेयक के मुद्दे पर और भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन आदि में इसे देखा जा चुका है।

क्या किया जाना चाहिए

- सदन के मंच पर विभिन्न मुद्दों एवं इनके मुद्दों के विविध पक्षों पर विस्तार से बहस और चर्चा का एजेंडा तय करने हेतु राजनीतिक दलों को सक्षम बनाने के लिए संसदीय प्रक्रिया को विकसित करना होगा।
- इसके लिए एक वर्ष में संसदीय बैठक के कुल दिनों की संख्या को बढ़ाने की आवश्यकता होगी और साथ ही लम्बी बैठकों की आवश्यकता होगी। इन्ही उपायों से कार्यवाही के बाधित होने पर भी विचार-विमर्श के लिए पर्याप्त समय की उपलब्धता सुनिश्चित हो सकेगी।

इस प्रकार, संसद की कार्यवाही में संसदीय नैतिकता और आचार संहिता पर परामर्श और आम सहमति का होना, समय की मांग है ताकि संसदीय मूल्यों और लोकतंत्र में जनता के विश्वास में वृद्धि हो सके।

15. निजी सदस्य के विधेयक को पारित करना भारत के राजनीतिक इतिहास में एक दुर्लभ घटना रही है। सरकारी विधेयक और निजी सदस्य के द्वारा प्रस्तुत विधेयक की तुलना कीजिए और अन्तर बताइए। साथ ही संसद में निजी सदस्य के विधेयक को पारित करने से संबंधित मुद्दों और इसके समाधान से संबंधित उपायों पर चर्चा कीजिए।

दृष्टिकोणः

- निजी सदस्य और निजी सदस्य के विधेयक को परिभाषित करें।
- निजी सदस्य विधेयक के वर्तमान प्रासंगिक महत्व का उल्लेख करें।
- निजी सदस्य के विधेयक के चुनौतियों को रेखांकित करें।
- सुझाव दें कि निजी सदस्यों के विधेयक किस प्रकार उच्चतर सफलता दर प्राप्त कर सकता है।

उत्तरः

मंत्रियों के अतिरिक्त संसद के अन्य सदस्यों को निजी सदस्य कहा जाता है और उनके द्वारा प्रस्तुत विधेयकों को निजी सदस्यों के विधेयक के रूप में जाना जाता है। अब तक केवल 14

निजी सदस्यों के विधेयकों पर कानून बनाया गया है। इस प्रकार का अन्तिम कानून सर्वोच्च न्यायालय (आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार का विस्तार) विधेयक,1968 था जो 9 अगस्त,1970 को कानून बना था।

निजी सदस्यों के विधेयक का महत्व राज्य सभा में विपरीत लिंगी (ट्रांसजेन्डर) व्यक्तियों को अधिकार विधेयक, 2014 के पास होने के साथ फिर से चर्चा में आ गया है। इस विधेयक को द्रमुक सदस्य तिरूची शिवा के द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि निजी सदस्यों के विधेयक बड़ी संख्या में संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं, लेकिन सरकार की संसदीय प्रणाली की निहित प्रकृति के कारण ऐसे विधेयक सदनों में समर्थन और समय के अभाव में दम तोड़ देते हैं। उनमें से कुछ पर ही सदन में बहस किया जाता है। पिछली लोक सभा में, 372 निजी सदस्य विधेयक प्रस्तुत किए गए थे जबकि सिर्फ 11 पर बहस हो पायी।

निजी सदस्य विधेयक के पारित होने में आने वाली चुनौतियाँ -

- संसद में समय की कमी के कारण सरकारी विधेयकों को प्राथमिकता दी जाती है।
- सरकार कार्यकालिका से बाहर के सदस्यों के साथ प्रशंसनीय कार्यों को साझा करने या इसका श्रेय देने से बचती है।
- अलोकप्रिय या विवादित मुद्दों का समर्थन करने में सरकार की अनिच्छा।
- बहस के लिए समय-सारिणीबद्ध नहीं किया जाना और उसे उचित महत्व नहीं दिया जाना।
- बिना बहस और मतदान (गिलोटिन से भागना) के द्वारा परोक्ष रूप से निजी सदस्य के विधेयकों का सरकार अप्रत्यक्ष तौर पर विरोध कर सकती है।

सुझावः निजी सदस्य विधेयक कैसे उच्चतर सफलता दर प्राप्त कर सकते हैं -

- प्रत्येक संसदीय सत्र के अंत में महत्वपूर्ण निजी सदस्य विधेयक पर चर्चा के लिए सरकार को समय आबंटित करना चाहिए।
- अगर किसी निजी सदस्य विधेयक को सदन का व्यापक समर्थन प्राप्त है तो इसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। "व्यापक समर्थन" निर्धारित करने के लिए एक उपयुक्त तंत्र तैयार किया जाना चाहिए।
- लोकतंत्र की भावना के तहत सरकार को चर्चा एवं विचार-विमर्श हेतु निजी सदस्यों को अवश्य समय आबंटित करना चाहिए।
- सदनों के नियम और साधनों में संशोधन किया जाना चाहिए और निजी सदस्य विधेयकों को पारित किये जाने के लिए नये नियम बना कर उसे सरलीकृत किया जाना चाहिए।

नीति को आकार देने और हितधारकों तथा जनता को आवाज देने में निजी सदस्य विधेयक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये लोकतंत्र के लिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि सार्वजनिक बहस के लिए महत्वपूर्ण मुद्दों को अस्तित्व प्रदान करते हैं और जनता के अनछुए मुद्दों और अनसुनी आवाज सदन के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान सरकार को लोकतंत्र की भावना को ध्यान में रखते हुए निजी सदस्य विधेयक को एक उचित महत्व देने का संकल्प करना चाहिए।

16. विश्व भर में संसदों के ऊपरी सदन को आम तौर उनके निचले सदन की तुलना में कम शक्तिशाली माना जाता है। हालांकि, वे भी निश्चित कार्यों और शक्तियों से निहित हैं, जो उन्हें एक निर्णायक भूमिका अदा करने में सक्षम बनाता है। भारत पर विशेष जोर देते हुए आलोचनात्मक विश्लेषण करें।

दृष्टिकोण:

- उच्च सदन की शक्ति और स्थिति, विधायी और अभियोग प्रक्रियाओं आदि में किस प्रकार शक्ति में अवर है, यह दर्शाने की आवश्यकता है।
- विशेष शक्तियाँ भारत के सन्दर्भ में (अनुच्छेद 249 और 312), कार्यकारिणी आदि पर नियंत्रण।
- यह कहते हुए उत्तर समाप्त करें कि उच्च सदन एक महत्वपूर्ण संस्था है। किन्तु इसे निम्न सदन की अपेक्षा कम शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

उत्तरः

उच्च सदन द्विसदनीय विधानमंडल के दो सदनों में से एक है। एकल प्रणाली में, उच्च सदन को एक परामर्शदाता सदन समझा जाता है जबकि संघीय प्रणालियों में इसे निम्न सदन की तुलना में लगभग बराबर ही शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। भारत की राज्य सभा केवल कुछ वित्तीय मामलों को छोड़ सभी पहलुओं में सह-समान स्थिति रखती है।

उच्च सदन की अवर स्थिति के कई कारण हैं। वास्तव में, उच्च सदन की आवश्यकता के बारे में लगभग सभी देशों की संविधान सभा में काफी अधिक बहसें हुई हैं। थॉमस जेफरसन ने भी दो सदनों के विचार का विरोध किया था। यह एक अलोकतांत्रिक, निर्वाचित निम्न सदन के द्वारा व्यक्त जन भावना का नाश करने वाला, अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित निकाय होता है। एक विद्वान ने यह तर्क दिया कि "यदि दूसरा सदन पहले का विरोध करता है तो यह उपद्रवी है; यदि यह सहमत होता है तो यह अनावश्यक है।" निम्नलिखित कुछ निश्चित शक्तियां और स्थितियां हैं जिनका सम्पूर्ण विश्व में उच्च सदन द्वारा प्रयोग किया जाता है:

- कुछ देशों में केवल कुछ सीमित वैधानिक मामलों जैसे संवैधानिक संशोधन हेतु इसकी अनुमति की आवश्यकता होती है। यू. के. में, हाउस आफ लाड्र्स यानी उच्च सदन अधिकतर अधिनियमों को पारित किए जाने से रोक नहीं सकता। उन देशों में जहाँ यह विधान को वीटो कर सकता है (जैसे नीदरलैण्ड), यह प्रस्तावों में संशोधन करने में सक्षम नहीं हो सकता।
- निम्न सदन को जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है और इसलिए वित्त से सम्बन्धित मामलों से सम्बन्धित शक्ति प्रदान की जाती है। भारत में राज्य सभा किसी वित्त विधेयक को केवल दो सप्ताह के लिए रोक सकती है।
- संसदीय प्रणाली में, उच्च सदन सरकार के विरोध में अविश्वास प्रस्ताव पर मतदान नहीं कर सकता। यह भारत के लिए भी सत्य है।
- इंग्लैंड में एक विकासवादी राजनैतिक प्रणाली है जहाँ शक्ति क्रमशः राजमुकुट से हाउस आफ लाड्र्स, उच्च सदन से निम्न सदन की ओर स्थानान्तरित हुई है। अब, उच्च सदन कमोबेश एक संशोधक सदन के रूप में कार्य करता है।

यद्यपि, संघीय प्रणाली ने उच्च सदन को कुछ विशेष शक्तियां प्रदान की हैं। यू. एस. ए. का उच्च सदन विश्व के सर्वाधिक सशक्त उच्च सदनों में से एक है। राज्यों ने अपनी शक्तियाँ केन्द्र को समर्पित कर दी हैं और इसलिए उच्च सदन कुछ ऐसी शक्तियों का प्रयोग करता है जो निम्न सदन के पास नहीं हैं। भारत भी आरम्भ में सशक्त संघ का समर्थन करता था। किन्तु अब भी, राज्य सभा को कुछ विशेष शक्तियां प्राप्त है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

- यू. एस. ए. जैसे देशों के उच्च सदन कुछ कार्यकारी निर्णयों पर सलाह और सहमति प्रदान कर सकते हैं। (उदारण स्वरूप न्यायाधीशों की नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय संधि या राजदूत)।
- केवल उच्च सदन को कार्यपालिका के अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग लगाने की शक्ति प्रयोग करने का एकमात्र अधिकार हो सकता है। यू. एस. ए. में, इस मुद्दे पर केवल सीनेट ही अंतिम रूप से निर्णय करती है और दोष सिद्ध करती है। भारत की राज्य सभा को भारत के उप-राष्ट्रपति को हटाने की अतिरिक्त शक्ति प्राप्त है।
- 2009 के पहले, यू. के. का उच्च सदन अंतिम न्यायालय के रूप में कार्य करता था।
- अनुच्छेद 249 राज्य सभा को, राज्य के विषय पर विधि निर्माण के लिए संसद को सक्षम बनाने हेतु प्रस्ताव पारित करने की शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार, राज्य सभा अनुच्छेद 312 के अन्तर्गत एक नई अखिल-भारतीय-सेवा (ए. आई. एस.) के निर्माण के लिए प्रस्ताव पारित कर सकती है।
- लोक सभा भंग रहने की स्थिति में राज्य सभा अनुच्छेद 352, 356 और 360 के अन्तर्गत जारी किसी उद्घोषणा की अवधि बढ़ा सकती है।

कुल मिलाकर, उच्च सदन की आवश्यकता हमेशा वाद-विवाद का विषय रही है। कुछ इसे इसकी संरचना (सदस्यों के अप्रत्यक्ष चुनाव) के कारण अलोकतांत्रिक कहते हैं, जबकि अन्य इसकी संशोधन और अन्य क्षमताओं के लिए इसका पक्ष लेते हैं। भारत की राज्य सभा को वित्त विधानों के अतिरिक्त समान शक्तियों से परिपूरित किया गया है।

17. भारतीय राजनीति में व्हिप (सचेतक) द्वारा क्या भूमिका निभाई गई है? क्या इस तरह की व्यवस्था होने से जनप्रतिनिधियों की लोकतांत्रिक चेतना कमजोर होती है, चर्चा करें।

दृष्टिकोण:

- पार्टी के वोट सुनिश्चित किये जाने के सबसे महत्वपूर्ण कार्य पर बल दिया जाना चाहिए।
- उत्तर के दूसरे भाग में भूमि अधिग्रहण विधेयक/अध्यादेश, जी.एस.टी, परमाणु समझौते इत्यादि से उदाहरण दीजिए, जहाँ विधेयक के पारित/अवरुद्ध होने को सुनिश्चित करने के लिए सदस्यों को पार्टी लाइन पर मतदान करने के लिए कहा गया था।
- दलबदल और विधायकों की सौदेबाजी बनाम पार्टी में आंतरिक असहमति पर स्वभाविक नियंत्रण जैसे दोनों पक्षों पर तर्क प्रस्तुत करें।

उत्तर:

व्हिप (सचेतक), आधिकारिक रूप से नियुक्त किया गया एक ऐसा अधिकारी है जिसका कार्य पार्टी के सदस्यों में अनुशासन बनाये रखना, उनकी उपस्थिति सुनिश्चित करना और उनको आवश्यक जानकारी प्रदान करना है। संसद को प्रभावशाली और सुचारू रूप से चलने देना मुख्यता व्हिप पर ही निर्भर करता है।

इसकी भूमिका (प्रायः सरकारी व्हिप) यह सुनिश्चित करना है कि –

- सरकार का कार्य योजनाबद्ध ढंग से ही सम्पादित किया जाए।
- प्रत्येक मतदान में बहुमत मिले।
- कोरम (गणपूर्ति) पूरा करने के लिए यथेष्ट उपस्थिति।
- सदन में पार्टी के वक्ताओं को समर्थन।

52वें संविधान संशोधन अधिनियम और 91वें संशोधन (दलबदल-विरोधी) द्वारा इसे सशक्त बनाए जाने के पश्चात् यदि कोई सदस्य व्हिप के निर्देश के विरुद्ध मतदान करता है तो उस पर सदन में अपना स्थान खोने की आशंका बनी रहती है।

सदस्यों को हमेशा (प्रकट रूप में) लोगों के हित में मतदान करना चाहिए, लेकिन जैसा अक्सर देखने को मिलता है कि वे निश्चित रूप से कभी भी जनता की इच्छा या अपनी इच्छा तक से भी मतदान नहीं करते हैं। 'पार्टी के नियमों के विरुद्ध मतदान' अर्थात् जहां सदस्यों को आवश्यक रूप से पार्टी लाइन को मानने की बाध्यता नहीं होती है, यह प्रायः कम ही देखने को मिलता है और उन्हें केवल तभी बुलाया जाता है जब पार्टी में गहरे मतभेद होते हैं।

सचेतना (व्हिपिंग) की व्याख्या लोगों को उनकी अंतरात्मा के विरुद्ध मतदान और उनकी व्यक्तिगत सत्यनिष्ठा को क्षति पहुँचाने के लिए डराने-धमकाने के रूप में की गई है। जन प्रतिनिधि अपने चुनाव क्षेत्रों के हितों की रक्षा के लिए चुने जाते हैं। भूमि अधिग्रहण विधेयक जैसे विषयों को लेकर उनमें असमंजस की स्थिति बनी रहती है। यह संभव है कि अपने चुनाव क्षेत्र की मांग को देखते हुए वह मन से पार्टी लाइन से हट कर मतदान करना चाहते होंगे, परन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो उन्हें अपनी पार्टी के निर्णय को सही ठहराने के लिए भी विवश होना पड़ता है। इसी प्रकार किसी उत्पादक राज्य के प्रतिनिधि के रूप में वह भले ही बहुत प्रसन्न न भी हो तो भी उसे अपनी राज्य सरकार द्वारा जी.एस.टी. विधेयक का विरोध करने के लिए वैधानिक दबाव झेलना ही पड़ेगा और उसे पार्टी लाइन के अनुसार ही कार्य करना होगा। यह तर्क भी दिया जाता है कि सचेतना के बिना सदन में होने वाली चर्चाओं के स्तर में सुधार आएगा क्योंकि प्रत्येक सदस्य स्वतंत्र रूप से अपने विचार प्रस्तुत कर पायेगा, सम्भवतः जिसके परिणामस्वरूप अच्छी नीतियां बनेंगी।

परन्तु हर कार्य की नैतिक जिम्मेदारी और उत्तरदायित्व सदस्य की न हो कर सरकार की ही होती है। इसलिए व्हिप अनुशासन को सुनिश्चित करने का एक माध्यम बन गया है। संसदीय प्रणाली में जनता, व्यक्तिगत प्रत्याशी के बजाय पार्टी के नाम पर मतदान करती है। इसके अतिरिक्त, किसी प्रत्याशी का निर्वाचन उसके चुनाव क्षेत्र के विचारों के बहुमत को प्रदर्शित नहीं करता है। इसलिए पार्टी के चुनाव घोषणापत्र के आधार पर यह तर्क दिया जा सकता है कि लोगों को उस विषय पर पहले से ही पार्टी कि स्थिति का ज्ञान होता है, भले ही यह उनकी इच्छाओं के विपरीत ही क्यों न हो।

अत: स्पष्ट है कि व्हिप के अपने लाभ तो हैं परन्तु इसके साथ साथ नैतिक बाधाएं भी हैं। गैर-कोर विषयों पर 'स्वतंत्र' मतदान को प्रोत्साहन देना चाहिए, लेकिन इसके साथ इस बात को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि केवल ये विषय ही नहीं हैं जिनसे जन प्रतिनिधियों, विशेष रूप से पीछे रह जाने वालों की भूमिका भी सशक्त बनती है।

18. इस तर्क के आलोक में कि शासन अत्यधिक व्यवधानों से घिरा हुआ है और इसके पास इन व्यवधानों का पर्याप्त समाधान भी नहीं है, बताईए कि क्या राज्य सभा की शक्तियों के पुनर्विलोकन का समय आ गया है? संवैधानिक औचित्य एवं निकट अतीत में राज्य सभा द्वारा निभायी गयी भूमिका के परिप्रेक्ष्य में चर्चा कीजिए।

उत्तर:

संसद के द्वितीय सदन का अस्तित्व, इसकी प्रस्थिति (दर्जा) और भूमिका हमेशा वाद-विवाद का विषय रही है। हाल के वर्षों में ऊपरी सदन में आए व्यवधानों के कारण सरकार के विधायी कार्यों में अति विलम्ब होता देखा गया है। तर्क दिया जाता रहा है कि अनिर्वाचित सदन जनता की इच्छा अर्थात् निर्वाचित सदन पर वीटो नहीं लगा सकता। लेकिन, राज्य सभा की निम्नलिखित विशेषताएँ, इसके महत्व को प्रतिदर्शित करती हैं:

- यह जल्दबाजी में निर्मित और व्यर्थ विधानों पर रोक लगाने का कार्य करती है। यह सहज रूप से धन-विधेयक के अतिरिक्त लोकसभा द्वारा पारित सभी विधेयकों को निरस्त कर सकती है।
- वर्तमान समय में जटिल विधानों के कारण इसकी शक्तियाँ इसे निचले सदन के भार को साझा करने के लिए उपयोगी बनाती हैं।
- द्विसदनीय विधायिका की स्थापना करने के तर्क को संविधान सभा के दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है।
  - पहला, इसे "रोजमर्रा के जीवन की उठापटक से दूर चिंतनशील और मूल्यांकनात्मक विवेक बुद्धि सम्पन्न सदन" के रूप में परिकल्पित किया गया था।
  - दूसरा, सार्वजनिक नीति संबंधी प्रस्ताव पेश कर सकने वाले द्वितीय विधायी सदन की आवश्यकता अनुभव की गयी थी।
  - तीसरा, यह लोकप्रिय सदन में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने से वंचित रहने वाले हितों को प्रतिनिधित्व देने के साधन के रूप में कार्य कर सकता है।
- सदन का वर्तमान चरित्र इसे निरर्थक नहीं बनाता है और इसकी शक्तियों से खिलवाड़ नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा करने से राज्य व्यवस्था का संघीय चरित्र एवं केन्द्र-राज्य संबंध कमजोर होंगे।
- इसकी महत्वपूर्ण संवैधानिक शक्तियों में किसी विषय को निर्दिष्ट समय के लिए राज्य सूची से संघ सूची में स्थानांतरित करना एवं लोक सभा भंग रहने की स्थिति में अनुच्छेद 352 के अंतर्गत सीमित समय के लिए आपात का समर्थन करना सम्मिलित है।
- बीते समय में राज्य सभा ने लोक सभा के बहुसंख्यकवाद का प्रतिरोध कर एवं प्रतिनिधित्व प्राप्त न कर पाने वाले वर्गों को सम्मिलित कर राज्य व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।
- हमें याद रखना चाहिए कि संख्यायें हमेशा तात्कालिक सरकार के अनुकूल नहीं रहेंगी और ऊपरी सदन की शक्तियों को कम करने करने के स्थान पर विधायी मामलों में समझौते करने और व्यावहारिक रियायतें देने के प्रयास किए जाने चाहिए।

19. संसदीय समितियां कार्यपालिका की सतत जवाबदेही बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करती हैं। व्याख्या कीजिए। इन समितियों के प्रकार्यों को सीमित करने वाले कारक कौन-से हैं?

दृष्टिकोण:

- संसदीय समितियों के महत्त्व को आलोकित करते हुए उत्तर आरम्भ कीजिए।
- कुछ महत्वपूर्ण समितियों का उल्लेख कीजिए और इस कथन की व्याख्या कीजिए कि कैसे ये कार्यपालिका की सतत जवाबदेही का निर्वहन करती हैं।
- इन समितियों की कार्यपद्धति की सीमाओं को सविस्तार बताइए।

उत्तर:

कार्यपालिका की गतिविधियों पर नियंत्रण के लिए, संसद अपने कार्यों के हिस्से के रूप में कुछ समितियों का गठन करती है। भारतीय संसद में दो प्रकार की समितियां होती हैं: स्थाई और तदर्थ। तदर्थ समितियों की नियुक्ति प्रायः किसी एक विशेष उद्देश्य के लिए की जाती है और यह प्रवर और संयुक्त भी हो सकती हैं। दूसरी ओर, स्थाई समीतियाँ – जैसे लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति, सार्वजनिक उपक्रम संबंधी समितियां आदि होती हैं। इनका स्वरूप अधिकतर स्थाई होता है। कार्यपालिका पर संसद की निगरानी बढाने के लिए, एक दूसरे प्रकार की स्थाई समीति का सृजन वर्ष 1993 में का गया था जिसे विभाग से सम्बन्धित स्थाई समिति (DRSC) का नाम दिया गया था।

सतत जवाबदेही का निर्वहन ये इस प्रकार करती हैं:

- संसद में विचाराधीन विषय पर इनके द्वारा गहराई से अध्ययन किया जाता है क्योंकि सत्र के दौरान संसद सदस्यों के पास पर्याप्त समय न होने के कारण वे इस प्रकार के कार्यों का निर्वहन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए – अनुदान की मांगों की व्यापक समीक्षा।
- चूंकि समितियां दलगत पक्षपात से रहित होती हैं, इसलिए इनके द्वारा की गयी समीक्षा निष्पक्ष होती है। वहीं दूसरी ओर दलगत पक्षपात सामान्य रूप से संसदीय कार्यप्रणाली में प्रमुख बाधक होता है।
- संसद में एक बार बजट पारित होने के पश्चात, पूरे वर्ष भर यही समितियां (जैसे लोक लेखा समिति) अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण को सुसाध्य बना देती हैं।

यद्यपि ये समितियां वैधानिक उद्देश्यों की पूर्ती और संसद के भार को घटाने के लिए एक प्रमुख भूमिका का निर्वहन करती हैं, फिर भी इन समितियों की कार्यप्रणाली की कुछ सीमायें हैं:

- दैनिक प्रशासनिक विषयों पर इन्हें विचार नहीं करना चाहिये।
- कई बार दो विभिन्न समितियों के कार्य एक दूसरे द्वारा किये गए कार्यों का अतिच्छादन कर जाते हैं।
- इनके द्वारा की गयी संस्तुतियों की प्रकृति परामर्श की ही होती हैं और वे संसद के लिए बाध्यकारी नहीं हैं।
- इनके द्वारा की गयी जाँच या समीक्षा, अधिकतर अवसर पर कार्योपरांत ही होती हैं, क्योंकि ये अनियमितताएं घटित होने के पश्चात ही उन्हें उजागर करती हैं।

सीमाओं के बावजूद, संसदीय समितियां, कार्यपालिका पर सतत अनुशासनात्मक निगरानी बनाये रखती हैं।

20. साधारण विधेयक के लिए भारतीय संसद में अपनायी जाने वाली विधायन प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या कीजिए। धन विधेयक, सामान्य विधेयक से किस प्रकार भिन्न है?

दृष्टिकोण:

- साधारण विधेयक पारित करने की प्रक्रिया समझाइए।
- इसके बाद धन विधेयक और साधारण विधेयक के बीच अंतर पर चर्चा कीजिए।

उत्तर:

विधायिका का प्राथमिक कार्य अपने लोगों के लिए कानून बनाना है। भारतीय संसद में, कानून बनाने में निश्चित प्रक्रिया का पालन किया जाता है। साधारण विधेयक के लिए, विधायन की प्रक्रिया में निम्नलिखित पांच चरण सम्मिलित होते हैं:

1. प्रथम पाठन: साधारण विधेयक मंत्री/अन्य सदस्य द्वारा किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। सदन द्वारा अनुमित दिए जाने पर, सदस्य शीर्षक और उद्देश्य पढ़ता है, लेकिन इस स्तर पर विधेयक पर कोई चर्चा नहीं होती है। इसके बाद विधेयक राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है।

2. द्वितीय पाठन: इस स्तर पर, विधेयक की विस्तृत संवीक्षा होती है और विधेयक पूर्ण आकार ग्रहण करता है। इसके 3 उप-चरण होते हैं:

- साधारण बहस की अवस्था
- समिति अवस्था
- विचार-विमर्श अवस्था

विधेयक के प्रत्येक उपबंध पर खण्डवार चर्चा एवं मतदान होता और संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं।

3. तृतीय पाठन: अब किसी और संशोधन की अनुमति नहीं दी जाती है और विधेयक को या तो पूर्ण रूप में स्वीकार किया जाता है या अस्वीकृत कर दिया जाता है। यदि बहुमत स्वीकार करता है तो यह पारित हो जाता और दूसरे सदन को प्रेषित कर दिया जाता है।

4. दूसरे सदन में: विधेयक सभी 3 चरणों से गुजरता है और:

- पारित किया जा सकता है।
- संशोधनों सहित पारित किया जा सकता है।
- अस्वीकृत किया जा सकता है।
- 6 महीने तक कोई कार्रवाई नहीं।

5. संयुक्त बैठक का प्रावधान: यदि विधेयक पारित करने पर सदनों के बीच गतिरोध पैदा हो जाता है, तो राष्ट्रपति लोकसभा और राज्यसभा की संयुक्त बैठक बुला सकता है। दोनों सदनों के सदस्य संयुक्त रूप से मतदान करते हैं और विधेयक साधारण बहुमत से पारित होता है।

6. राष्ट्रपति की अनुमति: दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिए जाने के बाद, इसे अनुमति के लिए राष्ट्रपति के कार्यालय में प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति निम्नलिखित में से किसी भी विकल्प का प्रयोग कर सकता है:

- स्वीकृति देना
- स्वीकृति देने हेतु विधेयक रोक लेना
- पुनर्विचार हेतु विधेयक वापस करना

यदि अनुमति दे दी जाती है, तो यह अधिनियम बन जाता है और क़ानून की पुस्तक का हिस्सा बन जाता है।

साधारण और धन विधेयक के बीच अंतर:

	साधारण विधेयक	**धन विधेयक**
1.	यह लोकसभा या राज्यसभा में से किसी में पुरःस्थापित किया जा सकता है।	यह केवल लोकसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है।
2.	यह या तो मंत्री या किसी सदस्य द्वारा पुरःस्थापित किया जा सकता है।	यह केवल मंत्री द्वारा पुरःस्थापित किया जा सकता है।
3.	इसे राष्ट्रपति की अनुशंसा के बिना पुरःस्थापित किया जा सकता है।	यह केवल राष्ट्रपति की अनुशंसा से पुरःस्थापित किया जा सकता है।
4.	इसे राज्यसभा द्वारा संशोधित या अस्वीकृत किया जा सकता है।	राज्य सभा केवल विधेयक लौटा सकती है।
5.	राज्यसभा केवल 6 महीने तक विधेयक रोक सकती है।	राज्यसभा अधिकतम 14 दिनों के लिए विधेयक रोक सकती है।
6.	राज्यसभा में भेजने के लिए लोकसभा अध्यक्ष के प्रमाणन की आवश्यकता नहीं होती है	लोकसभा अध्यक्ष के प्रमाणन की आवश्यकता होती है।

7.	यदि दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है। गतिरोध की स्थिति में, संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है।	राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जा सकता है, भले ही केवल लोकसभा ने अनुमोदित किया हो। संयुक्त बैठक के लिए कोई प्रावधान नहीं है।
8.	लोकसभा में अस्वीकृत होने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ सकता है।	लोकसभा में अस्वीकृत होने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है।
9.	राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत, अनुमोदित या पुनर्विचार के लिए वापस भेजा जा सकता है।	राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत, अनुमोदित किया जा सकता है, लेकिन पुनर्विचार के लिए वापस नहीं भेजा जा सकता है

21. संविधान की दसवीं अनुसूची और पश्चातवर्ती संशोधन, दलबदल और अवसरवादी राजनीति की समस्या को हल करने में विफल रहे हैं। आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

दृष्टिकोण:

- संक्षेप में संविधान की दसवीं अनुसूची के प्रावधानों की व्याख्या कीजिये।
- इसकी सफलताओं और विफलताओं पर चर्चा कीजिए।

उत्तर:

संविधान के 52 वें संशोधन द्वारा दसवीं अनुसूची को जोड़ा गया जो विधायकों को दल परिवर्तन के आधार पर अयोग्य ठहराए जाने की प्रक्रिया निर्धारित करती है। संसद या राज्य विधायिका का सदस्य अयोग्य ठहराया जाता है, यदि वह या तो स्वेच्छा से अपनी पार्टी से इस्तीफा दे दे या पार्टी व्हिप के निर्देशों का उल्लंघन करे। निर्दलीय सदस्य अयोग्य ठहराए जाएँगे यदि वह किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण कर लें। नामित सदस्य जो किसी पार्टी के सदस्य नहीं हैं, नामांकन के छह महीने के भीतर किसी पार्टी में शामिल होने का चुनाव कर सकते हैं; उस अवधि के बाद, उन्हें किसी पार्टी का सदस्य या स्वतंत्र सदस्य माना जाएगा।

इस कानून में कुछ अपवाद भी हैं। अध्यक्ष या सभापति के रूप में निर्वाचित कोई व्यक्ति अपनी पार्टी से इस्तीफा दे सकता है और वह उस पद से कार्यमुक्त हो जाने के बाद पार्टी में पुन: शामिल हो सकता है। किसी पार्टी का दूसरी पार्टी में विलय हो सकता है यदि इसके कम से कम दो-तिहाई विधायक विलय के पक्ष में मतदान करते हैं। पहले कानून में दलों के बंटवारे की अनुमति दी गई थी,किन्तु अब इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है।

निम्नलिखित पहलू मोटे तौर पर कमियों और विफलताओं को दर्शाते हैं:

- विधायक (legislator) की अंतरात्मा की आवाज को दबाना, उसकी प्रतिबद्धता, सामान्य ज्ञान और निर्वाचन क्षेत्र की चिंताओं के अनुसार मतदान के अधिकार की कटौती (इसलिए संसदीय लोकतंत्र के वेस्टमिनिस्टर मॉडल के बुनियादी चरित्र में परिवर्तन)।
- यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति है जो हाल के वर्षों में प्रकट हुई है जिसका उपयोग सदन में बहुमत रखने वाले लोग कर रहे हैं और इसके कारण निजी सदस्यों का विधेयक आरंभिक चरण में ही निरस्त हो जाता है।
- सांसदों को कभी-कभी किसी ऐसे विधायी साधन के विरुद्ध मतदान करना पड़ता है जिसका पहले उन्होंने समर्थन किया था।
- कानून निर्माताओं को गंभीर विचार रखने, शोध करने और यहां तक कि सदन के समक्ष प्रस्तुत कानून में सर्वोत्तम प्रथाओं को शामिल करने पर विचार और प्रक्रियात्मक मामलों पर अपनी ऊर्जा और ध्यान केंद्रित करने से हतोत्साहित करना। वह भी तब जब कानून निर्माण संसद का प्रमुख कार्य है।
- वर्तमान प्रावधान विधायिका के अध्यक्ष या सभापति, (जो खुद सत्तारूढ़ पार्टी के सदस्य हो सकता/सकती है) की राजनीतिक दलों की ओर से दायर की गयी अयोग्यता की शिकायतों की सत्यता का निर्धारण करने की शक्ति देता है। कोई भी अनुचित निर्णय पद की गरिमा को ठेस पहुंचा सकता है।

- कानून वर्तमान में चुनाव पूर्व गठबंधनों के लिए लागू नहीं होता।
- यह दलबदलुओं पर अतिरिक्त दंड अधिरोपित करने के लिए भी कम है।
- अध्यक्ष के पास किसी उम्मीदवार को अयोग्य घोषित करने के अपने ही निर्णय की समीक्षा करने की शक्ति नहीं है।
- समस्या और भी विकट हो जाती है क्योंकि कानून में 'सूर्यास्त प्रावधान' (सनसेट क्लॉज़) नहीं है।

हालांकि राजनीतिक दल-बदल की बुराई एक राष्ट्रीय चिंता का विषय है और 10 वीं अनुसूची और संबंधित संशोधन एक निश्चित सीमा तक इसका मुकाबला करने में उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए 10 सांसदों को जुलाई 2008 (भारत-अमेरिका असैन्य परमाणु सहयोग मामले) में विश्वास मत के बाद अयोग्य घोषित कर दिया गया था। राज्य सभा सांसदों के विरुद्ध चार मामले बने थे (1989 में दो और 2008 में दो) और सभी में अयोग्यता को बरक़रार रखा गया। राज्य विधानसभाओं में, 2004 तक 268 शिकायतों में से 113 को बरकरार रखा गया था। इसके अलावा, निम्नलिखित तर्कों पर भी ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है:

- 1992 में उच्चतम न्यायालय की पांच जजों की संविधान पीठ (कोहितो होलोहन बनाम ज़ाचिल्हू और अन्य) ने कहा कि यह कानून किसी भी अधिकार या स्वतंत्रता, या संसदीय लोकतंत्र के बुनियादी ढांचे का उल्लंघन नहीं करता।
- कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि 10वीं अनुसूची वस्तुतः निजी सदस्यों की विधायी गतिविधियों पर अंकुश लगाती है तथा इसके कारण निजी सदस्यों के बीच पर्याप्त चिंतन/शोध के अभाव की समस्या व्याप्त होती है। लेकिन विभिन्न स्थायी समितियों की उपस्थिति उन तर्कों को खोखला बना देता है।
- गोस्वामी समिति, चुनाव आयोग और संविधान की समीक्षा के लिए वेंकटचलैया आयोग (2002) ने सिफारिश दी थी कि अयोग्यता का निर्णय राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा चुनाव आयोग की सलाह पर किया जाना चाहिए। यह लाभ के पद के आधार पर अयोग्य ठहराए जाने के लिए प्रक्रिया के समान होगा।
- यह तर्क कि कोई प्रतिनिधि पार्टी के कार्यक्रम के आधार पर चुना गया है, चुनाव पूर्व गठबंधनों तक बढ़ाया जा सकता है। विधि आयोग ने इस शर्त के साथ, कि इस तरह के गठबंधन के साझेदार चुनाव से पहले चुनाव आयोग को सूचित करेंगे, इस परिवर्तन का प्रस्ताव रखा था।
- वेंकटचलैया आयोग ने सिफारिश दी थी कि दलबदलुओं को सदन की शेष अवधि के लिए किसी भी पद या पारिश्रमिक संबंधी राजनीतिक पद धारण करने से रोक दिया जाना चाहिए। यह भी कहा गया कि किसी भी दल-बदलू नेता का मत विश्वास या अविश्वास प्रस्ताव में नहीं गिना जाना चाहिए।
- उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय, अध्यक्ष / सभापति द्वारा दिए गए किसी गलत आदेश की न्यायिक समीक्षा कर उसे सही कर सकते हैं। न्यायिक समीक्षा में अध्यक्ष / सभापति द्वारा लिए गए निर्णय के पहले का चरण शामिल नहीं हैं।

उपरोक्त उपायों के साथ व्हिप-अनुशासन की कड़ाई प्रतिबंधित करना भी विधायी क्षेत्र (legislative space) को और स्वंतंत्र करेगा और इससे यह भी सुनिश्चित होगा कि हर सरकार न केवल कानून पर सभी पार्टियों की आम सहमति बना रही है बल्कि यह पार्टी की सीमाओं से ऊपर हर विधायक (lawmaker) तक पहुँचने का प्रयास भी कर रही है। परिणामतः सम्पूर्ण प्रक्रिया में विधि निर्माताओं की भागीदारी मजबूत होगी।

राज्य विधायिका

विषय सूची

हमारे संविधान में केंद्र और राज्य दोनों के शासन के लिए संसदीय प्रणाली अपनाई गई है। केंद्रीय विधान-मंडल में दो सदन हैं। संविधान में मूलतः यह उपबंध था कि अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में विधान-मंडल द्विसदनीय होगा। आंध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, कर्नाटक, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में दो सदन तथा शेष राज्यों में एक ही सदन का उपबंध किया गया था। कुछ राज्यों ने विधानपरिषद को अनावश्यक सदन माना तथा ऐसे राज्यों के अनुरोध पर बाद में संसद ने विधि बनाकर विधानपरिषद का उत्सादन कर दिया।

1. राज्य के विधान-मंडलों का गठन

- भारतीय संविधान के भाग VI में अनुच्छेद 168 के अंतर्गत राज्यों के विधान-मंडलों के गठन की व्यवस्था की गई है। इसी अनुच्छेद के अंतर्गत यह उल्लेख है कि राज्य विधान-मंडल राज्यपाल और विधानसभा से मिलकर बनेगा तथा जिन राज्यों में द्विसदनीय व्यवस्था है वहाँ की विधानपरिषद भी इसमें सम्मिलित होगी।

1.1. द्विसदनीय और एक सदनीय विधान-मंडल

- द्विसदनीय व्यवस्था का प्रारंभ केंद्र में पहली बार मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों (भारत शासन अधिनियम, 1919) द्वारा किया गया था। भारत शासन अधिनियम, 1935 द्वारा 11 में से 6 प्रान्तों अर्थात् बंगाल, बॉम्बे, मद्रास, बिहार, असम और संयुक्त प्रान्त के लिए द्विसदनीय विधान-मंडल की व्यवस्था की गयी।
- अधिकांश राज्यों में एक सदनीय व्यवस्था है, जबकि कुछ राज्यों में द्विसदनीय व्यवस्था है। वर्तमान में सात राज्यों में द्विसदनीय विधान-मंडल है। (द्विसदनीय विधान-मंडल का अर्थ है वैसा विधान-मंडल जिसमें दो सदन हैं: एक उच्च सदन और दूसरा निम्न सदन)।
- वैसे राज्य जहाँ दो सदन हैं वे हैं- **आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश** और **जम्मू-कश्मीर** (वर्तमान समय में जम्मू-कश्मीर एक संघ शासित प्रदेश है)।
- मध्य प्रदेश के लिए भी विधानपरिषद की व्यवस्था की गयी है। लेकिन राष्ट्रपति द्वारा इसके प्रभावी होने की अधिसूचना जारी नहीं की गयी है। तमिलनाडु विधानसभा द्वारा पारित एक संकल्प के आधार पर, संसद ने तमिलनाडु विधानपरिषद अधिनियम, 2010 पारित किया है। लेकिन इससे पहले कि यह लागू हो सके तमिलनाडु विधानसभा ने विधानपरिषद के उत्सादन का प्रस्ताव पारित कर दिया।
- शेष राज्यों में एक सदनीय व्यवस्था है। यहाँ राज्य विधायिका का गठन राज्यपाल और विधानसभा से मिलकर होता है। द्विसदनीय व्यवस्था वाले राज्यों में राज्य विधायिका का गठन राज्यपाल, विधानपरिषद और विधानसभा से मिलकर होता है। जहाँ विधानपरिषद उच्च सदन है तथा वहीं विधानसभा निम्न सदन है।

1.2. राज्यों में दूसरे सदन का सृजन और उत्सादन

- संविधान संसद को राज्यों में विधानपरिषदों के सृजन (जहाँ यह मौजूद नहीं है) और उत्सादन (जहाँ यह मौजूद है) की शक्ति प्रदान करता है। विधानपरिषद के उत्सादन (उन्मूलन) और सृजन का जो तंत्र है, वह साधारण है तथा पारिभाषिक अर्थ में इस हेतु संविधान संशोधन अधिनियम की आवश्यकता नहीं होती है। संसद का इस उद्देश्य से बनाया गया अधिनियम अनु. 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझा जाता और संसद में इसे साधारण बहुमत से पारित कर दिया जाता है।
- यह प्रक्रिया संबंधित राज्य के विधानसभा के एक संकल्प द्वारा विशेष बहुमत (सभा के कुल सदस्यों का बहुमत एवं उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का कम-से-कम दो तिहाई का बहुमत) से पारित प्रस्ताव द्वारा एवं तत्पश्चात् संसद के एक अधिनियम द्वारा की जाती है।

- इसी क्रम में इसकी आलोचना करते हुए कहा गया कि आर्थिक रूप से कमजोर राज्य दो सदनों के अपव्यय का खर्च वहन नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार, इस व्यवस्था को प्रत्येक राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया गया कि वे द्विसदनीय व्यवस्था को अपनाते हैं या नहीं। इस प्रावधान के तहत, आंध्र प्रदेश ने वर्ष 1957 में अपने यहाँ विधानपरिषद का गठन किया तथा इसी प्रक्रिया के तहत वर्ष 1985 में इसे समाप्त कर दिया। वर्ष 1986 में तमिलनाडु में और वर्ष 1969 में पंजाब तथा पश्चिम बंगाल में विधानपरिषद को समाप्त कर दिया गया।

1.3. विधानसभा

- प्रत्येक राज्य की विधानसभा प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से व्यस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा निर्वाचित सदस्यों से निर्मित होती है। विधानसभा के सदस्यों की संख्या उनकी जनसंख्या के आधार पर 500 से ज्यादा और 60 से कम नहीं हो सकती।
- हालाँकि, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम और गोवा के मामले में न्यूनतम संख्या 30 तय है और मिजोरम के मामले में यह 40 है। इसके अतिरिक्त सिक्किम और नागालैंड के कुछ सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष रीति से भी किया जाता है।
- राज्यपाल आंग्ल-भारतीय समुदाय से एक सदस्य को मनोनीत कर सकते हैं, यदि उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व विधानसभा में नहीं हो। संविधान द्वारा प्रत्येक राज्य में जनसंख्या अनुपात के आधार पर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया गया है। प्रत्येक जनगणना के बाद पुनः समायोजन भी किया जाता है।

1.4. विधानपरिषद

- विधानपरिषद के सदस्य परोक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। विधानपरिषद की सदस्य संख्या विधानसभा की सदस्य संख्या के अनुरूप बदलती रहती है। परिषद की सदस्य संख्या सभा के एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकती है और 40 (जम्मू-कश्मीर एक अपवाद है जहाँ विधानपरिषद में 36 सदस्य हैं) से कम नहीं हो सकती है। इस प्रावधान को इसलिए अपनाया गया है ताकि उच्च सदन विधान-मंडल में ज्यादा प्रभावशाली ना हो जाए।

हालांकि संविधान द्वारा अधिकतम और न्यूनतम सदस्य संख्या तय कर दी गयी है, लेकिन परिषद की वास्तविक संख्या संसद द्वारा तय की जाती है। विधानपरिषद का गठन निम्नलिखित रीति से होता है:

- 1/3 सदस्य स्थानीय निकायों जैसे नगर पालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं।
- 1/3 सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधानसभा के सदस्यों द्वारा किया जाता है।
- 1/12 सदस्यों का निर्वाचन राज्य में रहने वाले ऐसे व्यक्तियों द्वारा होता है जो किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष से स्नातक हैं।
- 1/12 सदस्यों का निर्वाचन 3 वर्ष से अध्यापन कर रहे लोग करते हैं, लेकिन ये अध्यापक माध्यमिक विद्यालयों से कम के नहीं होने चाहिए।
- शेष सदस्यों (1/6) का मनोनयन राज्यपाल द्वारा उन लोगों के बीच से किया जाता है जो साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारिता आन्दोलन और समाज सेवा का विशेष ज्ञान व व्यावहारिक अनुभव रखते हों।

इस प्रकार, मोटे तौर पर अगर कहा जाए तो 5/6 सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष चुनाव के द्वारा होता है और 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।

2. राज्य विधान-मंडल की सदस्यता

2.1. अर्हताएँ

संविधान के अनुसार राज्य विधायिका के सदस्यों के रूप में चुने जाने के लिए निम्नलिखित अर्हताएँ होनी चाहिए:

- उसे भारत का नागरिक होना चाहिए।
- उसे निर्वाचन आयोग द्वारा अधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष संविधान की तीसरी अनुसूची में निर्धारित प्रावधानों के तहत शपथ या संकल्प लेना होता है।
- उसकी आयु विधानसभा के लिए कम से कम 25 वर्ष और विधानपरिषद के लिए कम से कम 30 वर्ष होनी चाहिए।
- उसमें संसद द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताएं भी होनी चाहिए।

संसद द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 द्वारा कुछ निम्नलिखित अतिरिक्त अर्हताएं भी निर्धारित की गयी हैं:

- विधानपरिषद में निर्वाचन के लिए किसी व्यक्ति को सम्बन्धित राज्य के किसी विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना चाहिए और राज्यपाल द्वारा नामित होने के लिए उसे सम्बंधित राज्य का निवासी होना चाहिए।
- विधानसभा सदस्य बनने वाला व्यक्ति सम्बंधित राज्य के किसी निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता भी होना चाहिए।
- यदि कोई व्यक्ति अनुसूचित जाति या जनजाति के लिए आरक्षित सीट से चुनाव लड़ता है तो उसे अवश्य ही क्रमशः अनुसूचित जाति या जनजाति का सदस्य होना चाहिए।

2.2. निरर्हताएँ

- राज्य विधान-मंडल के सदस्यों के सदस्यता के लिए निरर्हताएँ (अनु. 191) संसद के सदस्यों (अनु. 102) के अनुरूप हैं। (सन्दर्भ के लिए केंद्रीय विधायिका के नोट्स देखें)। निरर्हता की कुछ शर्तें लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में और दल-बदल कानून में भी वर्णित हैं। अनु. 191 के तहत या लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के आधार पर राज्य विधान-मंडल के किसी सदस्य के निरर्हता संबंधी प्रश्न पर राज्यपाल चुनाव आयोग की राय के अनुसार फैसला करेगा। आयोग की राय राज्यपाल पर आबद्धकर है। इस सम्बन्ध में राज्यपाल का निर्णय अंतिम होगा।

नोट: दल-बदल विरोधी क़ानून से सम्बन्धित प्रावधानों का वर्णन केंद्रीय विधायिका वाले अध्याय में किया गया है।

2.3. स्थानों का रिक्त होना

राज्य विधानसभा का कोई सदस्य निम्नलिखित मामलों में अपने स्थान को रिक्त करता है:

- **दोहरी सदस्यता:** कोई व्यक्ति एक साथ राज्य विधान-मंडल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं रह सकता है। यदि कोई व्यक्ति दोनों सदनों के लिए निर्वाचित हो जाता है तो राज्य विधान-मंडल द्वारा बनायी गयी विधि के तहत एक सदन से उसका स्थान रिक्त हो जाएगा।
- **निरर्हता:** राज्य विधान-मंडल का कोई सदस्य यदि निरर्ह या अयोग्य पाया जाता है तो उसका स्थान रिक्त हो जायेगा।
- **त्यागपत्र:** कोई सदस्य अपना लिखित त्यागपत्र विधानपरिषद के सभापति या विधानसभा के अध्यक्ष को सौंप सकता है। त्यागपत्र स्वीकार हो जाने के बाद उसका स्थान रिक्त हो जायेगा।
- **अनुपस्थिति:** राज्य विधान-मंडल किसी सीट को रिक्त घोषित कर सकती है यदि कोई सदस्य बिना किसी पूर्व अनुमति के 60 दिनों तक अनुपस्थित रहता है।
- **अन्य मामले:** राज्य विधान-मंडल के किसी भी सदन से किसी सदस्य का पद रिक्त हो सकता है-
    - यदि न्यायालय द्वारा उसके निर्वाचन को अमान्य ठहरा दिया जाए,
    - यदि उसे सदन से बर्खास्त कर दिया जाए,
    - यदि वह राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हो जाए और
    - यदि वह किसी राज्य का राज्यपाल नियुक्त हो जाए।

3. राज्य विधान-मंडल के पीठासीन अधिकारी

3.1. विधानसभा अध्यक्ष

- विधानसभा सदस्य अपने सदस्यों में से ही अध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं। सामान्यतः अध्यक्ष का पद विधानसभा के कार्यकाल तक होता है। हालाँकि, निम्नलिखित मामलों में विधानसभा अध्यक्ष का पद रिक्त हो सकता है:
    - यदि उसकी विधानसभा की सदस्यता समाप्त हो जाए।
    - यदि वह उपाध्यक्ष को लिखित में अपना त्यागपत्र सौंप दे।
    - यदि उसे हटाने संबंधी प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा पास हो जाए। इस तरह का कोई प्रस्ताव 14 दिन की पूर्व सूचना के पश्चात् ही प्रस्तुत किया जा सकता है।
    - विधानसभा अध्यक्ष की शक्तियां लोकसभा अध्यक्ष के ही समान हैं।

3.1.1. सदस्यों को अयोग्य घोषित करने की अध्यक्ष की शक्ति पर सुप्रीम कोर्ट का निर्णय

- हाल ही में उत्पन्न अरुणाचल प्रदेश संकट पर सुप्रीम कोर्ट ने अपना फैसला सुनाते हुए कहा कि अध्यक्ष को संविधान की दसवीं अनुसूची के तहत दलबदल के लिए विधायकों को अयोग्य ठहराए जाने का निर्णय लेने से उस स्थिति में बचना चाहिए जबकि स्वयं उसके विरुद्ध पद से हटाए जाने के लिए संकल्प का नोटिस लंबित है।
- दसवीं अनुसूची के अनुसार दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हता के प्रश्नों पर अध्यक्ष या सभापति का विनिश्चय अंतिम होता है।

हालांकि इस संबंध में अध्यक्ष या सभापति के निर्णय के उपरांत न्यायिक हस्तक्षेप संभव है।

3.1.2. अध्यक्ष की भूमिका से संबंधित नवीनतम मुद्दे

- सदन के अध्यक्ष की निष्पक्ष भूमिका पर संदेह उत्पन्न करने वाले दृष्टान्तों में वृद्धि हुई है यह भारतीय लोकतंत्र के लिए चिंता की बात है। उदाहरण के लिए,
    - गुजरात और तमिलनाडु की विधानसभा में सभी प्रमुख विपक्षी दलों का निलंबन।
    - अरुणाचल प्रदेश विधानसभा के प्रकरण में सदन के अध्यक्ष को हटाया जाना।
- यह हाल ही में, उच्चतम न्यायालय ने अरुणाचल प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लगाए जाने के मुद्दे पर निर्णय लेते समय सदन के अध्यक्ष की भूमिका पर सविस्तार चर्चा की।
- इस प्रकरण में सदन के अध्यक्ष को हटाने के लिए प्रस्ताव सदन में लाया गया था। जब यह प्रस्ताव लंबित था, तब अध्यक्ष ने कुछ विधायकों को अयोग्य घोषित कर दिया था।

न्यायालय की प्रमुख टिप्पणी

- इस निर्णय ने पहली बार कानूनी सिद्धांत के रूप में यह निर्धारित किया कि यदि सदन के अध्यक्ष को हटाने का "प्रस्ताव" पहले से ही लाया जा चुका है तो वह सदन के सदस्यों को अयोग्य घोषित नहीं कर सकता है, अपितु उसे पहले यह सिद्ध करना होगा कि उसे सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त है।

3.2. विधानसभा उपाध्यक्ष

विधानसभा उपाध्यक्ष का चुनाव भी सदस्यों के बीच से होता है। अध्यक्ष की भांति वह भी विधानसभा के कार्यकाल तक अपने पद पर बना रहता है। हालाँकि, निम्नलिखित मामलों में उसका पद रिक्त हो सकता है:

- यदि उसकी विधानसभा सदस्यता समाप्त हो जाए।
- यदि वह अध्यक्ष को अपना इस्तीफा लिखित में सौंप दे।

- यदि उसे हटाने संबंधी प्रस्ताव सदन के सभी सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा पास हो जाए। इस तरह का कोई प्रस्ताव 14 दिन की पूर्व सूचना के पश्चात् ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपाध्यक्ष, अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके सभी कार्यों को सम्पादित करता है। इस स्थिति में उसे अध्यक्ष के समान शक्तियां प्राप्त होती हैं।

विधानसभा अध्यक्ष सदस्यों के बीच से सभापति पैनल का गठन करता है। उनमें से कोई एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में विधानसभा की अध्यक्षता करता है। जब वह अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है तो उसके पास अध्यक्ष के समान शक्तियां होती हैं।

3.3. विधानपरिषद का सभापति

विधानपरिषद सदस्य अपने सदस्यों में से ही सभापति का निर्वाचन करते हैं। हालाँकि, वह निम्नलिखित मामलों में सभापति का पद रिक्त करता है:

- यदि उसकी विधानपरिषद सदस्यता समाप्त हो जाए।
- यदि वह उपसभापति को लिखित त्यागपत्र सौंप दे।
- यदि उसे हटाने संबंधी प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा पास हो जाए। इस तरह का कोई प्रस्ताव 14 दिन की पूर्व सूचना के बाद ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

पीठासीन अधिकारी के रूप में सभापति को विधानसभा अध्यक्ष की तरह सारी शक्तियां प्राप्त रहती हैं, सिर्फ धन विधेयक के मामले को छोड़कर, जहाँ विधानसभा अध्यक्ष ही उसके धन विधेयक होने का निर्णय लेता है। अध्यक्ष की तरह सभापति के वेतन और भत्ते का निर्धारण राज्य विधान-मंडल द्वारा किया जाता है जो कि राज्य की संचित निधि पर भारित होता है और सदन में मतदान के योग्य नहीं होता है।

3.4. विधानपरिषद का उपसभापति

विधानपरिषद सदस्य अपने सदस्यों में से ही उपसभापति का निर्वाचन करते हैं। हालाँकि, वह निम्नलिखित मामलों में उपसभापति का पद रिक्त करता है:

- यदि उसकी विधानपरिषद सदस्यता समाप्त हो जाए।
- यदि वह सभापति को लिखित त्यागपत्र सौंप दे।
- यदि उसे हटाने संबंधी प्रस्ताव सदन के सभी सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा पास हो जाए। इस तरह का कोई प्रस्ताव 14 दिन की पूर्व सूचना के बाद ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपसभापति, सभापति की अनुपस्थिति में उसके सभी कार्यों को करता है तथा वह सभापति के समान शक्तियां धारित करता है।

4. अवधि

4.1. विधानसभा की अवधि

विधानसभा की अवधि 5 वर्ष होती है, लेकिन:

- राज्यपाल इसे 5 वर्ष से पूर्व भी विघटित कर सकता है।
- 5 वर्ष के इस कार्यकाल को राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा के दौरान बढ़ाया भी जा सकता है। विधानसभा का जीवन काल बढ़ाने के लिए संसद को विधि बनानी होगी। विस्तार एक बार में एक वर्ष का ही हो सकता है। किंतु, जिस तारीख को उद्घोषणा प्रवृत्त नहीं रहती है उस तारीख से यह विस्तार 6 माह से अधिक नहीं हो सकता।

4.2. विधानपरिषद की अवधि

- विधानपरिषद कभी विघटित न होने वाला एक स्थायी सदन है। लेकिन इसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक दो वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत हो जाते हैं। इस प्रकार, यह राज्यसभा की तरह एक स्थायी निकाय है।

5. राज्य विधान-मंडल का सत्र

राज्य विधान-मंडल का सत्र भी संघीय विधायिका के समान है। सत्र आहूत करने, स्थगन, सत्रावसान, विघटन, आदि के बारे में जानकारी के लिए केंद्रीय विधायिका के नोट्स देखें।

5.1. सत्र

- राज्यपाल विधानसभा के सदन को ऐसे समय और स्थान पर अधिविष्ट होने के लिए आहूत करता है जो वह ठीक समझे। सदन साधारणतः राजधानी में उसके लिए आरक्षित भवन में अधिवेशन करता है। किंतु कुछ सभाओं का अधिवेशन अन्य भवनों में भी हुआ है। लगभग सभी विधानसभाओं के सभी अधिवेशन एक ही नगर में होते हैं। महाराष्ट्र तथा जम्मू-कश्मीर विधानसभा इसके अपवाद हैं। महाराष्ट्र विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन, नागपुर में होता है और जम्मू-कश्मीर विधानसभा का शीतकालीन सत्र जम्मू में होता है।
- सदन के एक सत्र की अंतिम बैठक और आगामी सत्र की पहली बैठक के लिए नियत तारीख के बीच छह माह का अंतर नहीं होगा। अन्य शब्दों में विधानसभा का अधिवेशन वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य होगा। सदन का सत्रावसान राज्यपाल द्वारा किया जा सकता है।

5.2. राज्यपाल का अभिभाषण

राज्यपाल दो अवसरों पर विधान-मंडल में अभिभाषण करता है (अनु. 176)।

- प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात् प्रथम सत्र के आरंभ पर।
- प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ पर।

राज्यपाल को विधान-मंडल में अभिभाषण करने का अधिकार है अर्थात् यदि दोनों सदन हैं तो एक साथ समवेत दोनों सदनों में या केवल विधानसभा है तो एक ही सदन में। इस प्रयोजन के लिए राज्यपाल सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा।

राज्यपाल राज्य के विधान-मंडल में लंबित किसी विधेयक के संबंध में संदेश या कोई अन्य संदेश भेज सकेगा। संदेश की प्राप्ति पर उस सदन का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सुविधानुसार शीघ्रता से उस पर विचार करे। यह शक्तियां वैसी ही हैं जैसी संसद के संबंध में राष्ट्रपति में निहित हैं।

6. राज्य विधान-मंडल में विधायी प्रक्रिया

द्विसदनीय व्यवस्था वाले राज्यों में विधायी प्रक्रिया कुछ मामलों को छोड़कर लगभग सभी मामलों में संसद के समान होती है।

6.1. साधारण विधेयक के मामले में संसद और राज्य विधान-मंडल में विधायी प्रक्रिया की तुलना

	संसद	राज्य विधान-मंडल
1	यह संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है।	यह राज्य विधान-मंडल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है।
2.	यह किसी मंत्री या किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।	यह किसी मंत्री या किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।
3.	जिस सदन में प्रारंभ किया जाता है उसमें यह प्रथम, द्वितीय और तृतीय वाचन/पाठन से गुजरता है।	जिस सदन में प्रारंभ किया जाता है उसमें यह प्रथम, द्वितीय और तृतीय वाचन/पाठन से गुजरता है।

4.	यह तभी पारित माना जाता है जब संसद के दोनों सदनों की संशोधन या बिना संशोधन के सहमति हो।	यह तभी पारित माना जाता है जब राज्य विधान-मंडल के दोनों सदनों की संशोधन या बिना संशोधन के सहमति हो।
5.	दोनों सदनों के बीच गतिरोध तब उत्पन्न होता है जब दूसरे सदन द्वारा पहले सदन से पारित विधेयक को अस्वीकार कर दिया जाये या दूसरे सदन द्वारा विधेयक को ऐसे संशोधनों के साथ पारित किया जाये जो पहले सदन को मान्य न हो या दूसरा सदन विधेयक को 6 माह तक पारित न करे।	दोनों सदनों के बीच गतिरोध तब उत्पन्न होता है जब विधानपरिषद, विधानसभा द्वारा पारित विधेयक को अस्वीकार करे या संशोधन प्रस्तावित करे जो विधानसभा को स्वीकार्य न हो या **3 माह तक** विधेयक को पारित न करे।
6.	संविधान में किसी विधेयक पर गतिरोध की स्थिति के निपटान हेतु संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का प्रावधान है।	संविधान में किसी विधेयक के मसौदे के संबंध में गतिरोध की स्थिति में विधान-मंडल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई उपबंध नहीं है।
7.	लोकसभा दूसरी बार विधेयक को पारित कर राज्यसभा पर अभिभावी नहीं हो सकती और इसका विलोमतः भी सही है।	विधानसभा विधेयक पास करने में विधानपरिषद पर अभिभावी हो सकती है। जब एक विधेयक विधानसभा द्वारा दूसरी बार पारित कर परिषद को भेजा जाता है तब यदि परिषद इसे फिर से अस्वीकार कर दे या सुधार के लिए फिर कहे या **एक माह तक** इसे पारित न करे तो यह उसी रूप में पारित माना जायेगा जिस रूप में विधानसभा ने इसे पारित किया था।
8.	किसी विधेयक पर उत्पन्न गतिरोध को हल करने के लिए, चाहे वह संसद के किसी भी सदन के लिए हो, संयुक्त बैठक का उपबन्ध है।	दूसरी बार विधेयक को पारित करते समय सिर्फ इसे विधानसभा से स्वीकृति की आवश्यकता होती है। विधान परिषद द्वारा आरंभ एवं पारित तथा विधानसभा को पारेषित विधेयक को यदि विधानसभा अस्वीकार कर दे तो वह समाप्त हो जाता है।

6.2. धन विधेयक के मामले में संसद और राज्य विधान-मंडल की विधायी प्रक्रिया की तुलना

1.	इसे केवल लोकसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है न कि राज्यसभा में।	इसे केवल विधानसभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है।
2.	यह केवल एक मंत्री द्वारा ही पुरःस्थापित किया जा सकता है न कि किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा।	यह केवल एक मंत्री द्वारा ही पुरःस्थापित किया जा सकता है न कि किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा।
3.	इसे केवल राष्ट्रपति की सिफारिश के पश्चात् ही पुरःस्थापित किया जा सकता है।	इसे केवल राज्यपाल की संस्तुति के पश्चात् ही पुरःस्थापित किया जा सकता है।

4.	इसे राज्यसभा द्वारा संशोधित या अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। इसे लोकसभा को सिफारिशों या बिना किसी सिफारिश के 14 दिनों के भीतर लौटा देना चाहिए।	इसे विधानपरिषद द्वारा संशोधित या अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है इसे विधानसभा को सिफारिशों या बिना किसी सिफारिश के 14 दिनों के भीतर लौटा देना चाहिए।
5.	लोकसभा, राज्यसभा की सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है।	विधानसभा, विधानपरिषद की सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है।
6.	यदि लोकसभा किसी सिफारिश को स्वीकार कर लेती है तो इसे दोनों सदनों द्वारा परिवर्तित रूप में पारित मान लिया जाता है।	यदि विधानसभा किसी सिफारिश को स्वीकार कर लेती है तो इसे दोनों सदनों द्वारा परिवर्तित रूप में पारित मान लिया जाता है।
7.	लोकसभा द्वारा राज्यसभा की किसी सिफारिश को न मानने पर, विधेयक को दोनों सदनों द्वारा इसके मूल रूप में पारित मान लिया जाता है।	विधानसभा द्वारा विधानपरिषद की किसी सिफारिश को न मानने पर विधेयक को दोनों सदनों द्वारा इसके मूल रूप में पारित मान लिया जाता है।
8.	यदि राज्यसभा विधेयक को 14 दिनों के भीतर लोकसभा को न लौटाए तो तय सीमा के अन्दर इसे पारित मान लिया जाता है।	यदि विधानपरिषद विधेयक को 14 दिनों के भीतर विधानसभा को न लौटाए तो तय सीमा के अन्दर इसे पारित मान लिया जाता है।
9.	धन विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई प्रावधान नहीं है।	दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई प्रावधान नहीं है।
10.	संसद द्वारा पारित धन विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष पेश किया जाता है। वह इस पर सहमति दे भी सकता है या नहीं भी, लेकिन इसे पुनर्विचार के लिए लौटा नहीं सकता है।	जब किसी धन विधेयक को राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, वह सहमति दे सकता है या अस्वीकार कर सकता है, इसके अतिरिक्त वह राष्ट्रपति की सहमति के लिए सुरक्षित रख सकता है लेकिन पुनर्विचार के लिए राज्य विधायिका को नहीं लौटा सकता है। राष्ट्रपति सहमति दे भी सकता है और नहीं भी, लेकिन पुनर्विचार के लिए लौटा नहीं सकता है।

नोट: संविधान संशोधन विधेयक राज्य विधान-मंडल में प्रारंभ नहीं किया जा सकता।

6.3. विधेयक पर राज्यपाल की स्वीकृति

- जब कोई विधेयक राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है तो राज्यपाल के पास निम्नलिखित विकल्प होते हैं:
    - वह विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर दे; इसके बाद यह कानून बन जाएगा।
    - वह विधेयक को अपनी स्वीकृति देने से मना कर दे; तो विधेयक कानून बनने में विफल रहता है।
    - धन विधेयक के अलावा किसी अन्य विधेयक के मामले में, वह विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है।

- वह राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयक को सुरक्षित रख सकता है। संवैधानिक प्रावधानों के तहत उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम करने के मामले में इसे सुरक्षित रखना अनिवार्य है। राज्यपाल द्वारा किसी धन विधेयक को सुरक्षित रखे जाने की स्थिति में, राष्ट्रपति उस पर अपनी सहमति दे सकता है या अस्वीकार कर सकता है।
- लेकिन धन विधेयक के अतिरिक्त किसी अन्य विधेयक के मामले में, राष्ट्रपति इसे राज्यपाल को निर्देशित करते हुए विधान-मंडल को पुनर्विचार के लिए लौटाने को कह सकते हैं। इस मामले में, विधान-मंडल को ऐसे विधेयक पर 6 माह के भीतर अवश्य ही पुनर्विचार करना होता है, उसके बाद यदि इसे पारित किया जाता है तो, इसे पुन: राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करना होता है। लेकिन राष्ट्रपति के लिए इस पर सहमति देना बाध्यकारी नहीं है (अनु. 201)।
- यह स्पष्ट है कि जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित है, तब बिना राष्ट्रपति के सहमति के वह कानून के रूप में प्रभावी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, संविधान में राष्ट्रपति को विधेयक पर सहमति देने (या अपनी सहमति न देने) के लिए कोई समय सीमा तय नहीं की गयी है। फलस्वरूप, राष्ट्रपति राज्य विधान-मंडल के किसी विधेयक को अनिश्चित काल के लिए अपने पास रोक सकता है।
- इसके अलावा, जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रखा जाता है, तो वह संवैधानिकता के किसी प्रश्न पर इसे अनु.143 के तहत उच्चतम न्यायालय के पास सलाह हेतु भेज सकता है।

6.4. राज्यपाल और राष्ट्रपति के वीटो शक्ति की तुलना

राष्ट्रपति	राज्यपाल
संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक पर सहमति दे सकता है।	राज्य विधायिका द्वारा पारित विधेयक पर सहमति दे सकता है।
घोषणा कर सकता है कि वह सहमति नहीं देगा, तो इस मामले में विधेयक कानून नहीं बन पाता है।	घोषणा कर सकता है कि वह सहमति नहीं देगा, तो इस मामले में विधेयक कानून नहीं बन पाता है।
धन विधेयक के अतिरिक्त किसी अन्य विधेयक के मामले में, संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि विधेयक को संशोधन के साथ या संशोधन के बिना पुनः पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति इस पर सहमति देने हेतु बाध्य है।	धन विधेयक के अलावा किसी अन्य विधेयक के मामले में, राज्य विधान-मंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि विधेयक को संशोधन के साथ या संशोधन के बिना पुनः पारित कर दिया जाता है तो राज्यपाल इस पर सहमति देने हेतु बाध्य है।
	इसके अतिरिक्त राज्यपाल के पास एक और विकल्प होता है; वह राष्ट्रपति के विचारार्थ इसे सुरक्षित रख सकता है।

राष्ट्रपति के पुनर्विचार के लिए सुरक्षित राज्य विधेयक के मामले में वह निम्नलिखित कदम उठा सकता है : • धन विधेयक के मामले में, वह सहमति दे भी सकता है और नहीं भी। • किसी अन्य विधेयक के मामले में, ○ घोषणा कर सकता है कि वह इसे सहमति देता है या नहीं, या ○ राज्य विधायिका को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है; राज्य विधायिका को इस पर 6 महीने के भीतर अवश्य पुनर्विचार करना होगा। यदि यह पुनः पारित (संशोधन के साथ या संशोधन के बिना) कर दिया जाता है तो इसे सीधे राष्ट्रपति के समक्ष पेश करना होगा। लेकिन राष्ट्रपति इस पर सहमति देने के लिए बाध्य नहीं है यद्यपि राज्य विधान-मंडल ने इसे दुबारा पारित किया हो।	राज्यपाल अगर किसी विधेयक को एक बार राष्ट्रपति के पुनर्विचारार्थ रखता है तो इस विधेयक के बाद के अधिनियमन की जिम्मेदारी राष्ट्रपति की होती है। इसमें राज्यपाल की कोई भूमिका नहीं होती है।

7. राज्य विधान-मंडल का विशेषाधिकार

- संवैधानिक प्रावधानों के तहत संसद और राज्य विधान-मंडलों के विशेषाधिकार समान हैं (अनु. 105 और 194)। संविधान द्वारा संसद / राज्य विधान-मंडलों के दोनों सदनों, उनकी समितियों तथा उनके सदस्यों को कुछ विशेष अधिकार, उन्मुक्तियाँ तथा सुरक्षा प्रदान की गई हैं।
- यह ध्यान देने योग्य है कि संविधान ने उन लोगों जो राज्य विधान-मंडल या इसके किसी समिति की कारवाईयों में बोलने और भाग लेने के लिए अधिकृत हैं, के विशेषाधिकारों में विस्तार किया है। इसमें महाधिवक्ता और राज्य के मंत्री सम्मिलित हैं। इन्हें दो व्यापक श्रेणियों में बाँटा गया है:
    - **सामूहिक विशेषाधिकार** का प्रयोग प्रत्येक सदन द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है। इनमें, रिपोर्ट आदि प्रकाशित करने का अधिकार, बाहरी व्यक्तियों को सदन की कार्यवाही से बाहर करना, विशेषाधिकारों के उल्लंघन के लिए सदस्यों/बाहरी व्यक्तियों को दंडित करना इत्यादि सम्मिलित हैं।
    - **व्यक्तिगत विशेषाधिकार** सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्रयोग किये जाते हैं। उदाहरणार्थ सदन में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सत्र के दौरान न्यायिक जाँच से छूट, सत्र से 40 दिन पहले से 40 दिन बाद तक सिविल गिरफ्तारी से छूट इत्यादि।
    - **विशेषाधिकारों के स्रोत:** मूलतः इसे ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स से लिया गया है। सभी विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध करने के लिए कोई कानून नहीं है। ये पांच विभिन्न स्रोतों संवैधानिक प्रावधान, संसद के विभिन्न कानून, दोनों सदनों के नियम, संसदीय सम्मेलन और न्यायिक निर्वचन पर आधारित हैं।
    - **विशेषाधिकारों का उल्लंघन:** विशेषाधिकारों के उल्लंघन और उसके लिए सजा के निर्धारण हेतु स्पष्ट नियमों का अभाव है। कर्नाटक विशेषाधिकार पैनल के अनुसार, कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति अथवा कोई भी ऐसा निन्दा-लेख छापना या प्रकाशित करना विशेषाधिकार उल्लंघन के अंतर्गत आ सकता है, जो सदन, इसकी समितियों या इसके सदस्यों के चरित्र या संसद सदस्य के नाते उनके आचरण के सन्दर्भ में अपमानजनक है।

विशेषाधिकार समिति

- यह एक स्थायी समिति है जिसका संसद / राज्य विधानसभा के प्रत्येक सदन में गठन होता है। लोकसभा की विशेषाधिकार समिति में 15 जबकि राज्यसभा की समिति में 10 सदस्य होते हैं जिनको क्रमशः अध्यक्ष एवं सभापति द्वारा नियुक्त किया जाता है।
- इसका प्रमुख कार्य, सभा अथवा उसके किसी सदस्य अथवा किसी समिति के सदस्य के विशेषाधिकार के भंग किए जाने से संबंधित प्रत्येक प्रश्न की जांच करना, जो उसे सभा अथवा अध्यक्ष द्वारा सौंपा जाए। प्रत्येक मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस बात का निश्चय करना कि क्या विशेषाधिकार को भंग किया गया है और अपने प्रतिवेदन में इस संबंध में उपयुक्त सिफारिश करना।

7.1. नवीनतम मुद्दा

- हाल ही में कर्नाटक विधानसभा के अध्यक्ष ने अपनी "विशेषाधिकार समिति" की सिफारिशों के आधार पर दो पत्रकारों को एक वर्ष के कारावास का आदेश दिया। इससे पूर्व वर्ष 2003 में तमिलनाडु विधानसभा अध्यक्ष ने AIADMK सरकार के सम्बन्ध में आलोचनात्मक लेखों के प्रकाशन के लिए पांच पत्रकारों की गिरफ्तारी का निर्देश दिया था।

विशेषाधिकार से संबंधित एक वाद में उच्चतम न्यायालय के फैसले से निम्नलिखित पहलुओं का उल्लेख किया जा सकता है:

- राज्य विधान-मंडल के प्रत्येक सदन को अपने विशेषाधिकारों के उल्लंघन या अवमानना के लिए दण्डित करने की शक्ति है।
- प्रत्येक सदन अपने विशेषाधिकारों के उल्लंघन के मामले में एकमात्र न्यायाधीश है। न्यायालयों को इस मामले में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार-क्षेत्र नहीं है। हालाँकि, यदि विधायिका या इसके द्वारा अधिकृत कोई प्राधिकारी संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून के अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर कोई विशेषाधिकार प्राप्त करना चाहता है, या कोई नोटिस जारी किया जाता है तो ऐसे मामले में न्यायालय हस्तक्षेप कर सकती है।
- विधान-मंडल के किसी भी सदन को स्वयं के लिए ऐसा कोई कानून बनाने की कोई विशेषाधिकार की शक्ति नहीं है, जो विधि संगत न हो। ऐसे मामलों में न्यायालय यह निर्धारित कर सकता है कि वास्तव में सदन को ऐसा कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है।
- अपनी अवमानना के लिए विधान-मंडल द्वारा बंदी बनाये गये किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में उच्च न्यायालय अनु. 226 (अनु 32 के तहत उच्चतम न्यायालय) के तहत बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका पर सुनवाई कर सकता है। यह सुनवाई इस आधार पर की जा सकती है कि याचिकाकर्ता के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन तो नहीं हुआ है। न्यायालय उस कैदी को जमानत पर पर रिहा कर सकता है।
- एक बार जब विशेषाधिकार सदन को प्राप्त हो जाते हैं, तब सदन इसे अपने अनुसार प्रयुक्त करता है। न्यायालय ऐसे में विशेषाधिकार हनन के मामले में सदन या उसके अध्यक्ष द्वारा लिए गये गलत निर्णय के मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

महत्व

- ये सांसदों और विधायकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करते हैं और इन सदनों में होने वाले मामलों पर मुकदमेबाजी के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं।
- इन विशेषाधिकारों के बिना सदन अपने अधिकार, गरिमा और सम्मान को बनाए रखने में असमर्थ होगा। साथ ही इनके बिना यह अपने सदस्यों को कर्तव्यों के निर्वहन में किसी अवरोध से सुरक्षा प्रदान करने में भी सक्षम नहीं होगा।

आलोचना

- कभी-कभी इसका प्रयोग मीडिया द्वारा की गयी सांसदों/विधायकों की आलोचना का विरोध करने तथा कानूनी कार्यवाही के विकल्प के रूप में किया जाता है।
- विशेषाधिकार उल्लंघन से संबंधित कानून राजनीतिज्ञों को उनके स्वयं के मामलों में ही न्याय करने का अधिकार प्रदान करते हैं। इससे हितों के टकराव तथा अभियुक्त को निष्पक्ष सुनवाई की आधारभूत गारंटी से वंचित करने की स्थिति बन जाती है।
- वस्तुतः इस सन्दर्भ में एक कानून का निर्माण किया जाना आवश्यक है जो विधायी विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध करे। साथ ही, विशेषाधिकार हनन की स्थिति में पैनल के कार्यों की सीमाओं को विहित करे तथा इस हेतु एक सुनिश्चित प्रक्रिया का भी निर्धारण कर सके। विधायिका को अपनी शक्ति का उपयोग अवमानना या विशेषाधिकार के उल्लंघन के मामले में ही करना चाहिए ताकि सदन की स्वतंत्रता की रक्षा भी हो सके और आलोचकों की स्वतंत्रता को भी कम नहीं किया जाए।

8. विधानसभा बनाम विधानपरिषद

यह स्पष्ट है कि विधानपरिषद की स्थिति विधानसभा की तुलना में राज्यसभा और लोकसभा के तर्ज पर तुलनात्मक रूप से कमजोर है। राज्यसभा की स्थिति सरकार पर नियंत्रण के सम्बन्ध में और वित्तीय मामलों को छोड़कर सभी मामलों में लोकसभा के बराबर है। दूसरी ओर, विधानपरिषद निम्नलिखित मामलों में विधानसभा के अधीनस्थ है:

- किसी धन विधेयक को सिर्फ विधानसभा में ही पुरःस्थापित किया जाता है न कि विधानपरिषद में। परिषद धन विधेयक में न ही कोई संशोधन कर सकती है और न ही उसे अस्वीकार कर सकती है। इसे या तो सिफारिशों के साथ या उनके बिना 14 दिनों के भीतर विधेयक को वापस करना होता है।
- अन्य विधेयकों के मामले में भी, परिषद, विधानसभा के अधीनस्थ है। यह किसी विधेयक को उसके पारित होने के बाद अधिकतम 4 माह के लिए रोक सकती है। असहमति के मामले में विधानसभा अपनी इच्छानुसार काम करती है।
- दूसरी ओर, विधानपरिषद द्वारा लाये गये प्रस्ताव को विधानसभा तत्काल प्रभाव से समाप्त करने की शक्ति रखती है।
- विधानपरिषद को अपने अस्तित्व के लिए विधानसभा की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता है। विधानसभा, विधानपरिषद को संसद के एक अधिनियम द्वारा समाप्त करा सकती है।
- मंत्रीपरिषद का उत्तरदायित्व केवल विधानसभा के प्रति होता है।
- विधानपरिषद के सदस्य राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव में तथा राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव में भाग नहीं लेते हैं।

	विधानसभा	**विधानपरिषद**
सदस्यों की स्वीकार्य संख्या	60 से 500 तक (जनसंख्या के आधार पर) **अपवाद:** गोवा, अरुणाचल प्रदेश और सिक्किम- 30, मिजोरम- 40	न्यूनतम 40 या विधानसभा की कुल संख्या का एक तिहाई से अधिक नहीं
सदस्यों का निर्वाचन	सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा	• 1/3 सदस्य स्थानीय निकायों; जैसे- नगर पालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं।

		• 1/3 सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधानसभा के सदस्यों द्वारा किया जाता है। • 1/12 सदस्यों का निर्वाचन राज्य में रहने वाले ऐसे व्यक्तियों द्वारा होता है जो किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष से स्नातक हैं। • 1/12 सदस्यों का निर्वाचन 3 वर्ष से अध्यापन कर रहे शिक्षक करते हैं, लेकिन ये अध्यापक माध्यमिक स्कूलों से कम के नहीं होने चाहिए।
राज्यपाल के नामांकन के द्वारा	आंग्ल-भारतीय समुदाय के एक सदस्य को	कुल संख्या के 1/6
अवधि	सामान्य अवधि- 5 वर्ष; हालाँकि, राज्यपाल कभी भी विधानसभा को भंग कर सकता है। संसद के एक क़ानून के द्वारा आपातकाल के दौरान अवधि को एक बार में 1 वर्ष के लिए ही बढ़ाया जा सकता है।	विधानपरिषद एक स्थायी सदन है (राज्यसभा की तरह) और विघटन के योग्य नहीं है; हर दूसरे वर्ष एक-तिहाई सदस्य सेवानिवृत हो जाते हैं। इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्षों का होता है।

9. राज्यसभा तथा विधानपरिषद

विधानपरिषद को राज्यसभा की तुलना में कम महत्व प्राप्त है क्योंकि:

- राज्यसभा, संविधान के संघीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है। इसकी स्थिति एक नाममात्र के निकाय से कहीं अधिक है। इसलिए संविधान में लोकसभा और राज्यसभा के बीच असहमति की स्थिति में संयुक्त बैठक का प्रावधान है। हालाँकि, अंततः अपनी संख्याबल के कारण लोकसभा उच्च निकाय साबित होगा।
- राज्य विधान-मंडल के मामले में, संविधान ने इंग्लैंड की प्रणाली को अपनाया है। राज्य विधानपरिषद को राज्यसभा की तुलना में सीमित शक्तियां प्रदान की गयी हैं। राज्य विधान-मंडल में दोनों सदनों के मध्य गतिरोध उत्पन्न होने की स्थिति में संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं है। अतः विधानपरिषद के असहमत होने पर भी विधेयक पारित हो सकता है।
- विधानपरिषद अलग-अलग क्षेत्रों जैसे स्थानीय संस्थाओं, स्नातकों, अध्यापकों, विधानसभाओं और विज्ञान, कला, साहित्य, सहकारिता आंदोलन या समाज सेवा आदि से संबंधित व्यक्तियों द्वारा गठित की जाती है। दूसरी ओर, राज्यसभा में अधिकांश सदस्यों को चुना जाता है (250 में से केवल 12 नामांकित होते हैं)।

10. विधानपरिषद की उपयोगिता

- यह अपनी विलंबकारी शक्ति के आधार पर विधानसभा द्वारा बनाये गये कुछ दोषपूर्ण, लापरवाह और अविवेकशील विधानों की जांच करती है।
- अप्रत्यक्ष चुनावी प्रक्रिया और विशेष ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के नामांकन के कारण विधानपरिषद कई मामले में बेहतर क्षमता वाला सदन है।
- द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह सुझाव दिया है कि विधानपरिषद को पंचायती राज संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना चाहिए और संविधान में उपयुक्त संशोधनों के माध्यम से परिषद के लिए आवश्यक शक्तियों का प्रावधान करना चाहिए ताकि यह स्थानीय प्रशासन को मजबूत करने का काम करे।

11. राज्य-राजनीति का महत्व एवं प्रकृति

- भारतीय संघ के राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में सक्रिय रहने के कारण विभिन्न प्रदेशों की राजनीति में काफी समानताएं मौजूद है परंतु उनकी संरचना और उपलब्धियों में विभिन्नताएं भी हैं। प्रत्येक राज्य में वर्ग, जाति, सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों, और सामाजिक एवं आर्थिक विकास के अलग-अलग स्तर मौजूद हैं जो उसकी राजनीति को प्रभावित करते हैं।
- भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य राजनीति का विशेष महत्व है। भारतीय लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि राज्य अपने विकास कार्यक्रमों को किस गति से क्रियान्वित कर पाते हैं। भूमि सुधार कानून हो या शिक्षा में परिवर्तन लाने का कोई कार्यक्रम, आर्थिक नियोजन हो या मद्य निषेध, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना हो या व्यापक सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करनी हो, व्यवहार में इन सभी का क्रियान्वयन राज्य सरकार द्वारा ही किया जाता है। जन साधारण की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का समाधान राज्य सरकारों द्वारा ही किया जाता है। यद्यपि सभी राज्य एक ही संविधान द्वारा शासित है फिर भी उसकी राजनीति में भिन्नता विद्यमान है।

राज्य-राजनीति के निर्धारक तत्व निम्नलिखित है:

- **संवैधानिक तत्व:** संवैधानिक ढांचा, राज्य राजनीति का संस्थानात्मक निर्धारक तत्व है। संविधान में "राज्यों का संघ" वाक्यांश का प्रयोग किया गया है। राज्य की राजनीति, केंद्रीय शासन और राजनीति से व्यापक रूप से प्रभावित होती है।
- **राजनीतिक तत्व:** राजनीतिक तत्व के अंतर्गत केंद्रीय नेतृत्व और प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व राज्य राजनीति को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त एक ही समय में विभिन्न राज्यों की राजनीतिक स्थिति में भी अंतर देखा जा सकता है। इसका कारण है मुख्यमंत्री का राज्यों की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाना। केन्द्र और राज्यों की दलीय स्थिति भी राज्य राजनीति को प्रभावित करती है। केंद्रीय सरकार के राज्य सरकार से संबंध वस्तुतः दलीय संरचना पर कम तथा प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री के समीकरण पर अधिक निर्भर हैं। केंद्र के लिए मिली-जुली सरकार वाले राज्य की राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करना सामान्यतया सरल होता है।
- **सांस्कृतिक व सामाजिक तत्व:** भारतीय संघ के कुछ राज्य काफी विकसित और कुछ बहुत पिछड़े हैं। राज्य विशेष में जातियों की संख्यात्मक स्थिति, अनुसूचित जातियों व जनजातियों, अल्पसंख्यकों आदि की स्थिति एवं संख्या विशेष की राजनीति द्वारा दल व्यवस्था और न्यायिक प्रक्रिया को प्रभावित किया जाता है।
- **आर्थिक तत्व:** यदि एक राज्य के पास पर्याप्त वित्तीय साधन हैं तो उस राज्य की राजनीति के स्वतंत्र और स्वस्थ रूप से विकसित होने की आशा की जा सकती है। पिछले एक दशक से आर्थिक विकास का पहलू राज्य राजनीति में महत्वपूर्ण कारक बनता जा रहा है। राज्य विशेष में संपन्न होने वाले चुनावों में मतदाता सरकारों को इस कसौटी पर मापने लगे हैं कि वह राज्य के विकास और शासन की गुणवता की दृष्टि से कितना काम कर पाई।

- **भौगोलिक तत्व:** भौगोलिक स्थिति राज्य के आर्थिक विकास की और परोक्ष रूप से राज्य राजनीति को प्रभावित करती है। सीमा पर स्थित राज्यों में यदि कभी पृथकतावादी प्रवृत्तियों का उदय होता है तो इसका प्रमुख कारण उसकी भौगोलिक स्थिति हो सकती है। इसके उदाहरण नागालैंड और मिजोरम हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्य जनसंख्या व क्षेत्र की दृष्टि से विशाल और विविधताओं से पूर्ण हैं। ऐसे राज्यों की राजनीति में एक-दूसरे से भेद होना स्वाभाविक है।

12. राज्य विधान-मंडल से संबंधित अन्य नवीनतम मुद्दे

लाभ के पद एवं संसदीय सचिव से संबद्ध मुद्दा : वर्ष 2015 में, दिल्ली सरकार ने छह मंत्रियों के लिए 21 संसदीय सचिवों की नियुक्ति की थी।

- इस पद को "लाभ के पद" 'की परिभाषा से छूट नहीं प्रदान की गयी थी।
- दिल्ली सरकार के द्वारा संसदीय सचिव के पद को लाभ के पद की परिभाषा से छूट प्रदान करने संबंधी प्रावधान करने के लिए दिल्ली विधानसभा सदस्य (अयोग्यता निवारण) अधिनियम, 1997 में संशोधन करने हेतु प्रस्ताव लाया गया।
- सचिव, अनुच्छेद 239 AA(4) के तहत मंत्री भी नहीं होते हैं क्योंकि उन्हें न तो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और न हीं उन्हें पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है।
- लेकिन राष्ट्रपति ने संशोधन प्रस्ताव को अपनी सहमति देने से मना कर दिया है।

लाभ के पद की परिभाषा

संविधान में 'लाभ के पद' की परिभाषा नहीं दी गयी है किन्तु पूर्व निर्णयों के आधार पर निर्वाचन आयोग के द्वारा लाभ के पद के परीक्षण हेतु निम्नलिखित पांच प्रमुख कसौटियों को आधार माना गया है:

- क्या पद पर नियुक्ति सरकार के द्वारा की गयी है?
- क्या पद के धारणकर्ता को सरकार अपनी स्वेच्छा से पद से हटा सकती है?
- क्या पारिश्रमिक का भुगतान सरकार के द्वारा किया जाता है?
- पद के धारणकर्ता के कार्य क्या हैं?
- क्या इन कार्यों को संपन्न करने की प्रक्रिया पर सरकार का नियंत्रण बना रहता है?

- एक केंद्र शासित प्रदेश के रूप में दिल्ली की विशेष स्थिति के कारण, किसी विधेयक को विधानसभा द्वारा पारित किये जाने के पश्चात् भी तब तक "कानून" नहीं माना जाता है, जब तक इस पर दिल्ली के लेफ्टिनेंट गवर्नर और भारत के राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृति प्रदान नहीं कर दी जाती है।
- दिल्ली सरकार का तर्क है कि संसदीय सचिव किसी भी पारिश्रमिक या सरकार की ओर से भत्तों के लिए पात्र नहीं हैं, अतः इस पद को "लाभ के पद" की परिभाषा से छूट प्रदान की जानी चाहिए।
- पंजाब, हरियाणा, और राजस्थान आदि जैसे कई राज्यों में कभी-कभार यह पद सृजित किया गया है।
- हालांकि, उच्च न्यायालय में विभिन्न याचिकाओं में संसद सचिव की नियुक्ति को चुनौती दी गई है।
- जून 2015 में, कलकत्ता उच्च न्यायालय ने पश्चिम बंगाल में 24 संसदीय सचिवों की नियुक्ति असंवैधानिक ठहराते हुए निरस्त कर दी।
- इसी प्रकार की कार्रवाई बंबई उच्च न्यायालय, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय आदि द्वारा भी की गई है।
- वर्तमान में, गुजरात, पंजाब और राजस्थान जैसे विभिन्न राज्यों में इस प्रकार के पदों का अस्तित्व है।

13. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **"भारत में विधान परिषदें न केवल द्वितीय हैं, बल्कि राज्य विधायिका के द्वितीयक सदन भी हैं। उनके संगठन और शक्तियों के संदर्भ में, वे अप्रचलित हो गयी हैं और उन्हें समाप्त कर दिया जाना चाहिए।" परीक्षण कीजिए।**

दृष्टिकोण:

- यह प्रश्न इस संबंध में स्पष्टीकरण की मांग करता है कि किस प्रकार और क्यों विधान परिषदें - द्वितीय और द्वितियक सदन हैं। इसके लिए विधानसभा के मुकाबले उनकी शक्तियों की व्याख्या की आवश्यकता है। साधारण विधेयकों, धन विधेयकों/बजट और यह भी कि उनका अस्तित्व विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है – इस संबंध में कम से कम तीन पहलुओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए।
- उनकी संरचना और नियुक्ति की रीति का भी संक्षेप में वर्णन किया जाना चाहिए।
- फिर उत्तर में आधुनिक संदर्भ में उनकी उपयोगिता पर चिंतन करना चाहिए।
- अंत में सुधारों का सुझाव दिया जाना चाहिए (जैसे कि द्वितीय ARC की अनुशंसा) जो इसे अधिक प्रभावी संस्था बना सकते हैं।

उत्तर:

भाग 1

संविधान द्वारा विधान परिषदों को प्रदान गई शक्तियां यह स्पष्ट कर देती हैं कि उन्हें विधानसभा की तुलना में अधीनस्थ निकाय माना गया है। इसलिये:

- धन विधेयक केवल विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। परिषद को भेजे जाने पर विधेयक में वह संशोधन नहीं कर सकती है या अस्वीकार नहीं कर सकती है। वह केवल परिवर्तनों की अनुशंसा कर सकती है और 14 दिनों के भीतर विधेयक को वापस कर सकती है। यहां तक कि इन्हें भी विधानसभा स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है।
- बजट के संबंध में भी, वह केवल चर्चा कर सकती है लेकिन अनुदान की मांगों पर मतदान नहीं कर सकती है
- साधारण विधेयक पारित करने की भी अंतिम शक्तियां विधानसभा में निहित हैं। परिषद अधिक से अधिक चार महीने तक पारित होने में विलंब कर सकती है – पहली अवस्था में तीन महीने और दूसरी अवस्था में एक महीने। दूसरे शब्दों में, यहां तक कि परिषद राज्यसभा की भांति संशोधनकारी निकाय भी नहीं है। यह केवल विलंबकारी सदन या परामर्शदायी निकाय है।
- जब परिषद में उद्भूत होने वाला साधारण विधेयक विधानसभा को भेजा जाता है और अस्वीकार दिया जाता है, तो वह मृत विधेयक बन जाता है।
- परिषद का अपना अस्तित्व ही विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। विधानसभा की अनुशंसा पर संसद द्वारा परिषद की सृजन या उत्सादन किया जा सकता है।

भाग 2

- इसकी महत्वहीन शक्तियों के अतिरिक्त, संगठन और चयन की रीति भी समयानुकूल नहीं है। उदाहरण के लिए 1/12 सदस्य स्नातकों के बीच से चुने जाते हैं और 1/6 राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। यह अलोकप्रिय, पराजित, महत्वाकांक्षी राजनेताओं या उनके चहेतों के लिए राज्य विधायिका या यहां तक कि इसके माध्यम से कार्यपालिका का भाग बनना संभव बनाती है।

भाग 3

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद, परिषद की निम्नलिखित उपयोगिताएं हैं:

- यह संशोधन और विचार का प्रावधान करके विधानसभा द्वारा जल्दबाजी में बनाए गए दोषपूर्ण, लापरवाह और कुविचारित कानूनों को संयमित करती है।
- यह समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व की सुविधा प्रदान करती है जैसे कि प्रतिष्ठित व्यावसायिक और विशेषज्ञ जो प्रत्यक्ष निर्वाचनों में नहीं जीत सकते हैं

इसलिए इनका पूरी तरह उत्सादन करने की बजाय, प्रभावी संस्था बनाने के लिए उनमें सुधार करना श्रेष्ठतर दृष्टिकोण माना जा सकता है। द्वितीय ARC की यह अनुशंसा इस संबंध में महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक राज्य में विधान परिषद होनी चाहिए और जो स्थानीय निकायों (पंचायतों और नगर पालिकाओं) द्वारा निर्वाचित सदस्यों द्वारा भरी जानी चाहिए।

2. **"संघीय संसद के विपरीत, राज्य विधान-मंडल के दोनों सदनों के बीच किसी भी गतिरोध को दूर करने का कोई प्रावधान नहीं है क्योंकि कोई गतिरोध संभवतः उत्पन्न ही नहीं हो सकता है।" सविस्तार वर्णन कीजिए। संसद और राज्य विधान-मंडलों में साधारण विधेयकों और धन विधेयकों के संबंध में प्रक्रिया का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए।**

दृष्टिकोण:

- केंद्र और राज्यों में द्विसदनीयता पर प्रकाश डालते हुए उत्तर आरंभ कीजिए।
- विधान परिषदों पर विधान सभाओं की सर्वोच्चता का सविस्तार वर्णन कीजिए।
- अंतिम भाग पूर्ववर्ती चर्चा से निकलना चाहिए और संघ और राज्य स्तर पर द्विसदनीय विधान-मंडल के संबंध में विधायी प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।

उत्तर:

संविधान ने संघ में द्विसदनीय विधायिका की स्थापना की है। हालाँकि, राज्यों की स्थिति में द्वितीय सदन का प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 169 के अनुसार विधान सभा के प्रस्ताव पर निर्भर औचित्य का विषय है। इस प्रकार, राज्यों की स्थिति में विधान सभा की अनुशंसा पर द्वितिय सदन या विधान परिषद को स्थापित और साथ ही समाप्त किया जा सकता है।

स्पष्ट रूप से, तुलनात्मक दृष्टि से, विधान परिषदों की स्थिति राज्य सभा की तुलना में बहुत कमजोर है। जहाँ संसद के दोनों सदनों के बीच असहमति का समाधान संयुक्त बैठक द्वारा किया जाता है, वहीं राज्य विधान-मंडल के दोनों सदनों के बीच मतभेद दूर करने के लिए ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, क्योंकि अंततः विधानसभा की इच्छा अभिभावी होती है।

यह द्विसदनीय राज्य विधान-मंडल में विधायी प्रक्रिया को उद्धृत करते हुए प्रदर्शित किया जा सकता है, जो कुछ अंतरों को छोड़कर व्यापक रूप से संसद में विधायी प्रक्रिया के समान है:

- जहाँ तक धन विधेयक की बात है, स्थिति संघीय संसद के समान है। केवल विधानसभा को संशोधनों की अनुशंसा करने या विधेयक की प्राप्ति की तिथि से 14 दिनों की अवधि तक विधेयक को रोककर रखने के अतिरिक्त विधान परिषद के पास कोई शक्ति नहीं है। अंततोगत्वा विधानसभा की इच्छा अभिभावी होती है और वह किसी भी अनुशंसा को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। इस प्रकार धन विधेयक के मामले में गतिरोध बिल्कुल नहीं हो सकता है।
- साधारण विधेयकों अर्थात धन विधेयकों से भिन्न अन्य विधेयकों की स्थिति में, अनुच्छेद 197 (1b) के अनुसार परिषद के पास एकमात्र शक्ति 3 महीने की अवधि तक विधेयक पारित होने में कुछ विलंब करने की है।

- असहमति की स्थिति में विधेयक केवल विधानसभा में वापस जा सकता है, लेकिन अंततः विधानसभा का मत अभिभावी होगा। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि विधानसभा द्वारा विधेयक पर दूसरे विचारण के बाद विधान परिषद अनुच्छेद 197 (2b) के अनुसार विधेयक को एक महीने से अधिक समय तक रोक नहीं सकती है। इस प्रकार, यह तर्क दिया जा सकता है कि राज्यसभा के विपरीत राज्यों में द्वितिय सदन संशोधनकारी नहीं, बल्कि केवल परामर्शदायी या विलम्बकारी सदन है।

संघीय संसद के द्वितीय सदन और राज्य विधान-मंडल में उसके समकक्ष के बीच शक्ति में अंतर के लिए इस तथ्य को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है कि उच्च सदन के रूप में राज्य सभा संविधान के संघीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए केवल विलम्बकारी निकाय की तुलना में जो विधान परिषदें हैं, इसकी बेहतर स्थिति है।

14. विगत वर्षों में संघ लोक सेवा आयोग (UPSC) द्वारा पूछे गए प्रश्न (Past Year UPSC Questions)

1. How any by which authority can a State Legislative Council be abolished? (83/II/8e(B)/3)
   किस प्रकार और किस प्राधिकरण द्वारा राज्य विधान परिषद का उन्मूलन किया जा सकता है? (83/II/8e(B)/3)
2. Should the Speaker of a Legislative Assembly appear before the courts on summons? Justify your viewpoint (50 words) (93/I/7e/5)
   क्या विधान सभा अध्यक्ष को सम्मन भेजे जाने पर न्यायालयों के समक्ष उपस्थित होना चाहिए? अपने दृष्टिकोण का औचित्य सिद्ध कीजिए। (50 शब्दों में) (93/I/7e/5)
3. What is a bicameral legislature? Mention the states that have a bicameral legislature in our country. (95/II/8d(B)/3)
   द्विसदनीय विधायिका क्या होती है? हमारे देश में द्विसदनीय विधायिकाओं वाले राज्यों का उल्लेख कीजिए। (95/II/8d(B)/3)
4. On what grounds the Legislative Councils are justified? How is it created or abolished in a State? (150 words) (98/II/4c/20)
   किस आधार पर विधान परिषदों को उचित ठहराया जाता है? राज्य में इसका सृजन या उन्मूलन किस प्रकार किया जाता है? (150 शब्दों में) (98/II/4c/20)

उच्चतम न्यायालय

विषय सूची

1. भारतीय न्यायपालिका की सामान्य संरचना

- भारतीय संविधान के द्वारा एकीकृत न्यायपालिका की स्थापना की गई है, जिसके शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय है व उसके अधीन उच्च न्यायालय हैं। एक उच्च न्यायालय के अधीन (और राज्य स्तर के नीचे) अधीनस्थ न्यायालयों (जिला न्यायालय एवं अन्य अधीनस्थ न्यायालय) की श्रेणियां हैं।
- यह एकीकृत न्याय प्रणाली केन्द्रीय कानूनों के साथ-साथ राज्य के कानूनों को प्रवर्तित करती है। दूसरी तरफ, संयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय कानून का प्रवर्तन संघीय न्यायपालिका द्वारा जबकि राज्यों के कानूनों का प्रवर्तन संबद्ध राज्य न्यायपालिकाओं द्वारा किया जाता है।
- इस एकीकृत न्याय प्रणाली को भारत शासन अधिनियम, 1935 से ग्रहण किया गया है।
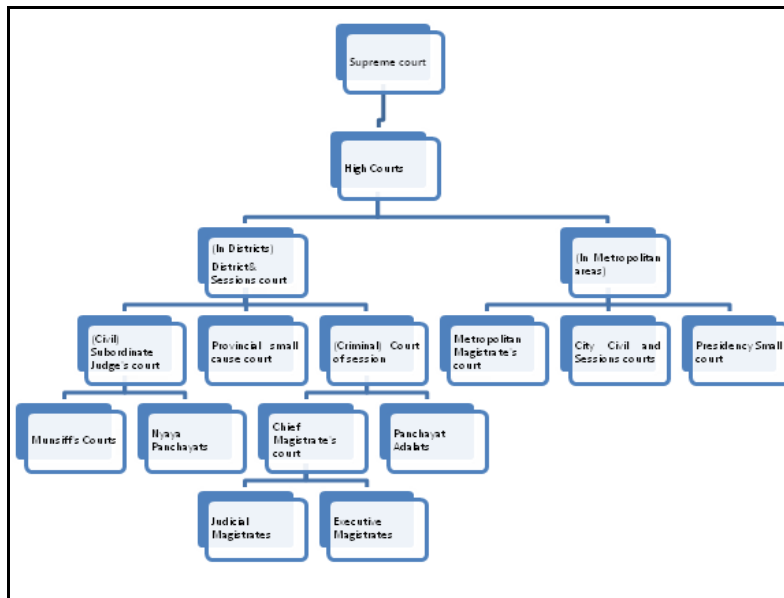
2. उच्चतम न्यायालय

- भारत के उच्चतम न्यायालय का उद्घाटन 28 जनवरी 1950 को किया गया। यह भारत शासन अधिनियम, 1935 के द्वारा स्थापित संघीय न्यायालय का उत्तराधिकारी था।
- भारतीय संविधान के **भाग** V में **अनुच्छेद 124 से 147** तक उच्चतम न्यायालय की संरचना, स्वतंत्रता, क्षेत्राधिकार, शक्तियाँ और कार्यप्रणाली आदि का वर्णन किया गया है। संसद के पास उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार, शक्तियों आदि के बारे में कानून बनाने का अधिकार है।
- मूलतः इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और 7 अन्य न्यायाधीश थे। संसद को यह शक्ति है कि वह विधि बनाकर न्यायाधीशों की संख्या विहित करे। वर्तमान समय में उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या मुख्य न्यायाधीश सहित 31 है।

2.1. नियुक्ति

2.1.1. अर्हताएँ

अनुच्छेद 124(3) के अनुसार कोई भी व्यक्ति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए तभी अर्ह होगा जब वह:

- भारत का नागरिक हो, और
- किसी एक उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक ऐसे न्यायालयों में **कम-से-कम पाँच वर्षों तक न्यायाधीश** रहा हो, या
- किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक ऐसे न्यायालयों में कम-से-कम **दस वर्षों तक वकालत** कर चुका हो, या
- राष्ट्रपति की राय में **प्रख्यात न्यायविद (पारंगत विधिवेत्ता)** हो।

2.1.2. नियुक्ति और कॉलेजियम

अनुच्छेद 124 (2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश व उच्च न्यायालयों के कुछ ऐसे न्यायाधीशों से **परामर्श** करने के पश्चात्, जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे, अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह 65 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है।

- उच्चतम न्यायालय ने '**परामर्श**' शब्द की व्याख्या **तीन न्यायाधीश वादों** (Three Judges Cases) (1982, 1993, 1998) में विभिन्न तरीके से की है। तीसरे न्यायाधीश वाद के उपरांत वर्तमान परिदृश्य में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति **कॉलेजियम**, जिसमें उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा चार अन्य वरिष्ठतम न्यायाधीश शामिल होते हैं, की सलाह पर (प्रकृति में बाध्यकारी) राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।
- **तीसरे न्यायाधीश वाद, 1998** में न्यायालय ने मत दिया कि भारत के मुख्य न्यायाधीश और चार ज्येष्ठतम न्यायाधीशों से मिलकर बनने वाली कॉलेजियम में जो बहुमत की राय होगी वही निर्धारक होगी।

उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति

- **दूसरे न्यायाधीश वाद, 1993** में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश को ही भारत के मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करना चाहिए।

नियुक्ति से संबंधित उच्चतम न्यायालय का हालिया निर्णय

हाल ही में सरकार ने उच्चतम न्यायालय को इस संबंध में प्रक्रिया ज्ञापन (मेमोरेंडम ऑफ़ प्रोसीजर) सौंपा है।

पृष्ठभूमि

- कॉलेजियम व्यवस्था को समाप्त करने तथा उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण हेतु 99वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से 'राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग' (NJAC) के गठन की घोषणा की गयी थी।
- इसका गठन तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों, दो प्रख्यात लोगों और कानून मंत्री (कुल 6 सदस्य) से मिलकर होना था।
- हालाँकि, इससे पहले कि इसे अधिसूचित किया जाता, इसे इस आधार पर चुनौती दी गई कि सरकार द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किया जा रहा है।

इस संबंध में उच्चतम न्यायालय का निर्णय

- उच्चतम न्यायालय ने उक्त संशोधन को असंवैधानिक करार देते हुए निरस्त कर दिया।
- उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि उक्त संशोधन **"न्यायपालिका की स्वतंत्रता"** के सिद्धांतों के साथ-साथ **"शक्ति के पृथक्करण"** के सिद्धांतों के भी विपरीत है।
- प्रस्तावित NJAC को निरस्त करने के बाद, उच्चतम न्यायालय की संविधान पीठ ने केंद्र से उच्च न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए एक प्रक्रिया ज्ञापन (Memorandum of Procedure: MoP) तैयार करने के लिए मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने हेतु कहा।
- विदेश मंत्री के नेतृत्व में मंत्रियों के समूह (GoM) ने उपर्युक्त पर कार्यवाही करते हुए न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए MoP को अंतिम रूप दिया। हालाँकि इसे लेकर उच्चतम न्यायालय एवं केंद्र सरकार के बीच अभी तक आम सहमति नहीं बन पायी है। प्रस्तावित MoP के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं:

MoP की मुख्य विशेषताएं

- इसमें उच्च न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए, "मुख्य मापदंड" के रूप में **योग्यता और सत्यनिष्ठा** (merit and integrity) को सम्मिलित करने का प्रावधान है।
- पिछले पांच वर्षों के दौरान उच्च न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णयों का मूल्यांकन और न्यायिक प्रशासन में सुधार के लिए की गई पहलों को उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के रूप में पदोन्नति के लिए योग्यता का आधार होना चाहिए।
- यह उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों **की नियुक्ति करने के लिए मानक के रूप में कार्य-निष्पादन के मूल्यांकन को प्रस्तावित करता है।**
- यह प्रस्तावित करता है कि उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए **"मुख्य मानदंड" "उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश / न्यायाधीशों की वरिष्ठता"** होनी चाहिए।
- MoP निर्दिष्ट करता है कि उच्चतम न्यायालय में अधिकतम तीन न्यायाधीश बार कौंसिल के प्रख्यात सदस्यों और अपने संबंधित क्षेत्रों में प्रमाणित ट्रैक रिकॉर्ड वाले प्रतिष्ठित न्यायविदों में से नियुक्त किए जाने चाहिए।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के रिकार्ड को सुरक्षित रखने, कॉलेजियम की बैठकों का कार्यक्रम निर्धारित करने, नियुक्तियों से संबंधित अनुशंसाओं के साथ-साथ शिकायतें प्राप्त करने के लिए **उच्चतम न्यायालय में स्थायी सचिवालय स्थापित किया जाना चाहिए।**
- केंद्रीय कानून मंत्री को पदस्थ CJI के उत्तराधिकारी की नियुक्ति के संबंध में अनुशंसा उसकी सेवानिवृत्ति से कम से कम एक महीने पहले मांगनी चाहिए।
- किसी भी व्यक्ति की न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति को लेकर नए आपत्ति आधारों के रूप में **राष्ट्रीय सुरक्षा और सार्वजनिक हित** को सम्मिलित किया गया है। यदि सरकार को राष्ट्रीय सुरक्षा और सार्वजनिक हित के आधार पर आपत्तियां हैं तो वह कॉलेजियम को सूचित करेगी। इसके बाद कॉलेजियम अंतिम निर्णय लेगा।

2.1.3. पदावधि

अनुच्छेद 124(2) में यह उल्लेख है कि उच्चतम न्यायालय में नियुक्त कोई न्यायाधीश अपनी नियुक्ति के पश्चात् तब तक नहीं हटाया जा सकता (मृत्यु को छोड़कर) जब तक कि वह:

- 65 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता।
- राष्ट्रपति को संबोधित करते हुए अपना त्यागपत्र ना सौंप दे।
- साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर भारत के संविधान के अनु. 124(4) में निर्धारित प्रक्रिया के तहत राष्ट्रपति द्वारा नहीं हटा दिया जाता।

2.1.4. वेतन

- भारतीय संविधान का **अनु. 125** वेतन, भत्ते, पेंशन आदि के निर्धारण की जिम्मेदारी संसद पर डालता है। हालांकि संसद उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद न्यायाधीशों के विशेषाधिकारों और अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं और संसद में गैर-मतदान योग्य होते हैं।

2.2. न्यायाधीशों को हटाना

अनुच्छेद 124(4) के अनुसार उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उनके पद से केवल **साबित कदाचार** या **असमर्थता** के आधार पर ही हटाया जा सकता है। संसद ने संविधान के उपबंधों की अनुपूर्ति के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए **न्यायाधीश (जांच) अधिनियम, 1968** अधिनियमित किया है। उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से हटाये जाने की प्रक्रिया की रूपरेखा इस प्रकार है:

- इसके लिए राष्ट्रपति को एक समावेदन देकर यह प्रार्थना करनी होगी कि न्यायाधीश को हटाया जाए। यदि प्रस्ताव लोक सभा में लाया जाना है, तो उस पर लोक सभा के कम से कम 100 सदस्यों के और यदि राज्य सभा में लाया जाना है, तो राज्य सभा से कम से कम 50 सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए।
- सभापति या अध्यक्ष (यथास्थिति) ऐसे व्यक्तियों से परामर्श ले सकता है जो वह ठीक समझे तथा ऐसी सामग्री पर विचार कर सकता है जो उपलब्ध हो और प्रस्ताव को ग्रहण कर सकेगा या ग्रहण करने से इंकार कर सकेगा।
- यदि प्रस्ताव ग्रहण कर लिया जाता है तो 3 व्यक्तियों की एक समिति गठित की जाएगी जिसमें से-
    - एक उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश या न्यायाधीशों में से होगा।
    - एक उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों में से होगा।
    - एक व्यक्ति पारंगत विधिवेत्ता होगा।
- यदि समिति इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि न्यायाधीश कदाचार का दोषी है या असमर्थता से ग्रस्त है तो न्यायाधीश के हटाए जाने का प्रस्ताव और साथ ही समिति के प्रतिवेदन पर उस सदन में विचार किया जाएगा जिसमें वह लंबित है।
- इस प्रस्ताव को संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाना चाहिए। इस प्रकार पारित समावेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है।
- राष्ट्रपति न्यायाधीश को हटाने का आदेश जारी करता है।

नोट: उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को आज तक उनके पद से हटाया नहीं जा सका है। हालांकि संसद में न्यायमूर्ति वी. रामास्वामी, न्यायमूर्ति सौमित्र सेन, न्यायमूर्ति पी. डी. दिनाकरण को उनके पद से हटाये जाने की प्रक्रिया प्रारंभ की गयी थी।

न्यायमूर्ति वी. रामास्वामी का मामला

वर्ष 1991 में 9वीं लोकसभा की अवधि जब समाप्त हो रही थी तब 108 सदस्यों ने उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश वी. रामास्वामी को हटाने के प्रस्ताव की सूचना दी। प्रस्ताव ग्रहण किया गया और न्यायाधीश (जांच) अधिनियम, 1968 के अधीन एक समिति गठित की गई। 9वीं लोक सभा के विघटन के पश्चात् उच्चतम न्यायालय के समक्ष कुछ प्रश्न उठाए गए जिनका उत्तर न्यायालय ने इस प्रकार दिया:

- न्यायाधीश को हटाने का प्रस्ताव लोक सभा के विघटन से व्यपगत नहीं होता है।
- हटाने की प्रक्रिया के दो प्रक्रम होते हैं:
    - पहला प्रक्रम है कार्यवाही का प्रारंभ, अन्वेषण और न्यायाधीश (जांच) अधिनियम, 1968 के अधीन साबित किया जाना। इस प्रक्रम का न्यायिक पुनर्विलोकन हो सकता है।
    - दूसरा प्रक्रम आरोप साबित कर दिए जाने के पश्चात् आरंभ होता है। वह संसदीय प्रक्रिया का भाग है और उसका न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं हो सकता।

2.3. कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति

- **अनु. 126 के अनुसार** जब भारत के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त होता है या जब मुख्य न्यायाधीश, अनुपस्थिति के कारण या अन्यथा अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ होता है तब उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से एक न्यायाधीश को, जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करे, कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश के रूप में उस पद के कर्त्तव्यों का पालन करता है।

2.4. तदर्थ न्यायाधीश

- अनुच्छेद 127(1) के अनुसार यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय के सत्र को आयोजित करने या जारी रखने के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्ति न हो रही हो तो भारत का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से और संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के पश्चात्, किसी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश को, जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए सम्यक् रूप से अर्ह है, न्यायालय की बैठकों में उतनी अवधि के लिए, जितनी आवश्यक हो, तदर्थ न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कर सकता है।
- तदर्थ न्यायाधीश का कर्त्तव्य होता कि वह उच्चतम न्यायालय की बैठकों में उपस्थित हो। जब वह इस प्रकार उपस्थित होता है तब उसको उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं।

2.5. सेवानिवृत्त न्यायाधीश

- अनु. 128 के अनुसार भारत का मुख्य न्यायाधीश, किसी भी समय, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी व्यक्ति से, जो उच्चतम न्यायालय या फेडरल न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है या जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है और उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए सम्यक् रूप से अर्हित है, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने तथा कार्य करने का अनुरोध कर सकता है।
- प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिससे इस प्रकार अनुरोध किया जाता है, इस प्रकार बैठने और कार्य करने के दौरान, ऐसे भत्तों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करे।
- ऐसे न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु उसे उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जाएगा।

2.6. उच्चतम न्यायालय का स्थान

संविधान के **अनु. 130 के** अनुसार, उच्चतम न्यायालय का स्थान दिल्ली में घोषित है। राष्ट्रपति के अनुमोदन से मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय के स्थान/स्थानों के लिए अन्य जगहों को अधिकृत कर सकता है।

2.7. उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार

उच्चतम न्यायालय के पास **मूल, अपीलीय तथा सलाहकारी** क्षेत्राधिकार हैं (अनु. 131-144)।

- यह न केवल एक संघीय न्यायालय है बल्कि अपील के लिए अंतिम न्यायालय भी है। साथ ही, यह संविधान का अंतिम व्याख्याता और नागरिकों को मूल अधिकारों की गारंटी प्रदाता भी है। इसके अलावा इसे सलाहकारी और पर्यवेक्षीय अधिकार भी हैं।

2.7.1. मूल क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)

अनु. 131 के अनुसार उच्चतम न्यायालय के पास निम्नलिखित विशिष्ट मूल क्षेत्राधिकार हैं:

- भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद;
- एक पक्ष में भारत सरकार और किसी भी राज्य या राज्यों का होना एवं एक या अधिक राज्यों का दूसरी पक्ष में होना; और
- दो या अधिक राज्यों के बीच विवाद, जहां विवाद में कोई ऐसा मुद्दा है जिसमें कानून या तथ्य का प्रश्न हो।

उच्चतम न्यायालय के इस क्षेत्राधिकार में निम्नलिखित विस्तार समाहित **नहीं** है:

- अंतर्राज्यीय जल विवाद;
- वित्त आयोग से संबंधित मामले;
- केंद्र और राज्यों के बीच खर्च का समायोजन;
- वाणिज्यिक प्रकृति के साधारण विवाद;
- संविधान पूर्व संधि या समझौते से उत्पन्न विवाद;
- कोई ऐसा विवाद जो संधि, समझौते आदि के बाहर पैदा हुआ है जिसमें स्पष्ट हो कि संबंधित न्यायक्षेत्र उस विवाद से संबंधित न हो।

रिट क्षेत्राधिकार

- **अनु. 32 के अधीन** उच्चतम न्यायालय के पास मूल अधिकारों के प्रवर्तन के संबंध में रिट क्षेत्राधिकार हैं। उच्चतम न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas corpus), परमादेश (Mandamas), उत्प्रेषण (Certiorari), प्रतिषेध (Prohibition) एवं अधिकार पृच्छा (Quo warranto) आदि पर निर्देश जारी कर संविधान के अनु. 32 के तहत नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करे। इस संबंध में कोई भी व्यक्ति अपील के क्रमिक माध्यम से न जाकर सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकता है।
- संसद क़ानून द्वारा उच्चतम न्यायालय को (मूल अधिकारों के प्रवर्तन के अतिरिक्त) अन्य मामलों के लिए भी निर्देश या आदेश या रिट जारी करने की अनुमति दे सकती है (अनु. 139)।

2.7.2. अपीलीय क्षेत्राधिकार

उच्चतम न्यायालय ने स्वतंत्रता के बाद अपील की सर्वोच्च अदालत के रूप में ब्रिटिश प्रिवी काउंसिल को प्रतिस्थापित किया। अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया गया है:

- **संवैधानिक मामले:** संवैधानिक मामलों में उच्चतम न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार के तहत उच्च न्यायालय के द्वारा दिए गये फैसले के खिलाफ अपील की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ही इसे प्रमाणित करे कि मामले में विधि का प्रश्न निहित है जिसमें संविधान की व्याख्या की आवश्यकता है, तो अपील की जा सकती है (अनु. 132)।
- **दीवानी मामले:** दीवानी मामलों के तहत किसी भी मामले को उच्चतम न्यायालय में लाया जा सकता है, यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि:
  - मामला विधि के सारवान प्रश्न पर आधारित है या
  - ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय उच्चतम न्यायालय के द्वारा तय किये जाने की जरुरत है(अनु. 133)।
- **आपराधिक मामले:** अनु. 134 में यह वर्णित है कि उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय के आपराधिक मामलों के निर्णयों के खिलाफ सुनवाई करता है, यदि उच्च न्यायालय ने:
  - आरोपी व्यक्ति के दोषमुक्त/बरी करने के आदेश को पलट दिया हो और उसे मृत्युदंड की सजा दी हो।
  - किसी अधीनस्थ न्यायालय से किसी मामले को अपने पास मंगवाकर आरोपी को दोषी साबित करते हुए मौत की सजा दी हो।
- **विशेष अनुमति से अपील (Appeal by Special Leave):** उच्चतम न्यायालय भी किसी फैसले व गैर-सैन्य अदालत या अधिकरण द्वारा दिए गये फैसले के खिलाफ अपील के लिए विशेष अनुमति प्रदान कर सकता है {अनु. 136 (1)}। अपील की ऐसी शक्ति उच्चतम न्यायालय की विवेकाधीन शक्ति में आएगी और यह किसी भी मामले से संबंधित हो सकता है। इस प्रावधान का दायरा बहुत व्यापक है और यह पूर्णतया उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार में निहित है। इस शक्ति का प्रयोग, उच्चतम न्यायालय में ही 'एक असाधारण और सर्वोपरि शक्ति के रूप में' संयम और सावधानी के साथ केवल असाधारण परिस्थितियों में किया जाता है।

2.7.3. सलाहकारी क्षेत्राधिकार

अनु. 143 के अनुसार कुछ मामलों में उच्चतम न्यायालय के पास विशेष सलाहकारी क्षेत्राधिकार है, जिसमें विशेष रूप से राष्ट्रपति को उच्चतम न्यायालय से सलाह लेने का अधिकार है। इसे दो श्रेणियों में बांटा गया है:

- सार्वजनिक महत्व के किसी मसले पर विधिक प्रश्न उठने पर या जिसके उत्पन्न होने की संभावना हो।
- संविधान पूर्व के किसी संधि, समझौता, वाचा, प्रसंविदा, सनद आदि से उत्पन्न किसी भी विवाद या सवाल पर।

पहले मामले में, उच्चतम न्यायालय सलाह दे भी सकता है और मना भी कर सकता है, जबकि दूसरे मामले में उच्चतम न्यायालय को सलाह देना अनिवार्य है। हालांकि, दोनों ही मामलों में राष्ट्रपति के लिए सलाह मानना बाध्यकारी नहीं है। उच्चतम न्यायालय की सलाह को मानना या न मानना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर है।

2.7.4. उच्चतम न्यायालय का अभिलेख न्यायालय होना

उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय है (अनु. 129)। अभिलेख न्यायालय ऐसा न्यायालय होता है जिसे विधि द्वारा अभिव्यक्त रूप से इस प्रकार घोषित किया जाए। अभिलेख न्यायालय की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं:

(i) इसके निर्णय और कार्यवाहियां शाश्वत स्मृति और साक्ष्य के लिए रखी जाती हैं। उसके अभिलेख का साक्ष्य की दृष्टि से महत्व होता है। जब वह न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है तो उसे प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। अभिलेख में जो अंतर्विष्ट होता है उसका वह निश्चायक साक्ष्य होता है। एवं

(ii) अभिलेख न्यायालय को **अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति** होती है।

- हमारे संविधान ने उच्चतम न्यायालय को अभिव्यक्त रूप से अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति दी हैं (अनु. 129)। वास्तव में अनुच्छेद 129 और 215 ने पहले से विद्यमान स्थिति को मान्यता दी है। ये अनुच्छेद कोई नई शक्ति प्रदान नहीं करते।
- न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 इन अनुच्छेदों के अतिरिक्त है। वह इनका अल्पीकरण नहीं करता।
- अवमानना **दो प्रकार** की होती है: **सिविल अवमानना और दांडिक अवमानना**।
- **सिविल अवमानना:** जब कोई व्यक्ति जानबूझकर न्यायालय के किसी निर्णय, डिक्री, आदेश या आदेशिका की अवज्ञा करता है या न्यायालय के दिए गए किसी वचन को भंग करता है या उसका सम्मान नहीं करता है तो उसे सिविल अवमानना कहते हैं।
- **दांडिक अवमानना:** दांडिक अवमानना तब होती है जब कोई ऐसी बात प्रकाशित की जाए या कोई ऐसा कार्य किया जाए जिससे न्यायालय का प्राधिकार कम होता है या न्यायिक कार्रवाई पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है या उसके सम्यक् अनुक्रम में हस्तक्षेप होता है या किसी अन्य रीति से न्याय प्रशासन में हस्तक्षेप होता है।
- उच्चतम न्यायालय की अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति अपनी अवमानना तक ही सीमित नहीं हैं। न्यायालय पूरे देश में किसी भी न्यायालय या अधिकरण के अवमानना के लिए दंड दे सकता है।

न्यायालय की अवमानना (Contempt of Court)

संवैधानिक प्रावधान

- भारतीय संविधान के अनु. 129 और 215 के अंतर्गत क्रमशः उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को अपनी अवमानना के लिए किसी व्यक्ति को दण्डित करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस संबंध में न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 का अधिनियमन किया गया है। इस अधिनियम में न्यायपालिका की अवमानना की शक्तियों को परिभाषित किया गया है। इसके उद्देश्य हैं:
  - किसी न्यायालय के प्राधिकार की निंदा या उसकी प्रतिष्ठा को धूमिल करने से रोकना,
  - किसी न्यायिक कार्यवाही की यथोचित प्रक्रिया में किसी भी प्रकार के अनावश्यक हस्तक्षेप को रोकना,
  - एक विधिक प्राधिकरण के रूप में न्यायालय की भूमिका को सशक्त करना तथा यह संदेश देना कि कानून सर्वोपरि है और उससे बढ़कर कोई नहीं है, तथा
  - यह सुनिश्चित करना कि कोई भी अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुरूप न्यायालय के आदेशों का उल्लंघन न कर सके।

ऐसी शक्तियों की आवश्यकता

- अवमानना संबंधी प्रावधान, न्यायाधीशों को मीडिया की आलोचना अथवा सामान्य जनता के विचारों से संबंधित किसी प्रकार के दबाव से संरक्षण प्रदान करने के लिए किये गये हैं, ताकि वे बिना किसी भय तथा पक्षपात अथवा बिना किसी प्रकार के बाहरी दबाव के अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर सकें।

न्यायालय की अवमानना शक्ति के विपक्ष में तर्क

- अवमानना का प्रावधान संविधान के अनु. 19(1)(a) के तहत सुनिश्चित वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अनावश्यक रोक लगाता है।
- कुछ विद्वानों का मानना है कि अनु. 19(2) में वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त निर्बन्धन के रूप में 'न्यायालय की अवमानना' शामिल है।
- संविधान सभा में, पंडित ठाकुर दास भार्गव ने कहा था कि अवमानना के लिए दण्डित करने की शक्ति का संबंध केवल न्यायालय के किसी आदेश या निर्देश की अवज्ञा से है जो कि पहले से ही दंडनीय अपराध है।

2.7.5. निर्णय या आदेश का पुनर्विलोकन (संशोधित क्षेत्राधिकार)

- **अनु. 137 के अनुसार** उच्चतम न्यायालय के पास स्वयं के द्वारा दिए गए निर्णय या आदेश की समीक्षा का अधिकार है। हालांकि यह अनुच्छेद इसके फैसले की समीक्षा के आधार की कोई सीमा तय नहीं करता है, परन्तु इस शक्ति के प्रयोग करने के आधार को संसदीय विधान द्वारा एवं अनु. 145 के तहत उच्चतम न्यायालय के द्वारा स्वयं ही प्रतिबंधित किया जा सकता है।
- अपने फैसले की समीक्षा के लिए दायर याचिका को 'पुनर्विचार याचिका" कहते हैं। जबकि एक दूसरे प्रकार की समीक्षा याचिका को **"उपचारात्मक याचिका" (दोषहरी याचिका/Curative Petition)** कहा जाता है।

दोषहारी याचिका (Curative Petition)

- उच्चतम न्यायालय ने न्याय के प्रति अपने लगाव को यह संप्रेक्षण करके रेखांकित किया है कि यदि कहीं पर स्पष्ट रूप से अन्याय हुआ है तो यह दोष दूर किया जाना चाहिए। यदि अन्याय समाप्त नहीं होगा तो न्यायालय की प्रतिष्ठा गिर जाएगी। इस हेतु एक नवीन उपबंध सृजित किया गया है जिसे दोषहारी याचिका नाम दिया गया है। ऐसी याचिका ठोस और सुदृढ़ आधार पर ही ग्रहण की जाएगी। जैसे- जहां नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन हुआ है या जहां न्यायाधीश पक्षपात से ग्रस्त है। ऐसी याचिका को एक ज्येष्ठ अधिवक्ता प्रमाणित करेगा। उसके बाद उसे तीन ज्येष्ठतम न्यायाधीशों को और जिस निर्णय के विरुद्ध याचिका है वह निर्णय देने वाले न्यायाधीशों को परिचालित की जाएगी। वह सूचीबद्ध तभी की जाएगी जब न्यायाधीशों के बहुमत की यह राय है कि वह सुनवाई की सूची में रखे जाने योग्य है। यदि पीठ की यह राय है कि याचिका तंग करने के लिए और निराधार है तो वह याची को यह आदेश दे सकता है कि वह खर्चे के रूप में एक बड़ी रकम दे।
- दोषहारी याचिका की अवधारणा सबसे पहले भारत के सुप्रीम कोर्ट ने **रूपा अशोक हुर्रा बनाम अशोक हुर्रा एवं अन्य** मामले में विकसित की थी (2002)।
- **जकारिया लाकरा बनाम भारत संघ** में न्यायालय ने दोषहारी याचिका को इस आधार पर स्वीकार किया था कि स्कूल के प्रमाण पत्र से यह स्पष्ट होता था कि अभियुक्त, जिसे मृत्युदंड दिया गया था, अपराध किए जाने के समय अवयस्क था।

2.7.6. उच्चतम न्यायालय की अन्य मुख्य शक्तियां

- उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित सभी क़ानून भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर, सभी अदालतों पर बाध्यकारी हैं। [अनु. 141]
- भारत के राज्यक्षेत्र के सभी सिविल और न्यायिक प्राधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता में कार्य करेंगे। [अनु. 144]
- उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्तियाँ भारत का मुख्य न्यायाधीश करेगा या उस न्यायालय का ऐसा अन्य न्यायाधीश या अधिकारी करेगा जिसे वह निर्दिष्ट करे। उच्चतम न्यायालय के प्रशासनिक व्यय जिनके अतंर्गत उस न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों के वेतन, भत्ते और पेंशन शामिल हैं, भारत की संचित निधि पर भारित होंगे। [अनु. 146]
- **अनु. 142** के अनुसार उच्चतम न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए ऐसी डिक्री पारित कर सकेगा या ऐसा आदेश पारित कर सकेगा जो उसके समक्ष लंबित किसी वाद या विषय में **पूर्ण न्याय** करने के लिए आवश्यक हो।

अनुच्छेद 142 और न्यायिक संयम की आवश्यकता (Article 142 And The Need For Judicial Restraint)

राजमार्गों के किनारे शराब की बिक्री को प्रतिबंधित करने एवं बाबरी मस्जिद विध्वंस से संबंधित मामलों पर संयुक्त ट्रायल का आदेश देने जैसे कई मामलों में उच्चतम न्यायालय के द्वारा अनु. 142 के लगातार उपयोग की आलोचना की जा रही है। इसलिए यह अनुच्छेद लगातार चर्चा में बना हुआ है।

चिंता का कारण

- **असीमित शक्ति**: अनु. 142 असीमित शक्ति का स्रोत नहीं है और इसका उपयोग संयम के साथ करना चाहिए। इसका इस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए कि यह **न्यायिक अतिसक्रियता** प्रतीत ना हो।
- **नागरिकों के अधिकारों को प्रभावित करता है:** इन दो निर्णयों ने एक ओर जहाँ आरोपी के अधिकारों को प्रभावित किया है, वहीं दूसरी ओर इसके कारण लाखों लोगों के समक्ष बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

- **'शक्ति के पृथक्करण' के सिद्धांत के विरुद्ध:** उल्लेखनीय है कि शक्ति का पृथक्करण संविधान के मूल ढाँचे का हिस्सा है।
- चूंकि उच्चतम न्यायालय के 31 न्यायाधीश, निर्णय करने के लिए दो या तीन न्यायाधीशों को मिलाकर बनने वाली बेंच के रूप में तेरह डिवीजनों में बैठते हैं और प्रत्येक बेंच एक-दूसरे से स्वतंत्र होती है। अत: विवेकाधिकारों के बारे में अनिश्चितता उत्पन्न होती है।

हालांकि पूर्व में उच्चतम न्यायालय ने अनु. 142 का प्रयोग उचित रूप से किया है, जैसे- यूनियन कार्बाइड केस, ताजमहल की सफाई, जेलों से विचाराधीन (अंडरट्रायल) कैदियों की रिहाई इत्यादि। फिर भी, अनु. 142 के प्रयोग के दौरान समाज के विभिन्न वंचित वर्गों को सम्पूर्ण न्याय प्रदान करने के लिए कुछ नियमों के अनुसरण पर विचार किया जाना चाहिए, जैसे:

- अनु. 142 से संबंधित मामलों को कम से कम पाँच न्यायाधीशों से मिलकर बनने वाली संविधान पीठ को भेजा जाना चाहिए ताकि अनु. 142 से संबंधित अनिश्चितताओं को कम किया जा सके।
- जिन मामलों में अदालत के द्वारा अनु. 142 का प्रयोग किया जाता है, उनके संबंध में सरकार को इसके लाभकारी एवं नकारात्मक प्रभावों का अध्ययन करने के लिए एक **श्वेतपत्र** लाना चाहिए। निर्णय की तिथि से छह माह के बाद या इससे संबंधित तिथि से इस प्रक्रिया को आरम्भ किया जा सकता है।
- उच्चतम न्यायालय को अपने बार-बार दोहराए गए उस सिद्धांत का पालन करना चाहिए जिसके अनुसार अन्य कोई वैधानिक उपाय उपलब्ध होने पर संविधान के अनु. 142 का प्रयोग अनुचित है।

2.7.7. न्यायिक समीक्षा की शक्ति

- उच्चतम न्यायालय केंद्र और राज्य द्वारा बनाये गये किसी भी अधिनियम या विधान जो संविधान का अतिक्रमण करते हैं, को शून्य घोषित कर सकता है। न्यायिक समीक्षा संविधान की सर्वोच्चता को कायम रखने, संघीय संतुलन को बनाये रखने और नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा के उद्देश्य से आवश्यक है। उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ मामले (1967), बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मामले (1970), मिनर्वा मिल्स मामला (1980) आदि जैसे विभिन्न मामलों में इस शक्ति का प्रयोग किया है।
- उच्चतम न्यायालय में किसी विधायी अधिनियम या किसी कार्यकारी आदेश की संवैधानिक वैधता को निम्नलिखित तीन आधारों पर चुनौती दी जा सकती है:
  - यह मूल अधिकारों (भाग 3) का उल्लंघन करता हो,
  - यह विधायिका द्वारा उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर जाकर बनाया गया हो, तथा
  - यह संवैधानिक प्रावधानों के प्रतिकूल हो।
- यद्यपि न्यायिक समीक्षा शब्द का उल्लेख संविधान में कहीं नहीं किया गया है, लेकिन कई अनुच्छेदों के प्रावधान स्पष्ट रूप से उच्चतम न्यायालय को न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्रदान करते हैं।
- भारतीय उच्चतम न्यायालय "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" (Procedure established by Law) जबकि अमेरिकी उच्चतम न्यायालय "विधि की उचित/सम्यक प्रक्रिया" (Due process of Law) (दोनों के बीच अंतर की चर्चा बाद में की गयी है) को ध्यान में रखते हुए निर्णय देती है। कई मामलों में यह देखा गया है कि भारतीय उच्चतम न्यायालय ने कई निर्णयों में 'विधि की उचित प्रक्रिया' का इस्तेमाल किया है और यह शीघ्रता से निर्णयन प्रक्रिया में स्थान पा लिया है। न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती ने मेनका गांधी वाद में कहा कि जब कोई अधिकार से वंचित हो रहा है तब संविधान न्यायालय को "निष्पक्ष प्रक्रिया" के तहत अपना काम करने की छूट देता है।

2.7.8. कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत जिसका प्रयोग न्यायिक समीक्षा के मामले में किया जाता है

पृथक्करण का सिद्धांत

- अनु. 13 में यह कहा गया है कि विधियां **असंगत होने की या उल्लंघन की मात्रा तक शून्य** होंगी। असंगतता या उल्लंघन का प्रभाव संपूर्ण विधि या कार्य पर नहीं पड़ता। अनु. 13 उसके प्रभाव को असंगतता की मात्रा तक बांधे रखता है। यदि ये शब्द नहीं होते तो असंगत विधि पूरी की पूरी शून्य हो जाती। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधि का वही भाग शून्य घोषित किया जाएगा जो मूल अधिकार के विरूद्ध हो। दूसरे शब्दों में **पृथक्करण का सिद्धांत** लागू होगा। इस प्रकार **पृथक्करण का सिद्धांत** यह है कि यदि किसी अधिनियम का अतिवर्तन (उल्लंघन) करने वाला उपबंध मूल अधिकार के प्रतिकूल या असंवैधानिक है तो उस विशेष भाग को पृथक किया जा सकता है और केवल उल्लंघन करने वाले उपबंध को ही शून्य घोषित किया जाएगा, सम्पूर्ण अधिनियम को नहीं।

नोट: शक्ति के पृथक्करण का सिद्धांत वस्तुतः कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के बीच शक्तियों का विभाजन है।

2.8. न्याय प्रणाली के वैचारिक आधार

2.8.1. विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure established by Law) बनाम विधि की उचित प्रक्रिया (Due process of Law)

- 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का जन्म मूलतः इंग्लैंड में हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रियाओं और उनके प्रयोगों से है। इस सिद्धांत के तहत न्यायालय विधायी सक्षमता की दृष्टि से किसी क़ानून की समीक्षा करता है और यह अभिनिर्धारित करता है कि विधायिका द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जा रहा है या नहीं। यदि कार्यपालिका की किसी कार्यवाही को न्यायालय में चुनौती दी जाती है तो न्यायालय कार्यपालिका की कार्यवाही को निम्नलिखित तरीके से जांच कर सकती है:
    - क्या कोई ऐसा क़ानून अस्तित्व में है जो कार्यपालिका को ऐसी विधि बनाने की अनुमति देता है;
    - क्या विधायिका इस तरह के क़ानून को पारित करने के लिए अधिकृत थी;
    - जब विधायिका उस क़ानून को बना रही थी तब स्थापित प्रक्रिया का पालन किया गया या नहीं।
- यदि उपर्युक्त जांच से न्यायालय संतुष्ट है तो वह कार्यपालिका की उस कार्यवाही को जारी रखेगा। न्यायालय क़ानून की सिर्फ निष्पक्ष और प्राकृतिक औचित्य के आधार की ही जांच नहीं करता है अपितु यह भी जांच करता है कि उसे कानूनी प्रक्रियागत औपचारिकताओं के आधार पर पारित किया गया है या नहीं।
- दूसरी ओर, 'विधि की उचित प्रक्रिया' सिद्धांत का जन्म अमेरिका में हुआ, जिसके तहत न्यायपालिका को ज्यादा शक्तियां प्रदान की गयी हैं। इसके तहत न्यायालय किसी विधि की उपर्युक्त तीन आधारों पर जांच के अलावा न्याय के प्राकृतिक सिद्धांत के तहत और अधिक व्यापक दृष्टिकोण से जांच करता है। विधि की उचित प्रक्रिया से तात्पर्य यह है कि विधायिका द्वारा पारित क़ानून निष्पक्ष, तर्कपूर्ण और विचारपूर्ण हो न कि काल्पनिक, दमनकारी तथा स्वेच्छाचारी। इस प्रकार, यह कार्यपालिका और विधायिका दोनों की स्वेच्छाचारिता के खिलाफ किसी व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है।
- अनु. 21 के तहत भारतीय संविधान ने केवल **विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया** का प्रावधान किया है। हालांकि, **मेनका गाँधी बनाम भारत संघ वाद**, 1978 में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनु. 21 की व्याख्या में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत को भी शामिल किया।

2.8.2. प्राकृतिक न्याय का सिद्धांत

- प्राकृतिक न्याय का सिद्धांत तीन नियमों के तहत कार्य करता है:
  - किसी भी व्यक्ति को बिना सुनवाई के सजा नहीं दी जा सकती है।
  - कोई भी व्यक्ति अपने ही मामले का न्यायाधीश नहीं हो सकता है।
  - एक प्राधिकरण बिना किसी पूर्वाग्रह के कार्य करेगा।
- प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की विषय-वस्तु स्वेच्छाचारिता की संभावनाओं को ख़त्म कर देती है और निर्णय लेने की प्रक्रिया में निष्पक्षता पर जोर देती है। इनकी प्रकृति सार्वभौमिक होती हैं।
- उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि प्राकृतिक न्याय का सिद्धांत सभी अधिकारियों, व्यक्तियों और खुद न्यायपालिका पर भी बाध्यकारी रूप से लागू है। हालांकि, वे हमारे संविधान में स्पष्ट रूप से शामिल नहीं हैं, लेकिन फिर भी न्यायालय इसे अन्तर्निहित विशेषता मानती है। **मेनका गाँधी बनाम भारत संघ वाद**, 1978 में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों को हम संविधान के अनु. 21 (जीवन का अधिकार) में देख सकते हैं और विधायिका इस मामले में 'विधि की उचित प्रक्रिया' का पालन करने हेतु बाध्य है।

2.8.3. उच्चतम न्यायालय की स्वाधीनता सुनिश्चित करने वाले उपबंध

संविधान में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वाधीनता और निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए निम्नलिखित उपबंध हैं:

- नियुक्तियां राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश (उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की दशा में) से परामर्श के पश्चात् की जाती हैं। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि नियुक्तियां राजनीतिक आधार पर या निर्वाचन में लाभ के लिए नहीं की जा रही हैं, फलतः राजनीतिक तत्त्व समाप्त हो जाता है।
- न्यायाधीशों को भयमुक्त होकर काम करने की छूट है। निर्णय में चाहे जितनी गंभीर भूल हो जाए उसे कदाचार नहीं माना जाता। न्यायाधीश को साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर ही राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति, न्यायाधीश को उसके पद से हटाने का आदेश तभी देगा जब संसद के दोनों सदनों के विशेष बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित किया गया हो और राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया गया हो। यह एक जटिल और कष्टसाध्य प्रक्रिया है।
- कार्यपालिका राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करती है। यह नियम सिविल सेवकों और सैन्य बलों के लिए लागू होता है। राज्यपालों की भी यही स्थिति है। किंतु प्रसाद का सिद्धांत न्यायाधीशों को लागू नहीं होता। यदि वे कदाचरण नहीं करते हैं तो उन्हें पद से नहीं हटाया जा सकता।
- उच्चतम न्यायालय के अधिकारी और सेवक मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और न्यायालय का प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होता है (अनु. 146 और 229)।
- न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, पेंशन और छुट्टी संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा अवधरित किए जाते हैं और उसमें न्यायाधीशों के लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। न्यायाधीश की पदावधि के दौरान उसके वेतन और भत्तों को घटाया नहीं जा सकता (केवल अनु. 360 के अधीन वित्तीय आपातकाल में कम किए जा सकते हैं)।
- किसी न्यायाधीश के अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में किए गए आचरण के विषय में संसद या राज्य विधान-मंडल में कोई चर्चा (पद से हटाये जाने के संकल्प के अतिरिक्त) नहीं हो सकती (अनु. 121)।
- उच्चतम न्यायालय का सेवानिवृत्त न्यायाधीश भारत के किसी न्यायालय या प्राधिकारी के समक्ष अभिवाचन या कार्य नहीं कर सकता। (कोई व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायाधीश रहा हो उच्चतम न्यायालय या जिस न्यायालय में वह नियुक्त किया गया था उससे भिन्न किसी उच्च न्यायालय के समक्ष अभिवचन या कार्य कर सकता है)।
- उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को अपनी अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति प्राप्त है।

2.8.4. अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के साथ तुलना

भारत और अमेरिकी न्यायिक व्यवस्था में बुनियादी अंतर है। जहाँ भारत में एकीकृत न्यायिक प्रणाली है वहीं अमेरिकी न्यायिक प्रणाली संघीय सिद्धांत पर आधारित है। फिर भी इनमें कई समानतायें भी हैं। भारतीय उच्चतम न्यायालय को अमेरिकी उच्चतम न्यायालय की तुलना में निम्नलिखित मामलों में ज्यादा अधिकार प्राप्त हैं:

- अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार संघीय संबंध से उत्पन्न होने वाले मामलों तक ही सीमित हैं, जबकि हमारा उच्चतम न्यायालय संघीय न्यायालय होने के अलावा संविधान का संरक्षक भी है तथा यह दीवानी और आपराधिक (एकीकृत न्यायपालिका के कारण) मामलों के अपील हेतु सर्वोच्च अदालत है।
- उच्चतम न्यायालय अपने विवेकानुसार बिना किसी निर्बंधन के भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर न केवल किसी न्यायालय बल्कि किसी अधिकरण के फैसले की सुनवाई कर सकता है जबकि अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है।
- भारतीय उच्चतम न्यायालय अपने सलाहकारी क्षेत्राधिकार को स्वीकार करता है जबकि अमेरिकी उच्चतम न्यायालय ने इसे अस्वीकार कर दिया है। अनु. 143 के तहत भारतीय उच्चतम न्यायालय में सलाहकारी क्षेत्राधिकार निहित है।
- भारतीय उच्चतम न्यायालय के अधिकारक्षेत्र और शक्ति को संसद द्वारा विस्तृत किया जा सकता है, जबकि इस मामले में अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को संविधान द्वारा सीमित किया गया है।

वहीं अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित दृष्टिकोण से अधिक अधिकार प्राप्त हैं:

- भारतीय उच्चतम न्यायालय के मूल क्षेत्राधिकार संघीय मामलों तक ही सीमित हैं जबकि अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय न केवल संघीय मामलों को बल्कि नौसैनिक बलों, समुद्री गतिविधियों, राजदूतों आदि से संबंधित मामलों को भी देख सकता है।
- अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के मामले में न्यायिक समीक्षा का दायरा 'विधि की उचित प्रक्रिया' के कारण व्यापक है जबकि भारतीय सन्दर्भ में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का इस्तेमाल किया जाता है।

2.9. न्यायिक अतिक्रमण और न्यायिक सक्रियता (Judicial Overreach and judicial activism)

- हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने न्यायिक अतिक्रमण (जूडिशियल ओवररीच) के खिलाफ न्यायाधीशों को आगाह किया और कहा कि न्यायाधीशों को कानून की सीमा के भीतर ही रहना चाहिए तथा व्यक्तिगत धारणाओं और विचारधारा से न्याय को प्रभावित नहीं होने देना चाहिए।

न्यायिक सक्रियता	न्यायिक अतिक्रमण
राज्य के विभिन्न अंगों और न्यायपालिका के मध्य शक्तियों की पुनर्व्याख्या के माध्यम से न्यायपालिका द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग ही न्यायिक सक्रियता कहलाता है।	शासन के दो अन्य महत्वपूर्ण अंगों अर्थात् कार्यपालिका या विधायिका की शक्तियों को न्यायिक सक्रियता के नाम पर अधिग्रहण कर जब न्यायपालिका उनका बेहिचक प्रयोग करती है तो इसे न्यायिक अतिक्रमण कहा जाता है।

2.10. इंटीग्रेटेड केस मैनेजमेंट इनफार्मेशन सिस्टम (Integrated Case Management Information System: ICMIS)

- मामलों की डिजिटल फाइलिंग के लिए उच्चतम न्यायालय के ICMIS का हाल ही में अनावरण किया गया।

ICMIS के कार्य:

- इस सिस्टम के माध्यम से केस की ई-फाइलिंग का विकल्प प्रदान किया गया है, साथ ही केस लिस्टिंग की तिथि, केस की स्थिति, सूचना/सम्मन की ऑनलाइन सुविधा, कार्यालय रिपोर्ट तथा उच्चतम न्यायालय के पंजीकरण कार्यालय में दाखिल वादों के संबंध में समग्र रूप से हुई प्रगति की ऑनलाइन जानकारी प्राप्त की जा सकती है।
- यह न्यायालय से संबंधित शुल्कों और प्रक्रिया शुल्क के भुगतान के लिए एक ऑनलाइन गेटवे तथा एक ऑनलाइन कोर्ट फी कैलकुलेटर के रूप में कार्य करेगा।

ICMIS के लाभ:

- यह अधिवक्ताओं और पंजीकरण कार्यालय दोनों के लिए फाइलिंग प्रक्रियाओं को सुव्यवस्थित करेगा।
- यह पारदर्शिता को सुनिश्चित करेगा, केस से संबंधित जानकारी तक आसान पहुंच प्रदान करेगा और कम समय में याचिका दाखिल करने में मदद करेगा।

2.10.1. उच्चतम न्यायालय कॉलेजियम की कार्यवाही पब्लिक डोमेन में

- हाल ही में उच्चतम न्यायालय कॉलेजियम ने अपनी सभी अनुशंसाओं को पब्लिक डोमेन में रखने का निर्णय लिया है। इन अनुशंसाओं के साथ उन कारणों का भी उल्लेख होगा जिनके आधार पर कॉलेजियम ने उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में नियुक्ति, स्थानांतरण या प्रोन्नति के लिए नामों की संस्तुति की या नामों को अस्वीकार करने का निर्णय लिया।

3. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **जहाँ न्यायपालिका को सरकारी कार्य प्रणाली में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व को बढ़ावा देनें का अग्रदूत माना जाता है, वहीं स्वयं इसको भी अपनी कार्य प्रणाली में भी इन सबको बढ़ावा देने की आवश्यकता है। भारत में न्यायिक सुधारों के सन्दर्भ में टिप्पणी कीजिए।**

दृष्टिकोण:

उत्तर न्यायपालिका के उत्तरदायित्व और उसकी स्वतंत्रता के मुद्दों पर आधारित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रश्न में सुधार की आवश्यकता के बारे में पूछा गया है, स्वयं सुधार के बारे में नहीं। इसलिए न्यायिक सुधार के लिए विभिन्न अनुशंसाओं की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं, बल्कि ऐसी अनुशंसाओं के पीछे के तर्क को प्रमुखता दी जानी चाहिए।

उत्तर:

- हाल के कुछ वर्षों में न्यायपालिका की छवि को गहरा धक्का लगा है। कई न्यायाधीश भ्रष्टाचार, यौन दुराचार तथा न्यायधीशों की नियुक्ति में पक्षपात जैसे सब प्रकार के

आरोपों के घेरे में आ गए हैं। इसके अलावा कई न्यायिक निर्णयों की बौद्धिक गुणवत्ता औसत किस्म की मानी गयी है। कुल मिलाकर इस कारण दो मांगें सामने आयी हैं।

- प्रथम, न्यायिक नियुक्ति की प्रक्रिया में सुधार लाने की आवश्यकता है
- द्वितीय, न्यायधीशों को उत्तरदायी बनाने के लिए एक तंत्र को विकसित करने की जरूरत है। न्यायिक स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व की भावना दोनों साथ-साथ चलनी चाहिए।

- भारत में न्यायाधीशों का एक कॉलेजियम ही खंडपीठ तक उन्नयन के लिए राष्ट्रपति के पास नामों की अनुशंसाएँ भेजता है। इस उद्देश्य के लिए और कोई बाहरी परामर्श उपलब्ध नहीं है। न्यायिक घोषणाओं ने इस अनुशंसा को बाध्यकारी बना दिया है। नियुक्तियों की वर्तमान प्रक्रिया सार्वजनिक जांच-पड़ताल के लिए उपलब्ध नहीं है, परिणामस्वरुप इसमें उत्तरदायित्व और पारदर्शिता का अभाव है।
- न्यायाधीशों के उत्तरदायित्व का एक निकट पहलू विपथगामी व्यवहार के लिए न्यायाधीशों को पद से हटाये जाने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 124(4) और 217(1) के तहत महाभियोग को छोड़ कर न्यायाधीशों के अनुपयुक्त व्यवहार या खराब आचरण के खिलाफ कदम उठाने की कोई व्यवस्था नहीं है। संविधान का निर्माण करते समय ऐसा अनुभव किया गया था कि न्यायिक परिपाटियां और मानक एक मजबूत नियंत्रक का कार्य करेंगे। हालांकि, महाभियोग के प्रावधान अव्यावहारिक सिद्ध हुए हैं, क्योंकि उन्हें किसी अंजाम तक पहुंचाने की तो बात ही क्या किसी भी महाभियोग की कारवाई को आरम्भ करना ही लगभग असंभव हो जाता है।
- उपर्युक्त महत्वपूर्ण मुद्दों से ही सम्बंधित एक अन्य मुद्दा है न्यायाधीशों के लिए सेवानिवृत्ति के बाद सरकारी नियुक्तियों को लेने से पहले एक उपशमन अवधि तथा न्यायिक लंबित कार्यो एवं न्यायाधीशों के रिक्त पदों की समस्याओं के समाधान के उपायों की आवश्यकता।
- यौन दुर्व्यवहार, भ्रष्टाचार, और पक्षपात से जुड़े हालिया घटनाक्रम स्पष्ट रूप से यह संकेत देते हैं कि न्यायपालिका की साख खतरे में है। NJAC सही दिशा में एक कदम प्रतीत होता है, परन्तु यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि यह पारदर्शी और निष्पक्ष तरीके से कार्य करे। पूरी प्रक्रिया द्वारा यह सुनिश्चित होना चाहिए कि न्यायपालिका व्यापक रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी हो एवं इसके साथ ही साथ यह किसी भी अवांछित हस्तक्षेप से मुक्त हो। इसके लिए एक नाजुक संतुलन साधने की आवश्यकता होगी।

2. "भारत में न्याय प्रदान करने की प्रक्रिया स्वयं में एक सज़ा बन कर रह गयी है।" उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में देश में विचाराधीन कैदियों की बड़ी संख्या के कारणों का परीक्षण कीजिये। क्या आप की राय में आपराधिक दंड संहिता के धारा 436A के बारे में सर्वोच्च न्यायालय के हालिया निर्देश से इस मुद्दे का समाधान तलाश करने में कोई मदद मिलेगी?

दृष्टिकोणः

उत्तर को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। पहले भाग को भारत में विचाराधीन कैदियों की बड़ी संख्या होने के कारणों को संबोधित करना चाहिए। दूसरे भाग में इस बात को स्पष्ट करना चाहिए कि उच्चतम न्यायालय के दिशा-निर्देश समस्या का समाधान करने के लिए पर्याप्त क्यों नहीं हैं? अपनी स्थिति उचित प्रकार से सिद्ध करने के लिए कारण दिए जाने चाहिए। अंत में उन सुधारों के प्रकारों पर उत्तर को समाप्त करें जो विचाराधीन कैदियों की बड़ी संख्या की समस्या का वास्तव में समाधान करने के लिए आवश्यक हैं।

उत्तरः

विचाराधीन कैदियों की समस्या को भारतीय कारागार प्रणाली में दोषियों के अनुपात में विचाराधीन कैदियों की संख्या से परिभाषित किया जाता है। प्राथमिक संवैधानिक और

नैतिक चिंता विचाराधीन केस के बारे में यह है कि यह उस निर्देशात्मक सिद्धान्त का उल्लंघन करती है जिसके अनुसार उचित प्रक्रिया के द्वारा दोष का पता लगाए बिना कोई सजा नहीं होनी चाहिए।

भारत में विचाराधीन कैदियों की एक बड़ी संख्या के कुछ कारण है:

- बहुत अधिक जनसंख्या वाले देश में असमानुपातिक रूप से अदालतों की संख्या का बहुत कम होना।
- निरंतर बढ़ने वाले कानूनों के भागों के द्वारा निरंतर बढ़ने वाले अधिकार और बाध्यताएं।
- कानूनी प्रणाली की दक्षता का निम्न स्तर।
- बहु-स्तरीय अपीलीय प्रणाली ने न्याय निष्पादन प्रणाली में उच्च गतिरोध उत्पन्न किया है।
- अनेक लंबित प्रकरणों की विशाल संख्या का दूसरा प्रमुख कारण विचाराधीन कैदियों द्वारा जमानत की राशि का भुगतान करने में अक्षमता है।

भारत के उच्चतत न्यायालय ने सी.आर.पी.सी. की धारा 436 A के आधार पर हाल ही में राज्यों के लिए वैसे विचाराधीन कैदियों को मुक्त करने का निर्णय पारित जिन्हें यदि दो माह के अन्दर सजा होती तो उसके अनुसार वे आधी से अधिक सजा काट चुके होते। यद्यपि यह कदम अच्छे इरादे से उठाया गया किन्तु धारा 436-ए के साथ अनेकों चिन्ताएं विद्यमान हैं।

- भारत में औसत रूप से 80 प्रतिशत विचाराधीन कैदी, विचाराधीनता के वर्षों के दौरान एक साल से कम समय कारागार में बिताते हैं। उनमें से अधिकांश के उनकी संभाव्य सजा की अवधि के आधे से अधिक बिताने की संभावना शायद ही है।
- अतः, यद्यपि यह उन लोगों की सहायता करेगा जो लम्बी अवधि से विचाराधीन कैदी हैं किन्तु यह निश्चित रूप से भारत में विचाराधीन कैदियों की समस्या का समाधान नहीं करेगा।
- विचाराधीन कैदियों के अपराध का सर्वाधिक बड़ा वर्ग हत्या का है जो अपेक्षाकृत लम्बी सजा को अपरिहार्य बनाता है। हत्या के एक जघन्य अपराध होने के कारण न्यायालय के निर्णय उनको लाभ नहीं पहुँचाएंगे।
- अनेक प्रतिवेदन (रिपोर्ट) और अध्ययन यह सुझाव देते हैं कि विचाराधीन कैदियों की संख्या में अशिक्षित, गरीब और संवेदनशील वर्ग के लोगों की संख्या अत्यधिक है। न्याय प्रणाली को इस सर्वंगी पक्षपात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

विचाराधीन कैदियों का उच्च अनुपात, सफलतापूर्वक दोषसिद्ध करने में और शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने में आपराधिक न्याय प्रणाली की विफलता को यह प्रतिविम्बित करता है। अपराधों की जाँच और अभियोजन के, व्यवस्थित संस्थागत सुधारों पर ध्यान केन्द्रित करके इस विफलता का समाधान किया ही जाना चाहिए। हमारी वर्तमान विधिक रणनीति विचाराधीन कैद की बहुत अधिक अवधि को समाहित करती है और यह प्रदर्शित होता है कि धारा 436 A केन्द्रित रणनीति विचाराधीन कैदियों की जनसंख्या पर समग्र रूप से न्यूनतम प्रभाव डालेगी।

जाँच और सुनवाई प्रक्रिया में मूलभूत सुधारों के बिना विचाराधीन कैदियों की शीघ्र मुक्ति, भारतीय आपराधिक न्याय प्रणाली में अपराध सिद्धि और कैद करने की विकृत निम्न दर को और अधिक उत्तेजित कर सकती है।

3. **भारतीय संविधान के अनुच्छेद 145 (3) में कहा गया है कि, संविधान की व्याख्या से संबंधित किसी भी "विधि के सारवान प्रश्न " को कम से कम पांच न्यायाधीशों की पीठ द्वारा सुना जाना चाहिए। लेकिन सलवा जुडूम और नाज़ फाउंडेशन जैसे कुछ सबसे महत्वपूर्ण संवैधानिक**

मामलों की सुनवाई छोटी पीठों द्वारा की गयी । बड़ी पीठों की आवश्यकता क्यों है? छोटी पीठों द्वारा ऐसे महत्वपूर्ण मामलों की सुनवाई करने के संभावित कारण क्या हैं?

दृष्टिकोण:

- उत्तर छोटी पीठों के होने कारण एवं इनसे संबंधित समस्याओं पर केन्द्रित होना चाहिए।
- सलवा जुडूम या नाज फाउण्डेशन के सम्बन्ध में विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है।

उत्तरः

- बड़ी पीठों की आवश्यकता स्पष्ट और तार्किक है। संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय लेने के लिए बड़ी पीठ की आवश्यकता होगी। बड़ी पीठों द्वारा महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय देने के निम्नलिखित लाभ हो सकते हैं:
    - अधिक न्यायाधीशों से तात्पर्य है कि अधिक विचार होगें, तर्क होगें, चिन्तन होगा और ऐसे महत्वपूर्ण मामलों पर अधिक विश्लेषण होगा जो कि दशकों तक देश की दिशा तय करेगा।
    - ऐसे निर्णयों की अधिक स्वीकारोक्ति व वैधता होती है। 5 न्यायधीशों की पीठ के निर्णय को दो या तीन जज द्वारा पलट देना बहुत मुश्किल होता है। अर्थात जनता ऐसे मुद्दो से जुड़े कानूनों के स्थायित्व में अधिक विश्वास करती है जो कि लाखों जिन्दगियों को प्रभावित करते है।
    - अधिक न्यायधीशों का मतलब है कि इनके विचार पूरे उच्चतम न्यायालय को प्रतिबिम्बित करते हैं जबकि 2 अथवा 3 न्यायधीशों का निर्णय अल्पसंख्यक विचारों को। यह उन केस में और भी जरूरी है जिसमें विधि का कोई सारवान प्रश्न निहित हो और किसी पूर्ववर्ती केस में ऐसा उदाहरण न हो।
    - वैकल्पिक रूप से यदि स्पष्ट पूर्ववर्ती निर्णय हो तो उस निर्णय की समीक्षा अथवा उसे बदलने के लिए पहले से बड़ी पीठों की आवश्यकता पड़ती है। यह चिंताजनक है कि आजकल कुछ छोटी पीठें पूर्ववर्ती बड़ी पीठों के निर्णय को नजर अंदाज करती है अथवा कम महत्व देती है | यह न्यायपालिका के सम्पूर्ण पूर्ववर्ती प्रणाली को कमतर करता है।
- बड़ी पीठों से होने वाले लाभों के बावजूद उनकों अक्सर न गठित किये जाने के कारण निम्नानुसार हैं:
    - चूंकि न्यायपालिका खुद को अधिकाधिक मामलों (वर्तमान में 50,000 केस लम्बित है) में उलझा हुआ पाती है तो ऐसे में बड़ी पीठें बनाना कठिन होता है। ये न्यायाधीशों को पुराने लम्बित मामलों के निपटारे से रोकती है।
    - संविधान में यह स्पष्ट निर्देश भी नहीं है कि कैसे पता चले कि किसी मामले में "विधि का सारवान प्रश्न" निहित है और इसके लिए बड़ी पीठ की आवश्यकता है ?
- अतः बड़ी पीठों का कोई विकल्प नहीं है, जैसा कि संविधान में निर्देशित है। यह कोई आसान उत्तर नहीं है पर न्यायपालिका को वर्तमान में कुछ दूरदर्शिता आधारित रूपरेखा बनानी होगी ताकि केसों का निपटारा कम समय में हो एवं न्यायाधीशों पर बढ़ते हुए दबाव को भी कम किया जा सके।

4. न्यायिक सक्रियता ने भारत में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को आघात पहुचाया है और यह भारतीय राजनीति के लिए स्वस्थ प्रक्रिया नहीं है. भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए कुछ फैसलों की मदद से इस कथन का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

दृष्टिकोण:

- संक्षेप में शक्ति के पृथक्करण एवं न्यायिक सक्रियता का वर्णन करें।
- न्यायिक सक्रियता के पक्ष और विपक्ष दोनों में तर्क दें।
- न्यायिक सक्रियता के कुछ प्रसिद्ध उदाहरणों को ले और उनकी आवश्यकता को सिद्ध करे। उच्चतम न्यायलय के फैसले के विरूद्ध ना जाएँ।

उत्तर:

- शक्ति का पृथक्कीकरण भारतीय संविधान की आधारभूत विशेषता है। इसका मुख्य उद्देश्य कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका के बीच नियंत्रण और संतुलन की एक प्रणाली का निर्माण करना है।
- शक्ति पृथक्करण (SoP) के अनुसार न्यायपालिका नीतियों का प्रतिपादन नहीं कर सकती, जो कि कार्यपालिका का विशेषाधिकार है और यह विधानमंडल द्वारा बनाये गये कानून की मंशा पर सवाल खड़ा नहीं कर सकती है। न्यायपालिका का कार्य यह सुनिश्चित करना है कि कानून और कार्यकारी कार्यवाहियाँ संविधान का उल्लंघन ना करें और प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों, कानून और कानून के शासन द्वारा स्थापित विधि के नियम का पालन करें।
- न्यायिक सक्रियता वह घटना है जिसमें न्यायपालिका अपने निर्णयों के माध्यम से राज्य के अन्य दो अंगों के लिए आरक्षित अधिकार क्षेत्र में शक्ति हस्तक्षेप करती है।

न्यायिक सक्रियता के विपक्ष में तर्क:

- न्यायिक सक्रियता तब गलत होती है जब न्यायाधीश नीतियों का विकास करते हैं क्योंकि वे जनता के प्रति जवाबदेह नहीं होते हैं।
- यह संघीय संरचना को चोट पहुँचा सकता है यदि न्यायाधीश विवादित मुद्दो पर फैसला सुनाते समय संवैधानिक सिद्धांतों का पालन नहीं करते। जैसे कि, “जब राज्य के पास आरक्षण की नीति है तो क्या केन्द्र उसको निरस्त कर सकता है ?” “इसका क्या निहितार्थ होगा यदि केन्द्र राज्य सूची में सूचीबद्ध किसी विषय को निरस्त करता है?”

न्यायिक सक्रियता के पक्ष में तर्क:

- अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत जनहित याचिका (PIL) के साधन की खोज करके न्यायपालिका न सिर्फ संविधान के अभिभावक के रूप में कार्य करने का प्रयास किया है बल्कि, हाशिये पर जा चुके लोगों की रक्षा से सामाजिक न्याय को बढ़ावा भी दिया।
- यह संवैधानिक कर्तव्य है जब कार्यपालिका असफल हो जाये तो संविधान के सिद्धांतों का समर्थन किया जाये।

उच्चतम न्यायालय के फैसले:

सी.बी.आई. की स्वायत्तता के मामले में उच्चतम न्यायालय ने केवल तब कदम उठाया जब कार्यपालिका असफल हो गयी। न्यायलय ने सरकार से पूछा कि सी.बी.आई. की स्वायत्तता सुनिश्चित करने के लिए सरकार ने क्या कानून बनाये हैं सूचित करे। अनु. 21 के तहत जीवन के अधिकार का अर्थ केवल भौतिक अस्तित्व से नहीं है, बल्कि गुणवत्ता एवं गरिमापूर्ण जीवन से है। सुशासन एवं निष्पक्ष सुनवाई की उम्मीद एक उचित एवं निष्पक्ष जाँच के माध्यम से ही संभव है और यह भी जीवन के अधिकार में आता है। इसके अलावा यदि भ्रष्टाचार, कानून के शासन को नजर-अंदाज करता है तो भी यह अनुच्छेद 14 के अंतर्गत समानता के अधिकार को प्रभावित करता है। चूँकि अनु. 32 मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उच्चतम न्यायालय में जाने का अधिकार देता है अतः इस प्रकार की न्यायिक सक्रियता संवैधानिक सिद्धांतों का उल्लंघन नहीं करती है।

विशाखा (1997) वाद के मामलें में सर्वोच्च न्यायालय ने अनु. 14, 19(1)(G) (कोई भी व्यवसाय करने के अधिकार) और 21 के तहत कार्यशील महिलाओं के मूल अधिकारों के

प्रवर्तन के लिए एक रिट याचिका पर विचार किया | ऐसा कोई राष्ट्रीय कानून नहीं था इसलिए ने सर्वोच्च न्यायालय ने मानक एवं दिशा निर्देश जारी किये जो बाध्यकारी थे। पिछले 16 वर्षो से लटका महिलाओं के कार्य क्षेत्र में यौन उत्पीड़न (रोकथाम निषेध और निवारण) सम्बन्धी अधिनियम 2013 में लागू किया गया। यह एक एकमात्र सुरक्षा कानून है जो कामकाजी महिलाओं के लिए दिशा-निर्देश मे देता है।

विनीत नारायण केस 1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो और केंद्रीय सतर्कता आयोग को दिशा-निर्देश दिये जिसका भ्रष्टाचार के विरुद्ध महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उच्चतम न्यायालय के अनुसार इससे मानवाधिकार पर सीधा प्रभाव पड़ा।

प्रकाश सिंह (2007) केस में सर्वोच्च न्यायालय ने मजबूर होकर पुलिस सुधार के लिए 7 दिशा-निर्देश दिया जिसका कि सरकार द्वारा गठित कई आयोगों द्वारा सुझाव दिया गया था लेकिन कोई कदम नहीं उठाया गया था।

5. यद्यपि जनहित याचिकाओं ने समाज के निर्धन एवं हाशिए पर स्थित वर्गों को न्याय तक पहुंच प्रदान किया है, लेकिन कुछ निहित स्वार्थों के कारण इसका दुरुपयोग भी हुआ है। इस संदर्भ में, सामाजिक न्याय के साधन के रूप में जनहित याचिकाओं की उपयोगिता का परीक्षण कीजिए।

दृष्टिकोण :

- जनहित याचिकाओं और न्यायिक सक्रियता के सकारात्मक योगदान के बीच की कड़ी को दर्शाते हुए यह बताईये कि जनहित याचिकाओं ने किस तरह से गरीब और हाशिए पर स्थित लोगों को लाभान्वित किया है।
- जनहित याचिकाओं के दुरूपयोग और इससे हुई क्षति की भी चर्चा करें।
- भावी दृष्टिकोण पेश करते हुए उत्तर का समापन करें।

उत्तरः

जनहित याचिका से तात्पर्य ऐसी किसी याचिका से है जिसे जनता के लाभ या कुछ लोक शिकायतों के निष्पादन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कोई भी सार्वजनिक हित की भावना रखने वाला व्यक्ति लोकहित के लिए संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत सर्वोच्च न्यायालय या अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय या आपराधिक संहिता, 1973 के धारा 133 के तहत न्यायालय जा सकता है। 'सुने जाने का अधिकार' के पारम्परिक आवश्यकता को जनहित याचिका में छूट दी गयी है।

समाज में न्याय प्राप्त करने के लिए जनहित याचिका एक उपयोगी उपकरण साबित हुआ है। यह समाज के वंचित वर्गों के प्रति न्याय हेतु एक साधन प्रदान करता है और नागरिक समाज को ना सिर्फ मानवाधिकार के प्रति जागरूकता के प्रसार के लिए सक्षम बनाता है बल्कि उन्हें भी सरकार के निर्णयन की प्रक्रिया में भाग लेने की अनुमति प्रदान करता है।

- जनहित याचिका का सबसे महत्वपूर्ण योगदान न्यायालय को समाज के वंचित वर्गों यथा कैदियों, बेसहारा, बच्चे या बंधुआ मजदूरों, महिलाओं और अनुसूचित जाति/जनजाति के समीप लाने में सफल रहा है।
- चूंकि नीति-निर्देशक सिद्धांत न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं हैं फिर भी न्यायालय ने इनमें से कुछ सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किया है और इस प्रकार विभिन्न सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को (कम से कम सैद्धांतिक रूप में ही) नागरिक और राजनैतिक अधिकारों की भांति आवश्यक बनाया है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य, आजिविका, प्रदुषण-मुक्त वातावरण, गोपनीयता और त्वरित सुनवाई जैसे महत्वपूर्ण अधिकारों की विधिक मान्यता स्थापित हुई।
- जनहित याचिका कानून, निष्पक्षता की मांग और पारदर्शिता के शासन को बढ़ावा देने, प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई और सरकारी संस्थाओं के समग्र उत्तरदायित्व को बढ़ाने का भी एक साधन है।

- जनहित याचिका के माध्यम से न्यायपालिका ने भी विधायी सुधारों को आरम्भ किया और महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विधायी कमियों की पूर्ति की है। उदाहरण के लिए, विशाखा मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के बारे में विस्तृत दिशा-निर्देश पेश किया है।
- जनहित याचिका के माध्यम से भारतीय न्यायपालिका ने रोजगार या शैक्षणिक संस्थानों में अनुसूचित जाति/जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों हेतु स्थानों के आरक्षण की सुनिश्चितता में मदद किया है।

एक ओर जहां जनहित याचिका हाशिए के वंचित समूहों के लिए एक उपयोगी उपकरण साबित हुआ है, वहीं दूसरी ओर वैसे लोगों द्वारा इसका दुरुपयोग किया जा रहा है जो सार्वजनिक हितों के आड में निजी शिकायतों के लिए आंदोलन कर रहे हैं और सार्वजनिक कारणों के बजाए प्रचार को प्रमुखता दे रहे हैं।

लगभग किसी भी मुद्दे को जनहित की आड़ में न्यायालय में जनहित याचिका न्यायशास्त्र द्वारा प्रदत्त सुविधा के तहत इस लालच में प्रस्तुत किया जा रहा है कि वह सस्ता, त्वरित और उच्च प्रभाव प्रस्तुत करता है। इस तरह की अनावश्यक जनहित याचिकाएँ भी न्यायालय एवं न्यायाधीशों का समय और ऊर्जा बरबाद कर रहे हैं, साथ ही पिछले शेष कार्य के बोझ को भी बढ़ा रहे हैं।

हालांकि सर्वोच्च न्यायालय ने प्राप्त किये जाने वाले पत्र/याचिका को, जनहित याचिका के रूप में स्वीकार करने के लिए मार्गदर्शिका का एक सेट तैयार किया है। ये इस बात की सुनिश्चितता हेतु महत्वपूर्ण हैं कि जनहित याचिका निजी स्वार्थ के पूर्ति, राजनैतिक लाभ की प्राप्ति या महज एक आसान प्रचार प्राप्त करने के लिए न्यायालय में प्रवेश करने का एक पिछला द्वार न बन कर रह जाय।

जनहित याचिका ने नागरिक समाज को मानवाधिकार के प्रति सामाजिक जागरूकता का प्रसार, समाज में हाशिए के लोगों की आवाज बनने और सरकार के निर्णयन की प्रक्रिया में भागीदारी हेतु सक्रिय भूमिका निभाने में सक्षम बनाता है। यदि नागरिक समाज और वंचित वर्ग में जनहित याचिका की प्रभावशीलता में अविश्वास पैदा होता है तो यह इसकी मृत्यु हो जाने के समान होगा।

6. एक ओर जहां यह तर्क दिया जाता रहा है कि न्यायपालिका को RTI के दायरे में लाया जाना चाहिए, वहीं न्यायपालिका की स्वतंत्रता और लोगों के जानने के अधिकारों के बीच संतुलन बनाए रखे जाने की भी आवश्यकता है। इस संदर्भ में, न्यायपालिका को RTI के दायरे में लाने के पक्ष और विपक्ष पर चर्चा कीजिए।

दृष्टिकोण:

- न्यायपालिका को RTI (सूचना के अधिकार) के दायरे में लाए जाने के मुद्दे से जुड़ी बहस का परिचय दीजिए।
- न्यायपालिका को RTI के दायरे में लाने के पक्ष और विपक्ष पर चर्चा कीजिए। इसके लिए सुझाव प्रदान करते हुए उत्तर समाप्त कीजिए।

उत्तर:

हाल ही में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने पांच न्यायाधीशों की एक संविधान पीठ को यह प्रश्न संदर्भित किया है कि क्या न्यायिक नियुक्तियों, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण से संबंधित जानकारी को प्रकट करना न्यायिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने के समान है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) को शून्य घोषित करने के विवाद के बीच, न्यायपालिका को पूर्ण रूप से RTI के अंतर्गत लाए जाने से संबंधित बहस जोर पकड़ रही है।

न्यायपालिका को RTI के अंतर्गत लाए जाने के कुछ तर्क और लाभों को इस प्रकार से वर्णित किया जा सकता है:

- कॉलेजियम द्वारा की जाने वाली नियुक्तियाँ नितान्त अपारदर्शी होती हैं एवं जनता को इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। न्यायपालिका के RTI के दायरे में आने से पारदर्शिता का समावेश होगा एवं नियुक्तियों में भाई-भतीजावाद पर अंकुश लगेगा। यह प्रोन्नति के मामले में वरिष्ठ न्यायाधीशों को अनदेखा किए जाने जैसी घटनाओं को भी नियंत्रित करेगा।
- नयायपालिका की आलोचना करने वालों और न्यायिक कदाचार को उजागर करने वालों को दंडित करने के लिए अवमानना के कानून का अक्सर दुरुपयोग किया गया है। यहाँ तक कि न्यायाधीशों के विरुद्ध भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के तहत FIR भी दर्ज नहीं की जा सकती। RTI जवाबदेही सुनिश्चित करेगा एवं न्यायाधीशों के कदाचार को समाप्त करने में प्रमुख उपकरण का कार्य करेगा।
- न्यायिक स्वतंत्रता के आधार पर कार्रवाई करते हुए, न्यायाधीश स्वयं हेतु लाभकारक रूप से किसी भी प्रकार की जानकारी जनता के सामने प्रकट करने से बचा लेते हैं। RTI के अंतर्गत लाए जाने पर इस प्रकार की जानकारी का प्रकटीकरण जनता में न्यायपालिका के प्रति विश्वास उत्पन्न करेगा।
- RTI लाल-फीताशाही पर अंकुश लगाने में सहयोग करेगा और निर्णयों में युक्ति संगतता एवं तर्कशीलता सुनिश्चित करेगा।

तथापि न्यायपालिका को पूर्ण रूप से RTI के अंतर्गत लाए जाने के कुछ नुकसान भी हैं।

- इससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता एवं उसके निर्णयों पर प्रभाव पड़ने की आशंका है क्योंकि न्यायाधीश सार्वजनिक दबाव के संबंध में चिंतित रहेंगे।
- आशंकाएँ हैं कि RTI के कारण जानकारी का प्रकटीकरण निर्णयों की विश्वसनीयता एवं न्यायाधीशों की मुक्त और सहज अभिव्यक्ति को प्रभावित कर सकता है।
- न्यायाधीशों की व्यक्तिगत जानकारी का प्रकटीकरण राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए चिंता का कारण बन सकता है।
- कभी-कभी नियुक्तियों के विवरण, स्वास्थ्य की स्थिति इत्यादि व्यक्तिगत विवरणों के साथ गहन रूप से संबद्ध होते हैं, इनके प्रकटीकरण से व्यक्तिगत जानकारी की गोपनीयता के अधिकार का अतिक्रमण होगा।
- कुछ RTI आवेदन ओछे एवं राजनीतिक रूप प्रेरित हो सकते हैं।

परन्तु, यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि RTI के अंतर्गत न्यायपालिका अपवाद नहीं है। न्यायपालिका प्रशासनिक कार्य एवं न्यायिक निर्णयन संबंधी कार्य की एक दोहरी भूमिका निभाती है और उल्लेखनीय है कि अधिकतर प्रशासनिक कार्य RTI की परिधि में आते हैं। न्यायिक निर्णयों को भी RTI के अंतर्गत लाया जा सकता है किन्तु न्यायपालिका की स्वतंत्रता एवं लोगों के जानने के अधिकारों के मूल अधिकारों के बीच संतुलन बनाए रखे जाने की आवश्यकता है, ताकि न्यायपालिका लोकतंत्र में लोगों की आशाओं को पूर्ण करने का अंतिम साधन बनी रहे।

7. दुष्क्रियाशील न्यायिक वितरण प्रणाली हमारे देश में विधि के शासन की स्थापना करने में एक गंभीर बाधा है। भारत में लम्बित मामलों एवं न्यायिक रिक्तियों की समस्या के संदर्भ में इस कथन का परीक्षण कीजिए।

दृष्टिकोण :

- न्यायपालिका की वर्तमान स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए तथ्य प्रस्तुत कीजिये।
- दुष्क्रियाशील न्यायिक प्रणाली से संबंधित महत्वपूर्ण मुद्दों का उल्लेख कीजिए और लम्बित मामलों एवं न्यायिक रिक्तियों की समस्या के निहित कारणों की व्याख्या कीजिए।
- इस समस्या से निपटने के लिए संभावित समाधान प्रदान कीजिए।

उत्तर :

विभिन्न न्यायालयों में 2.18 करोड़ से अधिक मामले लम्बित हैं और उच्च न्यायालयों में लगभग 485 शीर्ष न्यायिक पदों की रिक्तियों को भरे जाने की आवश्यकता है। इससे न्याय वितरण प्रक्रिया में विलम्ब होता है और लोग त्वरित न्याय प्राप्त करने से वंचित होते हैं।

मामलों के लम्बित होने से सम्बद्ध मुद्दे:

- बारंबार कार्यस्थगन एवं मुकदमों में विलम्ब के कारण विचाराधीन कैदियों की संख्या में वृद्धि हुई है। मुकदमों को पूरा होने में कई दशक लगते हैं जो पूर्ण रूप से न्यायिक प्रणाली की अक्षमता को इंगित करता है।
- कॉरपोरेट द्वारा अपने व्यापारिक विरोधियों के विरुद्ध की गयी ओछी प्रकृति की मुक़दमेबाज़ी के कारण न्यायालय का अत्यधिक समय व्यर्थ होता है।
- जनहित याचिकाओं का दुरुपयोग न्यायालय का अत्यधिक समय व्यय कर देता है जिससे समस्या और गंभीर हो जाती है।
- इस प्रकार जहाँ निर्धन व्यक्ति संसाधनों के अभाव से पीड़ित होते हैं वहीं शक्तिशाली लोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार न्यायिक प्रक्रिया का दुरुपयोग करते हैं। यह स्थिति कानून के शासन के लिए एक बाधा है।

न्यायिक रिक्तियों से संबद्ध मुद्दे:

- लंबित मामलों के संचित कार्य को निपटाने के लिए न्यायपालिका को 70,000 से अधिक न्यायाधीशों की आवश्यकता है।
- न्यायिक अवसंरचना मुकदमों की दर के साथ गति बनाए नहीं रख सकी है। यदि न्यायपालिका में न्यायाधीशों की सभी रिक्तियों की पूर्ति कर दी जाए तो उन्हें समायोजित करने के लिए पर्याप्त अदालतें नहीं होंगी।
- अनुशंसाओं के विषय में अधिशासी मंडल के सदस्यों के बीच मतैक्य का अभाव। कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच नियुक्तियों के मामले में विद्यमान तनाव और संघर्ष के कारण अनेक पद खाली रह जाते हैं।

कानून के शासन को बनाए रखने के लिए इन सभी अंतर्संबंधित समस्याओं के समाधान के लिए कार्यपालिका एवं न्यायपालिका दोनों द्वारा कदम उठाए जाने की आवश्यकता है। इस संबंध में निम्नलिखित कदम उठाए जाने चाहिए:

- मामलों के निस्तारण में होने वाले विलंब की लागत, हमारे सकल घरेलू उत्पाद की दृष्टि से, 0.5 प्रतिशत आंकी गयी है। इसे ध्यान में रखते हुए बढ़ते मुकदमों की संख्या से निपटने के लिए बजटीय आवंटन को बढ़ाने की तत्काल आवश्यकता है।
- सरकार को न्यायपालिका की सर्वसम्मति से मेमोरेंडम ऑफ़ प्रोसीजर को प्रारूपित करने की प्रक्रिया को तेज करना चाहिए।
- सरकार और न्यायपालिका को रिक्तियाँ उत्पन्न होने से छः माह पूर्व भर्ती प्रक्रिया आरम्भ कर देनी चाहिए।
- तुच्छ प्रकृति के मुकदमों के साथ कठोर व्यवहार किया जाना चाहिए और ऐसे मुकदमों पर भारी अर्थदण्ड लगाया जाना चाहिए, जिससे ऐसे मामले दायर करने की प्रवृत्ति हतोत्साहित हो।

- न्याय वितरण की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए न्यायाधीशों एवं न्यायालय अधिकारियों हेतु प्रभावी और निरंतर प्रशिक्षण की व्यवस्था बनायी जानी चाहिए।
- न्याय की गुणवत्ता को बढ़ाने एवं मानदंडो में सुधार करने के लिए न्यायिक शिक्षा का संवर्द्धन करने की आवश्यकता है।
- वैकल्पिक विवाद निपटान प्रणालियों जैसे लोक अदालतों, मध्यस्थता एवं सुलह पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है। ग्राम न्यायालयों का संवर्द्धन करना भी अपेक्षित है।
- सरकार सर्वाधिक मुकदमे दायर करती है। मुकदमों को पहले ही टालने के लिए सरकार द्वारा कानूनों के सरलीकरण तथा कारोबार करने में सरलता को बढ़ाने की आवश्यकता है।
- स्थिति को सुधारने के लिए अन्य विकल्पों जैसे प्रक्रिया में परिवर्तन, विधि स्नातकों की उन्नत गुणवत्ता, सूचना प्रौद्योगिकी के अधिकाधिक प्रयोग इत्यादि के संबंध में अनुसंधान अवश्य किए जाने चाहिए।

8. न्यायपालिका के संबंध में आलोचनाओं का स्वागत किया जाना चाहिए, जब तक कि आलोचनाएं "न्याय के प्रशासन" में बाधा न डालें। इस संदर्भ में चर्चा कीजिए कि क्या उच्चतर न्यायपालिका को दी गई न्यायालय की अवमानना की शक्ति अनुच्छेद 19(1) (a) द्वारा दी गई स्वतंत्रता को सीमित करती है और क्या इन दोनों में सामंजस्य हो सकता है?

दृष्टिकोण:

- आरंभ में संक्षिप्त रूप से कथन में निहित मुख्य विषय को स्पष्ट कीजिये एवं अवमानना की शक्ति और भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में दिए गए तर्कों के साथ इसका संबंध स्थापित कीजिए।
- न्यायपालिका को प्रदान की गयी अवमानना शक्ति की आवश्यकता पर चर्चा कीजिए।
- न्यायपालिका को प्रदत्त अवमानना शक्ति का भाषण की स्वतंत्रता पर क्या प्रभाव पड़ता है ? चर्चा कीजिए।
- इन दोनों के बीच कैसे सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है? चर्चा कीजिए।

उत्तर:

न्याय के प्रशासन हेतु न्यायपालिका को मजबूत रक्षोपायों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार:

- भारत के संविधान के अनुच्छेद 129 और 215 के प्रावधानों के अनुरूप क्रमशः सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को अपनी अवमानना के लिए लोगों को दंडित करने की शक्ति प्राप्त है।

न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971 न्यायपालिका की अवमानना शक्तियों का वर्णन करता है:

- किसी भी न्यायालय के प्राधिकार को सीमित करने अथवा उसकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने से रोकने के लिए।
- निर्धारित न्यायिक प्रक्रिया में किसी भी हस्तक्षेप को रोकने के लिए।
- विधिक प्राधिकरण के रूप में न्यायालय की छवि को सशक्त करने के लिए तथा यह सुनिश्चित करने के लिए कि कोई भी कानून से ऊपर नहीं है।
- यह सुनिश्चित करने के लिए कि कोई भी अपनी स्वतंत्र इच्छानुसार न्यायालय के आदेशों की अवहेलना नहीं कर सके।

जहां अनुच्छेद 19 1(a) में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे अधिकार प्रदान किये गए हैं। वहीं अनुच्छेद 19 (2) के अंतर्गत प्रतिपादित प्रतिबंधो के संदर्भ में न्यायालय की अवमानना शक्ति को महत्वपूर्ण आधार प्राप्त होता है।

आलोचकों का मानना है कि:

- न्यायपालिका के प्राधिकार को सीमित करना या प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने के आधार पर न्यायपालिका ने नियमित रूप से असहमत अभिव्यक्तियों को दंडित करने के लिए अपनी अवमानना शक्तियों का उपयोग किया है।
- ऐसे भाषण और अभिव्यक्तियां जो अनिवार्य रूप से न्याय के वास्तविक प्रशासन में बाधक नहीं रही हैं,उन्हें भी न्यायपालिका की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचने के आधार पर दंडित किया गया है।

अनुच्छेद 19 (1)(a) के अंतर्गत दिए गए अधिकार महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे:

- नागरिकों को अपनी राय व्यक्त करने में समर्थ बनाते हैं जो कुशल सार्वजनिक नीतियों के लिए आवश्यक है।
- गुणवत्ता पूर्ण जीवन सुनिश्चित करने के लिए स्वयं में यह महत्वपूर्ण हैं। संविधान के अनुच्छेद 21 में भी ये अधिकार निहित हैं।

इस प्रकार, भाषण की स्वतंत्रता और न्यायालयों की अवमानना शक्ति के बीच सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इसे सुनिश्चित किया जा सकता है:

- न्यायपालिका ने स्वयं ही अवमानना की शक्ति के संयमित प्रयोग के संबंध में दिशा-निर्देश निर्धारित किये हैं जिनके अनुसार स्वतंत्र आलोचना के अधिकार और न्यायपालिका की गरिमा के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए, उदाहरण के लिए मुल्गांवकर वाद 1978। साथ ही, राम दयाल मर्करहर बनाम मध्य प्रदेश 1978; कन्साइंटियस समूह बनाम मोहम्मद यूनुस 1987; पी.एन. डुडा बनाम पी. शिव शंकर 1988; संजय नारायण, हिंदुस्तान टाइम्स बनाम उच्च न्यायालय इलाहाबाद 2011 जैसे प्रकरणों में की गयी टिप्पणियां भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं।
- न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971 में 2006 में किये गये संशोधन के अनुसार " किसी भी अवमानना की कार्यवाही में वैध बचाव हेतु में न्यायालय ‘ सत्य के आधार पर औचित्य की सिद्धि (justification by truth)’ की अनुमति दे सकता है यदि वह संतुष्ट हो जाता है कि इस संबंध में बचाव पक्ष की ओर से किया गया आग्रह प्रमाणिक तथा सार्वजनिक हित में है।"

अंतर्राष्ट्रीय मानक और अन्य लोकतंत्रों के कानूनों से प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है तथा इसके माध्यम से उपयुक्त मानदंडो का निर्धारण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, आस्ट्रिया, इटली जैसे यूरोपीय लोकतंत्रों में न्यायालय की अवमानना का उल्लंघन करने पर सजा देने के लिए कोई भी कानून नहीं है। U.K. में, न्यायालय की अवमानना शक्ति ख़त्म की जा चुकी है।संयुक्त राज्य अमेरिका में, प्रेस और प्रकाशन के विरूद्ध अवमानना की शक्ति का उपयोग तभी किया जाता है, यदि लंबित वाद के वास्तव में प्रभावित होने की आशंका हो।

5. विगत वर्षों में संघ लोक सेवा आयोग (UPSC) द्वारा पूछे गए प्रश्न (Past Year UPSC Questions)

1. Explain the scope of the Advisory jurisdiction of the Supreme Court of India. (150 words) (92/II/4b/20)
   भारत के सर्वोच्च न्यायालय के परामर्शदायी क्षेत्राधिकार को स्पष्ट कीजिए। (150 शब्द) (92/II/4b/20)
2. What is the position of the Supreme Court under the Constitution of India? Discuss its role as a guardian of the Constitution. (About 250 words) (95/II/1b/40)
   भारत के संविधान के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति क्या है? संविधान के संरक्षक के रूप में इसकी भूमिका की विवेचना कीजिए। (लगभग 250 शब्दों में) (95/II/1b/40)
3. What is the position of the Supreme Court under the Constitution of India? How far does it play its role as the guardian of the Constitution? (250 words) (02/I/7a/30)
   भारत के संविधान के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति क्या है? संविधान के संरक्षक के रूप में कहाँ तक सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी भूमिका निभाई है? (250 शब्दो में) (02/I/7a/30)
4. How can a judge of the Supreme Court be removed? (20 words) (04/I/9d/2)
   सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को किस प्रकार हटाया जा सकता है? (20 शब्दों में) (04/I/9d/2)
5. How will you define 'judicial review'. (82/II/8c(A)/3)
   आप 'न्यायिक समीक्षा' को कैसे परिभाषित करेंगे। (82/II/8C (ए)/3)
6. The Supreme Court of India keeps a check on arbitrary power of the Parliament in amending the Constitution. Discuss critically.
   भारत का सर्वोच्च न्यायालय संविधान संशोधित करने में संसद की मनमानी शक्तियों पर नियंत्रण रखता है। आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
7. Starting from inventing the 'basic structure' doctrine, the judiciary has played a highly proactive role in ensuring that India develops into a thriving democracy. In light of the statement, evaluate the role played by judicial activism in achieving the ideals of democracy.
   'मूल संरचना' के सिद्धांत का आविष्कार करने से लेकर, न्यायपालिका ने यह सुनिश्चित करने में अत्यधिक सक्रिय भूमिका निभाई है कि भारत एक फलते-फूलते लोकतंत्र के रूप में विकसित हो। इस कथन के आलोक में, लोकतंत्र के आदर्शों को प्राप्त करने में न्यायिक सक्रियता द्वारा निभाई गई भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
8. What was held in the Coelho case? In this context, can you say that judicial review is of key importance amongst the basic features of the Constitution?
   कोहिलो के वाद में क्या अवधारित किया गया था? इस संदर्भ में, क्या आप कह सकते हैं कि संविधान की मूलभूत विशेषताओं में न्यायिक पुनर्विलोकन का निर्णायक महत्व है?
9. Critically examine the Supreme Court's judgement on 'National Judicial Appointments Commission Act, 2014' with reference to appointment of judges of higher judiciary in India.
   भारत में उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति के संदर्भ में 'राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग अधिनियम, 2014'पर सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उच्च न्यायालय एवं अधीनस्थ न्यायालय तथा न्यायिक सुधार से संबंधित मुद्दे

विषय सूची

1. परिचय

- भारत के संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई थी, लेकिन **सातवें संशोधन अधिनियम, 1956** के द्वारा संसद को अधिकार दिया गया कि वह दो या दो से अधिक राज्यों एवं किसी संघ राज्य क्षेत्र के लिए एक साझा उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकती है। संविधान के **भाग VI** में **अनुच्छेद 214 से 231** तक उच्च न्यायालयों के गठन, स्वतंत्रता, न्यायिक क्षेत्र, शक्तियां, प्रक्रिया और इनसे संबंधित अन्य मुद्दों के बारे में बताया गया है।
- वर्तमान में देश में राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों के लिए 25 उच्च न्यायालय हैं। भारत में उच्च न्यायालय संस्था का सर्वप्रथम गठन 1862 में तब हुआ, जब कलकत्ता, बम्बई और मद्रास उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 के उपबंधों के तहत इन तीन उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। वर्ष 1866 में चौथे उच्च न्यायालय की स्थापना इलाहाबाद में हुई। मार्च 2013 तक, उच्च न्यायालयों की संख्या 21 थी, तत्पश्चात 'पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) एवं अन्य संबंधित कानून (संशोधन) अधिनियम, 2012' द्वारा मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय में तीन उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। हाल ही में, आंध्र प्रदेश के अमरावती में देश के 25वें उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी है।
- कुछ उच्च न्यायालयों के न्यायिक क्षेत्र का अन्य राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों तक विस्तार हैं:
  - बंबई उच्च न्यायालय का न्यायिक क्षेत्र महाराष्ट्र, गोवा, दादरा एवं नगर हवेली और दमन एवं दीव तक विस्तृत है।
  - कलकत्ता उच्च न्यायालय का न्यायिक क्षेत्र पश्चिम बंगाल और अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह तक विस्तृत है।
  - गुवाहाटी उच्च न्यायालय का न्यायिक क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश, असम, नागालैंड और मिजोरम तक विस्तृत है।
  - केरल उच्च न्यायालय के न्यायिक क्षेत्र में केरल और लक्षद्वीप को सम्मिलित किया गया है।
  - मद्रास उच्च न्यायालय का न्यायिक क्षेत्र तमिलनाडु और पुदुचेरी तक विस्तृत है।
  - पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय का न्यायिक क्षेत्र पंजाब और हरियाणा राज्यों के साथ-साथ संघ राज्य क्षेत्र चंडीगढ़ तक विस्तृत है।
  - केवल दिल्ली एकमात्र ऐसा संघ राज्य क्षेत्र है, जिसका अपना एक उच्च न्यायालय है।

संसद एक उच्च न्यायालय के न्यायिक क्षेत्र का विस्तार, किसी संघ राज्य क्षेत्र में कर सकती है अथवा किसी संघ राज्य क्षेत्र को, उच्च न्यायालय के न्यायिक क्षेत्र से बाहर कर सकती है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण

- संविधान के अनु. 50 में यह लिखा है कि राज्य न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए कदम उठाएगा। इस निदेश के अनुसरण में संसद ने विधि बनाकर न्यायिक कृत्य अनन्य रूप से न्यायपालिका को सौंप दिए हैं।
- इस पृथक्करण से पहले कुछ राज्यों में कार्यपालिका के अधिकारी भारतीय दंड सहिता के अधीन मामले निपटाते थे। वे जमानत के आवेदनों की सुनवाई भी करते थे।
- दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधिनियमित किए जाने के पश्चात् न्यायिक प्रणाली में कार्यपालिका के अधिकारियों को कोई काम नहीं सौपा गया है। न्यायपालिका को पूरी तौर से कार्यपालिका से अलग कर दिया गया है।

2. उच्च न्यायालय का संगठन [अनुच्छेद 216]

- प्रत्येक उच्च न्यायालय, एक मुख्य न्यायाधीश और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा, जो आवश्यकतानुसार राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर नियुक्त किए जाएं।

2.1. अर्हताएँ [अनुच्छेद 217(2)]

किसी व्यक्ति के पास उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए निम्नलिखित अर्हताएँ होनी चाहिए:

- वह भारत का नागरिक हो।
- उसे भारत के राज्यक्षेत्र में न्यायिक कार्य में 10 वर्ष का अनुभव हो (न्यायिक कार्य का तात्पर्य न्यायाधीश के कार्य से ही नहीं है, यह अन्य न्यायिक कार्य भी हो सकता है), या
- वह किसी उच्च न्यायालय (न्यायालयों) में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो (यह अर्हता उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश की अर्हता के समान है)।

इस प्रकार, संविधान में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई न्यूनतम आयु निर्धारित नहीं की गयी है। हालांकि, संविधान में उच्चतम न्यायालय के विपरीत एक प्रतिष्ठित विधिवेत्ता को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करने हेतु कोई प्रावधान नहीं है।

2.2. न्यायाधीशों का कार्यकाल [अनुच्छेद 217(1)]

संविधान में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल निश्चित नहीं किया गया है। हालांकि, निम्नलिखित प्रावधानों का उपबंध किया गया है:

- वह 62 वर्ष की आयु तक पद पर रहता है। उसकी आयु से संबंधित किसी भी प्रश्न का निर्णय भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा एवं राष्ट्रपति का निर्णय अंतिम होगा।
- वह राष्ट्रपति को त्यागपत्र दे सकता है।
- संसद की सिफारिश से राष्ट्रपति उसे पद से हटा सकता है।
- उसकी नियुक्ति उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में हो जाने पर या किसी दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण हो जाने पर पद रिक्त हो जाएगा।

2.3. आयु का अवधारण

- यदि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई प्रश्न उठता है तो उसका विनिश्चय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा। राष्ट्रपति का विनिश्चय अंतिम होगा। (अनु. 217)।
- उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की आयु का अवधारण ऐसे प्राधिकरण द्वारा और ऐसी रीति से किया जाएगा जो संसद विधि द्वारा उपबंधित करे (अनु. 124)। इसका कोई तर्कसम्मत कारण नहीं दिखाई देता है कि क्यों उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के बीच अंतर रखा गया है।

3. न्यायाधीशों की श्रेणियां

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की निम्नलिखित श्रेणियां होती हैं:

3.1. नियमित न्यायाधीश

- किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश एवं संबंधित राज्य के राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात् की जाती है।
- जबकि उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश एवं संबंधित राज्य के राज्यपाल तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श के पश्चात् की जाती है।

- दो या दो से अधिक राज्यों के साझा उच्च न्यायालय में नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति सभी संबंधित राज्यों के राज्यपालों से भी परामर्श करता है।
- *तीसरे न्यायाधीश वाद* (1998) के उपरांत उच्चतम न्यायालय ने कहा कि उच्च न्यायालय के न्यायधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श करना चाहिए। इस प्रकार, अकेले भारत के मुख्य न्यायाधीश की राय से परामर्श प्रक्रिया पूरी नहीं होगी।

3.2. कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश [अनुच्छेद 223] (Acting Chief Justice)

राष्ट्रपति किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उस उच्च न्यायालय का कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है, जब:

- उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो, या
- उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश अस्थायी रूप से अनुपस्थित हो, या
- यदि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश अपने कार्य निर्वहन में अक्षम हो।

3.3. अपर और कार्यकारी न्यायाधीश [अनुच्छेद 224] (Additional and Acting Judges)

राष्ट्रपति निम्नलिखित परिस्थितियों में योग्य व्यक्तियों को उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में अस्थायी रूप से नियुक्त कर सकता है, जिसकी अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होगी:

- यदि अस्थायी रूप से उच्च न्यायालय का कामकाज बढ़ गया हो, या
- उच्च न्यायालय में बकाया कार्य अधिक है।

इसी प्रकार राष्ट्रपति उस स्थिति में भी योग्य व्यक्तियों को किसी उच्च न्यायालय का कार्यकारी न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है, जब उच्च न्यायालय का न्यायाधीश (मुख्य न्यायाधीश के अलावा):

- अनुपस्थिति या अन्य कारणों से अपने कार्यों का निष्पादन करने में असमर्थ हो,
- किसी न्यायाधीश को अस्थायी तौर पर संबंधित उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया हो।

एक कार्यकारी न्यायाधीश तब तक कार्य करता है, जब तक कि स्थायी न्यायाधीश अपना पदभार न संभाले। हालांकि, अपर या कार्यकारी न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पश्चात् पद धारण नहीं कर सकते हैं।

3.4. सेवानिवृत्त न्यायाधीश [अनुच्छेद 224A]

- उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश किसी भी समय उस उच्च न्यायालय अथवा किसी अन्य उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश को अस्थायी अवधि के लिए बतौर कार्यकारी न्यायाधीश काम करने के लिए कह सकते हैं। वह ऐसा राष्ट्रपति की पूर्व संस्तुति एवं संबंधित व्यक्ति की मंजूरी के पश्चात् ही कर सकता है। ऐसा न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा तय भत्तों का अधिकारी होता है।
- उसे उस उच्च न्यायालय के सभी न्यायिक क्षेत्र, शक्तियां एवं सुविधाएं और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, किंतु उसे अन्यथा उस उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जाएगा।

4. न्यायाधीशों को हटाना

- अनुच्छेद 217(1)(b) में प्रावधान है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को अनुच्छेद 124(4) के तहत प्रदत्त उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने की प्रक्रिया के समान ही हटाया जाएगा।
- इस प्रकार, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी 'साबित कदाचार' या 'असमर्थता' के आधार पर ही पद से हटाया जा सकता है।

4.1. न्यायाधीशों का स्थानांतरण [अनुच्छेद 222]

- भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श के बाद राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश का स्थानांतरण एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में कर सकता है।
- वर्ष 1977 में उच्चतम न्यायालय ने व्यवस्था दी कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का स्थानांतरण केवल अपवादस्वरूप और लोक कल्याण को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है न कि दंड के रूप में। वर्ष 1994 में उच्चतम न्यायालय ने पुनः कहा कि न्यायाधीशों के स्थानांतरण में मनमानी रोकने के लिए न्यायिक समीक्षा आवश्यक है।
- तीसरे न्यायाधीश वाद (1998) में उच्चतम न्यायालय ने राय दी कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण के मामले में भारत के मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्टतम न्यायाधीशों तथा दो उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों (एक वहां के, जहाँ से न्यायाधीश का स्थानांतरण हो रहा है; एक वहां के जहाँ वह जा रहा हो) से परामर्श करना चाहिए।
- स्थानांतरण के मामले में न्यायाधीश वेतन के अतिरिक्त राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित प्रतिपूरक भत्तों का हकदार होता है।

5. उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार और शक्तियां

- उच्च न्यायालय, नागरिकों के मूल अधिकारों का रक्षक होने के अतिरिक्त, राज्य में सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय भी होता है। इसके पास पर्यवेक्षीय और सलाहकार की भूमिका निभाने के अतिरिक्त संविधान की व्याख्या करने की शक्ति भी निहित है।
- हालांकि, संविधान में उच्च न्यायालय की शक्तियों एवं क्षेत्राधिकार के बारे में विस्तृत उपबंध नहीं किये गए हैं। इसमें केवल इतना कहा गया है कि एक उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार और शक्तियां वही होंगी जो संविधान के लागू होने से तुरंत पूर्व थी।
- लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान में एक नया प्रावधान जोड़ा गया, वह है राजस्व मामलों पर उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार (जो संविधान पूर्व काल में इसके पास नहीं था)।

उच्च न्यायालय के पास प्रारंभिक क्षेत्राधिकार, रिट क्षेत्राधिकार, अपीलीय क्षेत्राधिकार, पर्यवेक्षीय क्षेत्राधिकार, अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण, अभिलेख न्यायालय और न्यायिक समीक्षा/पुनर्विलोकन की शक्तियां हैं।

5.1. प्रारंभिक क्षेत्राधिकार

- मूल अधिकारों का प्रवर्तन (**अनुच्छेद 226** के तहत)
- संविधान की व्याख्या के संबंध में अधीनस्थ न्यायालय से स्थानांतरित मामलों में।
- अधिकारिता का मामला, वसीयत, विवाह, तलाक, कंपनी कानून एवं न्यायालय की अवमानना से संबंधित मामले।
- संसद सदस्यों और राज्य विधानमंडल के सदस्यों के निर्वाचन से संबंधित विवाद।
- राजस्व मामले या राजस्व संग्रह के लिए बनाये गए किसी अधिनियम या आदेश के संबंध में।
- उच्च महल के मामलों में चार उच्च न्यायालयों (अर्थात् कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और दिल्ली उच्च न्यायालय) के मूल नागरिक क्षेत्राधिकार हैं।

वर्ष 1973 से पूर्व कलकत्ता, बंबई और मद्रास उच्च न्यायालयों के पास अपने संबंधित क्षेत्र के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों पर मूल क्षेत्राधिकार, दीवानी और आपराधिक दोनों, विद्यमान था। हालांकि, आपराधिक प्रक्रिया संहिता (CrPC), 1973 द्वारा मूल आपराधिक न्यायिक क्षेत्र का पूरी तरह निरसन कर दिया गया।

5.2. रिट क्षेत्राधिकार

- संविधान का **अनुच्छेद 226** एक उच्च न्यायालय को नागरिकों के मूल अधिकारों के प्रवर्तन और किसी अन्य उद्देश्य के लिए भी रिट जारी करने की अनुमति देता है। ये रिट हैं- बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, उत्प्रेषण, प्रतिषेध एवं अधिकार पृच्छा। किसी अन्य उद्देश्य के लिए पद का अर्थ है- एक सामान्य कानूनी अधिकार के प्रवर्तन के लिए भी रिट जारी करना।
- यदि न्यायादेश देने का कारण इसके क्षेत्राधिकार राज्यक्षेत्र की सीमाओं में है तो उच्च न्यायालय किसी भी व्यक्ति, प्राधिकरण और सरकार को अपने क्षेत्राधिकार के राज्यक्षेत्र की सीमाओं के भीतर ही नहीं बल्कि इसके बाहर भी ऐसा न्यायादेश दे सकता है।
- उच्च न्यायालय का रिट क्षेत्राधिकार, उच्चतम न्यायालय की तुलना में **अधिक व्यापक** है। उच्चतम न्यायालय सिर्फ मूल अधिकारों के प्रवर्तन के संबंध में रिट जारी कर सकता है, वहीं उच्च न्यायालय इसके साथ ही किसी भी विधिक अधिकार के उल्लंघन पर भी रिट जारी कर सकता है। उच्च न्यायालय का रिट क्षेत्राधिकार संविधान के मूल ढांचे का अंग है।

5.3. अपीलीय क्षेत्राधिकार

5.3.1 दीवानी मामले

- उच्च न्यायालय में दीवानी मामलों पर अपील, पहली अपील या दूसरी अपील होती है।
- उच्च मूल्य (व्यापक रूप में) के मामलों में जिला न्यायाधीशों और अधीनस्थ न्यायाधीशों के निर्णयों के विरुद्ध कानून एवं तथ्य के प्रश्न पर सीधे उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।
- जब कोई अधीनस्थ न्यायालय अवर न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध की गयी अपील पर निर्णय देता है, तो निचले अपीलीय न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध दूसरी अपील उच्च न्यायालय में की जाती है, परन्तु सिर्फ कानून के प्रश्नों पर, तथ्यों के प्रश्नों पर नहीं।
- कलकत्ता, बंबई और मद्रास उच्च न्यायालय में अंत:न्यायालीय अपील का प्रावधान है। जब उच्च न्यायालय का कोई एक न्यायाधीश मामले पर निर्णय देता है तो अपील उसी न्यायालय की खंडपीठ में की जा सकती हैं।
- प्रशासनिक एवं अन्य अधिकरणों के निर्णयों के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय की खंड पीठ के समक्ष की जा सकती है। वर्ष 1997 में उच्चतम न्यायालय ने व्यवस्था की कि ये अधिकरण उच्च न्यायालय के रिट क्षेत्राधिकार के विषयाधीन हैं। परिणामस्वरूप, अधिकरण के फैसले के विरुद्ध कोई पीड़ित व्यक्ति बिना पहले उच्च न्यायालय में गए सीधे उच्चतम न्यायालय में नहीं जा सकता।

5.3.2 आपराधिक मामले

- सत्र न्यायाधीश या अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के निर्णयों के विरुद्ध उच्च न्यायालयों में तब अपील की जा सकती हैं जब किसी को सात वर्ष या इससे अधिक के लिए कारावास की सजा हुई हो। अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा दी गयी सजा-ए-मौत (मृत्युदंड) पर कार्यवाही से पहले उच्च न्यायालय द्वारा इसकी पुष्टि की जानी चाहिए।
- कुछ विशिष्ट मामलों में सहायक सत्र न्यायाधीश, महानगर दंडाधिकारी या अन्य दंडाधिकारी के निर्णयों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

5.4. पर्यवेक्षीय क्षेत्राधिकार [अनुच्छेद 227]

उच्च न्यायालय को इस बात का अधिकार है कि सैन्य न्यायालयों के अतिरिक्त वह अपने अधिकार क्षेत्र के सभी न्यायालयों एवं अधिकरणों के क्रियाकलापों पर नजर रखे। इस प्रकार वह:

- मामलों को ऐसे न्यायालयों से स्वयं के पास मंगवा सकता है।
- सामान्य नियम तैयार और जारी कर सकता है एवं उनके प्रयोग तथा कार्यवाही को नियमित करने के लिए प्रपत्र निर्धारित कर सकता है।
- इन न्यायालयों के अधिकारियों द्वारा रखे जाने वाले लेखा, सूची आदि के लिए प्रपत्र निर्धारित कर सकता है।
- शेरिफ, क्लर्क, अधिकारी एवं वकीलों के शुल्क आदि निश्चित करता है।

  इस शक्ति ने राज्य के सम्पूर्ण न्याय प्रशासन के लिए उच्च न्यायालय को जिम्मेदार बना दिया है। यह प्रकृति में न्यायिक एवं प्रशासनिक दोनों है। संविधान में अधीनस्थ न्यायालयों के अधीक्षण की इसकी शक्ति पर कोई निर्बन्धन नहीं है तथा इस शक्ति का स्वत: प्रयोग किया जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि उच्चतम न्यायालय के पास उच्च न्यायालय की इस शक्ति के समान कोई शक्ति नहीं है।

5.5. अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण

- उच्च न्यायालय, जिला न्यायालय और उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण रखता है।
- जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, तैनाती और पदोन्नति एवं व्यक्ति की राज्य न्यायिक सेवा (जिला न्यायाधीशों से अलग) में नियुक्ति के मामलों में राज्यपाल, उच्च न्यायालय से परामर्श लेता है।
- यह राज्य न्यायिक सेवा (जिला न्यायाधीशों के अलावा अन्य) के सदस्यों की तैनाती, स्थानांतरण, अनुशासन, अवकाश स्वीकृति, पदोन्नति आदि से संबंधित मामलों को देखता है।
- यह अधीनस्थ न्यायालय में लंबित किसी मामले को अपने पास मंगवा सकता है, यदि उसमें महत्वपूर्ण कानूनी प्रश्न शामिल हो और संविधान की व्याख्या की आवश्यकता हो। यह या तो इस मामले को निपटा सकता है या अपने निर्णय के साथ मामले को संबंधित न्यायालय को लौटा सकता है।
- इसके कानून (निर्णय) को उन सभी अधीनस्थ न्यायालयों को मानने की बाध्यता होती है, जो उसके न्यायिक क्षेत्र में आते हैं।

अधीनस्थ न्यायालय

जिला न्यायाधीश के न्यायालय को और सोपान क्रम में उससे निचले न्यायालयों को अधीनस्थ न्यायालय कहा जाता है। दूसरे शब्दों में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालय अधीनस्थ न्यायालय हैं।

5.6. अभिलेख न्यायालय

अभिलेख न्यायालय के रूप में उच्च न्यायालय की शक्तियां, उच्चतम न्यायालय की संबंधित शक्तियों के समान ही हैं। कृपया इसे उच्चतम न्यायालय वाले अध्याय में देखें।

5.7. न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति (अनुच्छेद 13 और अनुच्छेद 226)

उच्च न्यायालय केंद्र एवं राज्यों के किसी भी अधिनियम या कार्यकारी आदेश को शून्य और अमान्य घोषित कर सकता है, अगर वह संविधान का उल्लंघन करता हो। विधायी क़ानून और कार्यकारी आदेश की संवैधानिक वैधता को निम्नलिखित आधारों पर एक उच्च न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है, यदि यह:

- मूल अधिकारों का हनन करता हो (भाग तीन)
- जिस प्राधिकरण द्वारा तैयार किया गया है, उसके कार्य क्षेत्र से बाहर हो, तथा
- संवैधानिक उपबंधों के विरुद्ध हो।

6. अधीनस्थ न्यायालय

संविधान के **भाग VI** में **अनुच्छेद 233 से 237** तक अधीनस्थ न्यायालयों के संगठन एवं कार्यपालिका से इनकी स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले निम्नलिखित उपबंधों का वर्णन किया गया है:

6.1. जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति [अनुच्छेद 233]

जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापना और पदोन्नति राज्यपाल द्वारा राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श से की जाती है। जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए एक व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक हैं:

- उसे केंद्र या राज्य सरकार की सेवा में कार्यरत नहीं होना चाहिए।
- उसे कम-से-कम **सात वर्ष** तक अधिवक्ता या प्लीडर के रूप में कार्य करने का अनुभव होना चाहिए।
- उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय द्वारा सिफारिश की गयी हो।

'जिला न्यायाधीश' पद के अंतर्गत नगर दीवानी न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, लघु न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट, अतिरिक्त मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट, सत्र न्यायाधीश, अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश और सहायक सत्र न्यायाधीश शामिल हैं।

6.2. अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति [अनुच्छेद 234]

राज्यपाल, जिला न्यायाधीश के अतिरिक्त राज्य की न्यायिक सेवा के अन्य पदों पर भी राज्य लोक सेवा आयोग और उच्च न्यायालय के परामर्श के बाद व्यक्तियों की नियुक्ति कर सकता है।

6.3. अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण [अनुच्छेद 235]

जिला न्यायालयों और अन्य अधीनस्थ न्यायालयों में न्यायिक सेवा से संबद्ध व्यक्ति की पदस्थापना, पदोन्नति, अवकाश और अन्य मामलों पर नियंत्रण का अधिकार राज्य के उच्च न्यायालय के पास होता है।

6.4. संरचना और अधिकार क्षेत्र

अधीनस्थ न्यायालयों की संरचना को नीचे प्रस्तुत रेखा-चित्र द्वारा विस्तार से बताया गया है।
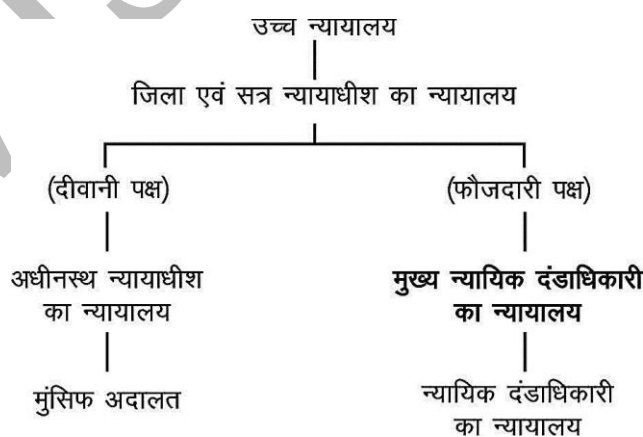
- अधीनस्थ न्यायपालिका की संगठनात्मक संरचना सभी राज्यों में भिन्न हैं तथा मोटे तौर पर चित्र में दर्शाये अनुसार वर्गीकृत हैं। ये सबसे निचले स्तर पर, न्याय की दो शाखाओं दीवानी और फौजदारी में विभक्त हैं। दीवानी और फौजदारी मामलों में विभिन्न क्षेत्रीय नामों जैसे- न्याय पंचायत, पंचायत अदालत, ग्राम कचहरी आदि के तहत पंचायत न्यायालय कार्यरत हैं।

- मुंसिफ न्यायाधीश के न्यायालय अगले स्तर के दीवानी न्यायालय होते हैं, जिनके क्षेत्राधिकार उच्च न्यायालयों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। मुंसिफ न्यायाधीश के ऊपर अधीनस्थ न्यायाधीश होते हैं जिनमें असीमित धन-संबंधी क्षेत्राधिकार निहित होते हैं। मुंसिफ न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध पहली अपील इन्हीं न्यायालयों में की जाती है।
- जिला स्तर पर, जिला एवं सत्र न्यायाधीश जिले का सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी होता है जिसे दीवानी एवं फौज़दारी मामलों में मूल और अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त है।
- जिला न्यायाधीश, मुंसिफ न्यायाधीशों (यदि अधीनस्थ न्यायाधीशों द्वारा कार्यवाही नही की जाती है) के साथ ही अधीनस्थ न्यायाधीशों के निर्णयों के विरुद्ध प्रथम सुनवाई करते हैं तथा दीवानी एवं फौज़दारी मुकदमों दोनों पर असीमित क्षेत्राधिकार के अधिकारी होते हैं।
- जिला न्यायाधीशों में अधीनस्थ न्यायाधीशों से संबंधित पर्यवेक्षी शक्तियां भी निहित होती हैं। जब वह दीवानी मामलों की सुनवाई करता है तो उसे जिला न्यायाधीश के रूप में जाना जाता है तथा फौज़दारी मामलों की सुनवाई करने पर सत्र न्यायाधीश के रूप में जाना जाता है।
- इसके आदेश के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में की जाती है। सत्र न्यायाधीश को किसी अपराधी को आजीवन कारावास और मृत्युदंड सहित कोई भी सजा देने का अधिकार होता है। हालांकि, उसके द्वारा दिए गए मृत्युदंड पर तभी अमल किया जाता है, जब राज्य का उच्च न्यायालय उसका अनुमोदन कर दे।
- कम महत्व वाले मुकदमों की सुनवाई प्रांतीय लघु न्यायालयों (Provincial Small causes courts) द्वारा की जाती है। दण्ड प्रक्रिया संहिता (CrPC, 1973) के लागू होने के बाद से, फौज़दारी मामलों की सुनवाई न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा ही की जाती है।
- कार्यकारी मजिस्ट्रेट के विपरीत, जो राज्य सरकार के नियंत्रण के अधीन कानून और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करता है, न्यायिक तथा मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट उच्च न्यायालयों के प्रशासनिक नियंत्रण में न्यायिक कार्यों का निर्वहन करते हैं।

7. विगत वर्षों में Vision IAS GS मेंस टेस्ट सीरीज में पूछे गए प्रश्न (Previous Year Vision IAS GS Mains Test Series Questions)

1. **परीक्षण कीजिए कि भारत में वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की आवश्यकता क्यों है? विवाद निवारण में इसकी प्रभावकारिता पर टिप्पणी कीजिए।**

दृष्टिकोणः

- चूंकि प्रश्न वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की आवश्यकता एवं उनकी प्रभावकारिता के संबंध् में है,इसलिए सर्वप्रथम इस पर चर्चा करनी चाहिए कि वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र क्या है।
- न्याय-व्यवस्था में विद्यमान कमियों को दर्शाकर वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की आवश्यकता का परीक्षण किया जा सकता है तथा यह भी उल्लेख करने की आवश्यकता है कि वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र किस प्रकार इन कमियों को दूर कर सकता है।
- इसके बाद इस तंत्र की प्रभावकारिता का परीक्षण किया जाना चाहिए। ऐसा करते हुए वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की सीमाओं पर भी चर्चा करनी चाहिए। इसके सबल एवं दुर्बल पक्षों की तुलना करते हुए व्याख्या कीजिए कि औपचारिक न्याय व्यवस्था की अपेक्षा **वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र प्रभावकारी है अथवा नहीं।**

उत्तरः

न्याय वितरण प्रणाली समाज में जनहित तथा कानून व्यवस्था को बढ़ावा देने में मुख्य भूमिका निभाती है। न्याय-वितरण हेतू विवादों के निपटारे के लिए, एक प्रभावकारी व्यवस्था मूलभूत आवश्यकता है। किन्तु औपचारिक न्याय वितरण व्यवस्था की अनेक सीमाएं है, जो निम्नलिखित है।

- न्यायालयों के माध्यम से न्याय पाने के लिए किसी व्यक्ति को एक कठिन एवं खर्चीली प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। इसके अलावा उच्च लागत, देरी और न्यायालयों में भीड़ अलग से गंभीर चिंता का कारण है।
- न्यायालयों में कानूनी कार्यवाही के माध्यम से विवादों का निपटान जरूरत से ज्यादा प्रक्रियात्मक और अपनी प्रकृति में विरोधात्मक बन गया है जिसके कारण मुकदमें की सुनवाई आदि में अनुचित देरी, उच्च लागत तथा निष्पक्षता के साथ न्याय मिलने में समस्या उत्पन्न होती है। बड़ी संख्या में लम्बित मामलों के कारण समाज में न्याय-व्यवस्था पर विश्वास और उसकी साख पर गंभीर प्रश्न खड़े हो रहे है।
- इसके अतिरिक्त, औपचारिक न्यायालयों में मुकदमेबाजी की विरोधात्मक प्रकृति, सामाजिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों को प्रेरणा नहीं दे पा रहा है, जिसे संरक्षित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार यह प्रणाली न तो सहमति, समझौता और सहयोग का वातावरण उत्पन्न करती है और न ही यह सद्भाव में समाप्त होती है। परिणामस्वरूप प्रायः यह वादियों के मध्य असंतोष का कारण बनता है तथा विवादों के समाधन हेतु एक अधिक लचीली व्यवस्था की मांग करता है।

इन्ही चुनौतियों एवं सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की आवश्यकता है। वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र के तहत विवादों का निपटारा किसी तटस्थ तीसरे व्यक्ति की सहायता से किया जाता है जिसको सामान्यतः वादियों द्वारा स्वयं चुना गया होता है तथा यह व्यक्ति विवाद की प्रकृति से आमतौर से भलीभांति परिचित होता है।

इसके अतिरिक्त यह कार्यवाही अनौपचारिक तथा बिना किसी प्रक्रियागत तकनीक के होती है। ये प्रक्रिया न केवल शीघ्र पूरी होने वाली सस्ती तथा गोपनीय है बल्कि इसका लक्ष्य पर्याप्त न्याय दिलाने की भी है। इसका लक्ष्य अधिक प्रभावी विवाद समाधन प्रदान करने का है। फलस्वरूप वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की उपलब्धता न्याय प्रणाली के भीतर और अधिक विकल्प प्रदान करती है। इस प्रकार औपचारिक न्याय वितरण प्रणाली में आ रही कमियों को वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र के माध्यम से दूर किया जा सकता है।

किन्तु वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र के अनेक लाभों के बावजूद इसे औपचारिक न्याय-व्यवस्था में मुकदमों की सुनवाई के लिए एक विकल्प के रूप में नहीं देखा जा सकता है। वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की भी अनेक सीमाएं है जैसे-

- वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र का उपयोग उस स्थिति में नहीं किया जा सकता जहाँ विवाद/मामला व्यवस्थित न्याय, भेदभाव, मानव अधिकारों के हनन अथवा गंभीर धेखाधड़ी से संबंधित हो।
- व्यक्तिगत विवादों को हल करते हुए वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र कोई नजीर नहीं बनाते है। वे व्यक्तिगत विवादों को निपटाने की अधिक मंशा रखते हैं। इसके अलावा दो समान विवादों पर परिस्थितिगत कारणों से उनके निर्णयों में अन्तर होता है।
- ऐसे मामलों में जिसमें विवादों की शक्ति एवं क्षमता में अत्यधिक अन्तर होता है वहाँ वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र सुचारू रूप से तथा बिना प्रभावित हुए कार्य नहीं कर सकता है। एक शक्तिशाली एवं सक्षम वादी दूसरे कमजोर वादी को जबरन अन्यायपूर्ण एवं अनुचित निर्णय को मानने के लिए बाध्य कर सकता है।

- बहुपक्षीय विवादों में वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र प्रक्रिया प्रभावी रूप में कार्य नहीं कर सकती यदि उनमें से कुछ पक्ष इस प्रक्रिया में भाग न ले।
- वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र जनता में किसी प्रकार का शैक्षिक एवं निवारक प्रभाव नहीं रखता क्योंकि यह व्यक्तिगत रूप में कार्य करता है। केवल औपचारिक न्यायालय ही दंडात्मक हर्जाना दिला सकता है।
- बहुत से लोग वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र से अवगत नहीं हैं वह जब तक वे इसके प्रति जागरूक नहीं है इसका उपयोग भी नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र की प्रभावकारिता इसके लाभों एवं सीमाओं पर निर्भर है। पुनः इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र प्रभावकारी है, फिर भी यह मुकदमों की कार्यवाहियों एवं औपचारिक न्याय-व्यवस्था का विकल्प नहीं हो सकता है।

2. न्याय पंचायतों की संरचना एवं कार्यों की व्याख्या कीजिए तथा यह भी चर्चा कीजए कि बुनियादी स्तर पर न्याय दिलाने में यह किस प्रकार कार्य करती है?

दृष्टिकोण:

- न्याय पंचायतों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
- इसकी संरचना पर संक्षिप्त रूप से चर्चा कीजिए।
- न्याय पंचायतों के कार्यों एवं उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।
- बुनियादी स्तर पर इसकी कार्यप्रणाली का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर:

- न्याय पंचायतों को गाँव की अदालतों/ग्रामीण न्यायालयों के रूप में समझा जा सकता है, जो नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत पर कार्य करती हैं तथा अपनी प्रक्रियाओं को सरल बनाए रखने का हर सम्भव प्रयास करती हैं। ये स्थानीय स्तर पर विवादों के समाधान में सहायता करती हैं। इस प्रकार ये बड़े एवं मुख्य न्यायालयों में लम्बित मामलों के जमाव को कम करके शीघ्र न्याय दिलाने में तेजी प्रदान करती हैं।
- **न्याय पंचायतों की संरचना:**
    - प्रत्येक ग्रामीण पंचायत अथवा कुछ ग्राम पंचायतों के एक समूह ;जो कि उसी जनसंख्या तथा क्षेत्र पर निर्भर करता है, पर एक न्याय पंचायत का गठन होता है।
    - न्याय पंचायत में पाँच सदस्य होते हैं जो ग्राम पंचायतों के अथवा कुछ ग्राम पंचायतों के मतदाताओं द्वारा ;जिनका नाम वहाँ की मतदाता सूची में दर्ज हो,द्वारा चुने जाते हैं।
    - प्रत्येक पंच अपनी उम्र से वरिष्ठता के आधार पर एक वर्ष के लिए न्याय प्रमुख का पद धारण करता है।
- **न्याय पंचायतों के कार्य:**
    - विवादों का शीघ्र तथा सस्ता निदान
    - बिना किसी खर्च के न्याय को बुनियादी स्तर पर सुनिश्चित करना अन्यथा नियमित अदालतों की स्थापना के लिए भारी व्यय करना होगा।
    - बड़ी संख्या में विवादों का निपटारा करना जिससे नियमित न्यायालयों में लम्बित मामलों के बोझ को कम किया जा सके।
    - बहुत से मामलों में शांतिपूर्ण मध्यस्थता के द्वारा बड़ी संख्या में वादियों के बीच सुलह/समझौता कराने में सफल होना।
    - समझौताकारी दृष्टिकोण का बेहतर अवसर प्रदान करना।

- **यद्यपि न्याय पंचायतें देश भर में मौजूद नहीं है फिर भी विभिन्न राज्यों में इनकी सपफलता को देखते हुए इसके निम्नलिखित सकारात्मक बिन्दुओं को अपनाया जा सकता है:**
  - काफी हद तक ये अपने औचित्य को साबित करने में सफल रही हैं।
  - ये गाँव के प्रत्येक घर तक सस्ता, त्वरित तथा बिना किसी प्रक्रियागत तकनीक के न्याय को पहुँचाती हैं।
  - ये वादियों के मध्य समझौता कराने मे सहायता प्रदान करती हैं जिससे नियमित न्यायालयों का बोझ कम होता है।
- **फिर भी न्याय पंचायतें अनेक सीमाओं एवं कमियों से ग्रस्त है:**
  - न्याय पंचायतों को प्रभावित करने में बड़े भू-स्वामी, जातिवादी एवं सामाजिक तथा धर्मिक मान्यताएँ अहम भूमिका निभाती हैं।
  - कम बजट न्याय पंचायतों की अनेक गतिविधियों को घटा देता है।
  - सरकारी पक्षपात एवं गुटबाजी का भय।
  - पंचों का निम्न शैक्षिक स्तर न्याय पंचायतों के कार्य संचालन को सम्भालने में बाध उत्पन्न करता है।

3. यदि न्यायिक प्रशासन में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय की अभिकल्पना भाई के रूप में की गई थी, तो भले ही उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र अधिक व्यापक है, फिर भी सर्वोच्च न्यायालय अब भी बड़े भाई की भूमिका में है"-जस्टिस आर. सी. लाहोटी। उपरोक्त कथन के आलोक में भारत में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के बीच सम्बंध का वर्णन करें।

दृष्टिकोण:

उत्तर देने के लिए संविधान के प्रावधानों के तहत सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय, दोनों न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को किस तरह परिभाषित किया गया है, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। उन प्रावधानों का उल्लेख करें जो सर्वोच्च न्यायालय को भारत के भीतर उच्चतर न्यायालय बनाते हैं। साथ ही साथ उन प्रावधानों का उल्लेख करें जो उच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 132 से 136, 139ए, 141, 144, 226 और 227 को विशेष रूप से ध्यान में रखें। इसके अलावा तिरुपति बालाजी डेवलपर्स प्राइवेट लि. एवं अन्य बनाम बिहार राज्य 2003 के प्रकरण को याद रखें।

उत्तर:

संविधान में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के बीच के रिश्तों में स्वतंत्रता और पदानुक्रम दोनों शामिल हैं। कुछ प्रावधान हैं जो सर्वोच्च न्यायालय को पदानुक्रम में उच्च न्यायालय पर वरीयता देते हैं और इससे बेहतर स्थान देते हैं। उदाहरण के लिए,

- अनुच्छेद 139-ए सर्वोच्च न्यायालय को, एक उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित किसी भी मामले का दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरण करने या स्वयं लेने का अधिकार प्रदान करता है।
- अनुच्छेद 141 सुप्रीम कोर्ट द्वारा घोषित सभी कानूनों को भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर, उच्च न्यायालय सहित सभी न्यायालयों हेतु बाध्यकारी बनाता है।
- अनुच्छेद 144 अधिदेशित करता है कि भारतीय भू-भाग में,सभी नागरिक व न्यायिक प्राधिकारी, जिसमें उच्च न्यायालय भी शामिल है, सर्वोच्च न्यायालय की सहायता में कार्य करेंगे।

संविधान की व्याख्या से जुड़े मामलों पर, केवल सर्वोच्च न्यायालय द्वारा फैसला लिया जाएगा। जब संविधान की व्याख्या के मामले उच्च न्यायालय द्वारा निर्णित नहीं हो सके तो उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाण-पत्र जारी करता है कि ऐसे मामलों पर संवैधानिक व्याख्या की आवश्यकता है एवं उन पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार किया जाना चाहिए। संवैधानिक प्रावधान, जो उच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार देते हैं -

- रिट क्षेत्राधिकार के संबंध में अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय के पास सुप्रीम कोर्ट की अपेक्षा अधिक व्यापक अधिकार हैं। हालांकि, इस अनुच्छेद द्वारा उच्च न्यायालय को दिए जाने वाले अधिकार, अनुच्छेद 32 के उपखंड(2) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को दिए जाने वाले अधिकारों का अल्पीकरण नहीं होगा।
- संविधान का अनुच्छेद 227 प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने भू-भागीय क्षेत्राधिकार में आने वाले सभी अदालतों और न्यायाधिकरणों के अधीक्षण का अधिकार देता है, सिवाय सशस्त्र बलों हेतु किसी कानून के तहत या उसके द्वारा गठित किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के।

इसके अतिरिक्त, न्यायिक मामलों में सर्वोच्च न्यायालय की उच्चतर स्थिति की अनुच्छेद 136 में पुष्टि की गयी है जो इसके लिए एक असाधारण क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। हालांकि, अपने संवैधानिक अधिदेश के प्रयोग में संविधान में इन दो संस्थाओं के बीच क्षेत्राधिकारों को स्पष्ट रूप से विभक्त किया गया है, लेकिन ऐसा करते समय इन संस्थाओं को एक दूसरे के प्रति आपसी सम्मान की भावना रखनी होगी जैसा कि तिरुपति बालाजी डेवलपर्स प्राइवेट एवं अन्य बनाम बिहार राज्य 2003 के प्रकरण में न्यायमूर्ति लाहोटी ने अवलोकन किया था।

4. लोक अदालतों की सीमित सफलता के लिए उत्तरदायी कारणों का विवरण दीजिए। लोक अदालतें प्रभावी विवाद निवारण तंत्र के रूप में कार्य करें, इसे सुनिश्चित करने के लिए क्या उपाय किये जाने आवश्यक हैं?

दृष्टिकोण:

- लोक अदालतों की सीमित सफलता हेतु जिम्मेदार कारक।
- लोक अदालतों की कार्य पद्धति का सुधार करने के लिए किए गए उपाय।

उत्तर:

लोक अदालत एक वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र है। यह ऐसा फोरम है जहाँ अदालत में लंबित या वादपूर्व अवस्था में, विवादों/मामलों को सौहार्दपूर्ण ढंग से निपटाया जाता है या उनके संबंध में समझौता कराया जाता है। विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 के अंतर्गत लोक अदालतों को वैधानिक स्थिति प्रदान की गयी है। लंबित मामलों की संख्या, निरक्षरता, निर्धनता, न्यायालयों में भारी संख्या में रिक्तियों इत्यादि कई कारकों से, भारत में लोक अदालतें अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्यों का निवर्हन करती हैं।

लोक अदालतों की विभिन्न सीमाएँ इस प्रकार हैं:

- **लोक अदालतें जटिल मामलों हेतु उपयुक्त नहीं हैं:** लोक अदालतों की सबसे बड़ी कमी यह है कि ये एक ही न्यायाधीश के सामने छोटे-छोटे समयांतराल पर बार-बार बैठकें होने पर एक ही न्यायाधीश की उपस्थिति लगभग संभव नहीं हो पाती है, फलस्वरूप विचार-विमर्श की निरंतरता टूट जाती है।
- **गोपनीयता का अभाव:** लोक अदालतों की कार्यवाही खुली अदालत में आयोजित होती हैं और जनता का कोई भी सदस्य इन्हें देख सकता है। इस प्रकार इनमें गोपनीयता के तत्व का भी अभाव है।

इससे समाधान के विभिन्न विकल्पों के समन्वेषण की प्रक्रिया भी बाधित होती है और अंततः ऐसे मामले की सफलता की दर प्रभावित होती है, जिनमें पक्षों द्वारा गोपनपीयता की अपेक्षा की जाती है।

- **न्यायालय की कार्यवाही का वातावरण:** लोक अदालतें ऐसी जनसभा हैं जहाँ मैत्रीपूर्ण और प्रेरक प्रयासों के माध्यम से पक्षों के बीच विवादों का निपटान करवाने हेतु स्वैच्छिक प्रयास किए जाते हैं। तथापि, ये केवल नियमित न्यायालयों में ही आयोजित की जाती हैं। इसलिए लोक अदालतों के साथ कुछ मात्रा में औपचारिकता अभी भी सम्बद्ध रहती है।
- **पक्ष की स्वायत्तता में कमी:** मध्यस्थता में मामले में उत्पन्न स्थिति के विपरीत, लोक अदालतों के मामले में यह नहीं कहा जा सकता कि पक्ष इसकी कार्यवाही के नितांत नियंत्रण में रहते हैं।
- **दोनों पक्षों की सहमति की आवश्यकता होती है:** लोक अदालत में मामलों का निर्णय करते सबसे महत्वपूर्ण विचारणीय कारक दोनों पक्षों की सहमति की आवश्यकता है। किसी भी पक्ष को लोक अदालत के माध्यम से मामले का निर्णय किए जाने हेतु विवश नहीं किया जा सकता।

इस परिस्थिति में, लोक अदालतों के अधिकाधिक आयोजन करने, अधिकाधिक भागीदारी सुनिश्चित करने, औपचारिकता में कमी करने, अधिक समय एवं व्यक्तिगत ध्यान देकर लोक अदालतों के माध्यम से गुणवत्तापूर्ण न्याय सुनिश्चित करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

लोक अदालतों की कार्यपद्धति में सुधार करने के उपाय

- लंबित मामलों एवं साथ ही मामलों का वादपूर्व अवस्था में ,निपटान करने के लिए देश के सभी जिलों में स्थायी और सतत कार्यशील लोक अदालतों की स्थापना।
- सरकारी विभागों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों आदि हेतु लंबित मामलों के निपटान के लिए पृथक रूप से स्थायी और सतत कार्यशील लोक अदालतों की स्थापना।
- विधिक साक्षरता और विधिक जागरूकता अभियान के लिए गैर सरकारी संगठनों को कार्यों का प्रत्यायोजन करना।
- देश में सभी मजिस्ट्रेट न्यायालयों में "कानूनी सहायता वकील" (Legal Aid Counsel) की नियुक्ति करना।
- कानूनी सेवा योजना के संबंध में न्यायिक अधिकारियों को संवेदनशील बनाना।
- निर्धन एवं निरक्षर लोगों का ध्यान रखने के लिए जमीनी स्तर पर जागरूकता शिविरों का आयोजन कर विधिक साक्षरता एवं विधिक सहायता कार्यक्रमों का विस्तार करने की आवश्यकता है। साथ ही इस उद्देश्य के लिए समाचार पत्र, टेलीविजन और रेडियो जैसे जनसंचार के साधन भी वांछनीय हो सकते हैं।
- इसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए, संबंधित कानूनी सेवा प्राधिकरण या समिति को अपने द्वारा विभिन्न लोक अदालतों के आयोजन एवं तीव्र, समतापूर्ण और सस्ता न्याय उपलब्ध कराने में उनके द्वारा प्राप्त की गयी सफलता के संबंध में जनता को जानकारी का प्रसार करना चाहिए।
- अधिवक्ताओं द्वारा प्रदान की गई विधिक सहायता की गुणवत्ता में सुधार करने की आवश्यकता है। विधिक सेवा प्राधिकरण द्वारा अधिवक्ताओं को प्रस्तुत की जाने वाले पारिश्रमिक की समीक्षा की जानी चाहिए और इस प्रकार जरूरतमंद व्यक्तियों को प्रभावी विधिक सहायता प्रदान करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

लोक अदालत आंदोलन केवल तभी सफल हो सकता है जब लोग लोक अदालत की कार्यवाहियों में स्वैच्छिक रूप से भागीदारी करें। यह उपलब्धि स्वयं को छोटे-मोटे मामलों के न्यायनिर्णयन के लिए पारंपरिक न्यायालयों में जाने से निरोधित रखने से प्राप्त की जा सकती है।

5. **अखिल भारतीय न्यायिक सेवा (AIJS) के माध्यम से केंद्रीयकृत भर्ती न्यायपालिका में विद्यमान विभिन्न समस्याओं का समाधान नहीं करेगा अपितु उसके स्थान पर नई समस्याएं उत्पन्न करेगा। आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।**

दृष्टिकोण:

- न्यायपालिका के समक्ष आने वाली समस्याओं की संक्षेप में चर्चा कीजिए।
- चर्चा कीजिए कि सरकार के अखिल भारतीय न्यायिक सेवा (AIJS) का प्रस्ताव न्यायपालिका में विद्यमान विभिन्न समस्याओं का समाधान करेगा या उसके स्थान पर नई समस्याएं उत्पन्न करेगा।
- आगे की राह पर सुझाव दीजिए।

उत्तर:

भारतीय न्यायपालिका द्वारा अनेक समस्यायों का सामना किया जा रहा है। इनके परिणामस्वरूप न्याय की गति, दक्षता और गुणवत्ता प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए:

- निचले न्यायालयों से उच्च न्यायालयों तक पहुँचने वाले मुक़दमों की संख्या में लगातार होने वाली वृद्धि, न्याय वितरण की निम्न गुणवत्ता को दर्शाती है।
- 2015 में विभिन्न न्यायालयों में लगभग 25-30 मिलियन मुक़दमे लम्बित थे।
- 2015 में 24 उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के लगभग 400 पद रिक्त थे। न्यायाधीश-जनसंख्या का अनुपात 10.5-11 प्रति 1 मिलियन है। यह अनुपात विश्व भर में न्यूनतम है।
- न्यायाधीशों की नियुक्तियों में भ्रष्टाचार व्याप्त है तथा पारदर्शिता का अभाव है।
- विचाराधीन मुक़दमों की अत्यधिक संख्या, सुनवाई की लम्बी अवधि, दक्षता का अभाव और अधिक समय लेने वाली प्रक्रियाओं जैसी समस्याएँ विद्यमान हैं।

इस सन्दर्भ में, अखिल भारतीय न्यायिक सेवा (AIJS) का प्रस्ताव रखा गया है। इसके माध्यम से जिला न्यायाधीशों को केन्द्रीय स्तर पर एक अखिल भारतीय परीक्षा के माध्यम से भर्ती किया जाएगा और प्रत्येक राज्य में उनकी नियुक्ति की जाएगी। AIJS के माध्यम से भर्ती करने के तर्क निम्नलिखित हैं:

- **वाइड सिलेक्शन पूल:** AIJS के माध्यम से न्यायाधीशों का राष्ट्रीय स्तर पर चयन किया जायेगा। इससे न्यायपालिका के तुलनात्मक रूप से और अधिक पेशेवर एवं न्यायसंगत बनने की उम्मीद है। इसके द्वारा निर्णयों की गुणवत्ता में सुधार संभव हो सकेगा।
- **रिक्तियों में कमी:** परीक्षाओं और भर्ती में होने वाले विलम्ब को दूर करने से रिक्तियों में कमी होने की सम्भावना है।
- **आकर्षक करियर विकल्प:** वर्तमान में अधीनस्थ न्यायपालिका राज्य स्तर पर की जाने वाली भर्तियों के लिए पूर्णतया संबंधित उच्च न्यायालयों पर निर्भर है। लेकिन विधि के विद्यार्थियों में से श्रेष्ठ विद्यार्थी राज्य न्यायिक सेवाओं में शामिल नहीं होना चाहते हैं क्योंकि ये सेवाएँ उनके लिए अधिक आकर्षक नहीं हैं। एक 'अखिल भारतीय सेवा' और इससे संबंधित विशेषाधिकार इस स्थिति को परिवर्तित कर सकते हैं।
- **समान मानदंड:** चयन के मानदंडों में एकरूपता से विभिन्न उच्च न्यायालयों में कर्मचारियों की गुणवत्ता में सुधार होगा क्योंकि इनमें से एक तिहाई न्यायाधीश अधीनस्थ न्यायालयों से पदोन्नत होकर आते हैं।

हालांकि, इस विचार की आलोचना , मुख्य समस्याओं का समाधान न करने और नए समस्याओं को उत्पन्न करने के आधारों पर की गयी है। उदाहरण के लिए:

- यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि इंडियन बार काउन्सिल द्वारा कानूनी शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं की गयी है। साथ ही देश में कानूनी शिक्षा के स्तर में सुधार के प्रयासों का अभाव है।
- यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सभी राज्यों में समान वेतनमानों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयास किये गए हैं। परन्तु निजी क्षेत्र की तुलना में ये वेतनमान अत्यंत कम हैं।
- ट्रायल कोर्ट के न्यायाधीश भी सिविल सेवकों की भांति ही स्थानान्तरण और अन्य मुद्दों से संबंधित समस्याओं का सामना करते हैं। उनके विकास व पदोन्नति के अवसर भी बहुत कम हैं।
- जिला कैडर से नियुक्त उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश पहले से ही अपने करियर के अंतिम चरण में होते हैं और उन्हें बार से प्रत्यक्ष नियुक्त किये गये न्यायाधीशों की तुलना में बहुत कम कार्यावधि उपलब्ध हो पाती है।

AIJS के कारण उत्पन्न होने वाली नयी समस्याएँ:

- केन्द्रीयकृत भर्ती होने के कारण, न्यायिक सेवाओं में कम विशेषाधिकार वाले लोगों का प्रवेश बाधित हो सकता है।
- साथ ही, स्थानीय भाषा, कानून, प्रथाओं और रीति-रिवाजों का ध्यान रखना कठिन हो सकता है, क्योंकि ये प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

8. विगत वर्षों में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा पूछे गए प्रश्न (Past Year UPSC Questions)

1. How are Chief Justices of High Courts in India appointed? (87/II/8f(B)/3)
   भारत में उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों को किस प्रकार नियुक्त किया जाता है?
2. Bring out the issues involved in the appointments and transfer of judges of the Supreme Court and High courts in India. (50 words) (98/I/7g/6)
   भारत में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियों और स्थानांतरण से जुड़े मुद्दों पर प्रकाश डालिए।
3. What is the common point between Articles 14 and 226 of the Indian Constitution? (08/I/9d/2)
   भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 और 226 के बीच क्या समानता है?
4. Is the High Courts' power to issue 'writs' wider than that of the Supreme Court of India? (150 words) (06/I/8c/15)
   क्या 'रिट' जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति भारत के उच्चतम न्यायालय की शक्ति से अधिक विस्तृत है?
5. Write short notes, notes not exceeding 150 words on Role of the Judiciary in India. (79/II/4c/20)
   भारत में न्यायपालिका की भूमिका पर अधिकतम 150 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
6. Discuss the importance of the independence of judiciary in a democracy. (150 words) (84/II/4a/20)
   एक लोकतंत्र में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के महत्व की विवेचना कीजिए।

7. Present your views for and against the creation of an All India Judicial Service. (150 words) (97/II/4a/20)
   अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के सृजन के पक्ष और विपक्ष में अपना विचार प्रस्तुत कीजिए।
8. What constitutes the doctrine of 'basic features' as introduced into the Constitution of India by the Judiciary? (in about 150 words) (00/I/7b/30)
   न्यायपालिका द्वारा दिए गये भारतीय संविधान के 'आधारभूत अभिलक्षण' के सिद्धांत के अंतर्गत क्या-क्या आता है ?
9. Write notes on the Lokpal bill. (150 words) (07/I/12c/10)
   लोकपाल विधेयक पर टिप्पणी कीजिए।
10. Do you think there is a need for a review of the Indian Constitution? Justify your view. (250 words) (08/I/8b/30)
    क्या आप सोचते हैं कि भारत के संविधान के पुनर्विलोकन की आवश्यकता है? अपने विचार के समर्थन में तर्क पेश कीजिए।
11. What are the major changes brought in the Arbitration and Conciliation Act, 1966 through the recent ordinance promulgated by the President? How far will it improve India's dispute resolution mechanism? Discuss.(2015)
    राष्ट्रपति द्वारा हाल में प्रख्यापित अध्यादेश के द्वारा माध्यस्थता और सुलह अधिनियम, 1996 में क्या प्रमुख परिवर्तन किए गए है? यह भरत के विवाद समाधान यांत्रिकत्व को किस सीमा तक सुधारेगा? चर्चा कीजिए।